

॥ नामूलं लिख्यते किञ्चित् ॥

इतिहास दर्पण ITIHAS DARPAN

अंक 18 (1) (वर्ष प्रतिपदा)

Volume XVIII (1) (Varṣa Pratipadā)

विक्रम संवत् 2070, कलियुगाब्द 5115, ईसवी सन् 2013
Vikrama Saṁvat 2070, Kali Yugābda 5115, i.e. 2013 CE

Editor :

T.P. Verma

Sub-Editor:

Gunjan Aggrawala



अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना

बाबा साहब आपटे स्मृति भवन, 'केशव-कुञ्ज', झण्डेवालान, नयी दिल्ली-110 055

AKHILA BHĀRATĪYA ITIHĀSA SĀMKALANA YOJANĀ

Baba Sahab Apte Smriti Bhawan, 'Keshav Kunj', Jhandewalan, New Dehi-110 055

ITIHAS DARPAN

Volume XVIII (1) (Varṣa Pratipadā)

Vikrama Saṁvat 2070, Kali Yugābda 5115, i.e. 2013 CE

Published by:

Akhila Bhāratiya Itihāsa Saṁkalana Yojanā

Baba Sahab Apte Smṛiti Bhawan, 'Keshav Kunj',
Jhandewalan, New Dehi-110 055

Ph.: 011-23675667

e-mail: abisy84@gmail.com

© Copyright : Publisher

Subscription:

Institutions : ₹ 3,000.00 (Fifteen Years)

Individual : ₹ 2,000.00 (Fifteen years)

Subscription be sent by D.D. or cheque in favour of '**Itihas Darpan**', to

Sri Balmukund Pandey
Akhil Bharatiya Itihas Sankalan Yojana,
Baba Sahab Apte Smṛiti Bhavan, 'Keshav Kunj',
Deshbandhu Gupta Marg, Jhandewalan, New Delhi -110 055

Please add ₹ 30.00 for collection charges incase of out station cheque.

This Journal is a referral volume.

Typescripts whether in the form of articles or notes or book reviews, offered for publication, should be sent to the editor at

Prof. Thakur Prasad Verma

397-A, Ganga Pradushan Niyantṛan Marg, Bhagwanpur, Varanasi-221 005

We prefer CD/DVD of the article with details, including illustrations, preferably in MS Word or e-mails (tpverma2003@yahoo.co.in, abisy84@gmail.com) with illustrations and tables etc.

The editors are not responsible for the opinions expressed by the contributors.



विश्ववन्द्य स्वामी विवेकानन्द की सार्द्ध-शती (150वीं जयन्ती) पर अखिल भारतीय
इतिहास संकलन योजना-परिवार की पुष्पाञ्जलि :



स्वामी विवेकानन्द को आदराञ्जलि*

परमपूज्य श्री माधवराव सदाशिवराव गोळवळकर (श्री गुरुजी)
(द्वितीय सरसंघचालक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ)

हे ज्ञान-ज्योति !

भारत के रोग का सुस्पष्ट निदानकर अभ्युदय का मार्ग बतानेवाले हिंदू-समाज के वैभव-प्रासाद की नींव, धर्म, संस्कृति, उसका एकात्मबोधक तत्त्वज्ञान ही हो सकता है, केवल आर्थिक या राजनैतिक सूत्रबन्धन नहीं— इस सत्य की घोषणा करनेवाले, तमोगुण व्याप्त अतएव अकर्मण्य एवं प्रमत्त हिंदू-समाज को सन्मार्ग प्रदर्शनकर तेजस्वी कर्मयोग का सन्देश सुनानेवाले, उच्चनीचतादि भेदभावों में विध्वंसक, व्यक्तिमात्र में नारायण का दर्शनकर उसकी सेवा करने का आदेश प्रदान करनेवाली महाविभूति !

भारत की पराधीन अवस्था में भी संसारभर उसके तत्त्वज्ञान का जय-जयकार करवानेवाले जगद्गुरु !

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परकीयों का अंध अनुकरणकर अपनी बुद्धि का खोखलापन, हीनता, दासता प्रकटकर भारत को अभारतीय जड़वाद की ओर ले जानेवाले मूढ़ हिंदुओं के तथाकथित नेताओं के नेत्रों में



स्वाभिमान का प्रखर अञ्जन डालकर उन्हें जगानेवाले—

भारत ही संसार का परमगुरु है— इस सत्य को सिद्ध करनेवाले हे विश्ववन्द्य महात्मन् !

आज फिर से परानुकरण एवं अधार्मिकता के पथ पर चलनेवाले, मानव से पशुत्व प्राप्त करनेवाले चारों ओर फैल रहे हैं। आज आपका पुण्य स्मरणकर आपसे हम धर्म और सन्मार्ग का पथ-प्रदर्शन चाहते हैं।

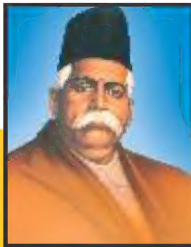
आपके आशीर्वाद से आज के अज्ञानशून्य अवगुणों को नष्टकर, भेदरहित सूत्रबद्ध हिंदू-समाज प्रबल एवं स्वाभिमानपूर्ण होकर अपने महान् सांस्कृतिक गुणों का पुनरुज्जीवनकर प्रत्येक व्यक्ति को सुखपूर्ण जीवन प्राप्त करा देता हुआ संसार के सम्मुख स्पर्धाशून्य शान्तिमय समाजजीवन का आदर्श खड़ा कर सकेगा।

इस उद्दिष्ट को पाने के लिए हम आपके उपासक यही वरदान माँगते हैं कि हमारा सम्पूर्ण जीवन इस महान् उत्थान-कार्य में व्यतीत हो, मार्ग में आनेवाले कष्ट भी सुखदायी हो सकें— ऐसी हममें लगन हो और जिस भारतमाता का आपने जग में सन्मान बढ़ाया, उसकी सेवा में हमलोगों का जीवन समर्पित हो।

प्रभु! आपके स्मृतिदिवस के अवसर पर ये कुछ शब्दपुष्प रूखे-सूखे जैसे ही हों, अर्पण कर रहा हूँ। यह अल्प पूजा स्वीकृत हो।



राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कीर्ति-स्तम्भ



परम पूज्य डॉ॰ केशवराव बलिराम हेडगेवार
आविर्भाव : 01 अप्रैल, 1889; निर्वाण : 21 जून, 1940
(आद्य सरसंघचालक, 1925-1940)



परम पूज्य श्री साधवराव सदाशिवराव गोळवळकर (श्री गुरुजी)
आविर्भाव : 19 फरवरी, 1906; निर्वाण : 05 जून, 1973
(द्वितीय सरसंघचालक, 1940-1973)

ITIHAS DARPAN

Volume XVIII (1) (Varṣa Pratipadā)

Vikrama Saṁvat 2070, Kali Yugābda 5115, i.e. 2013 CE

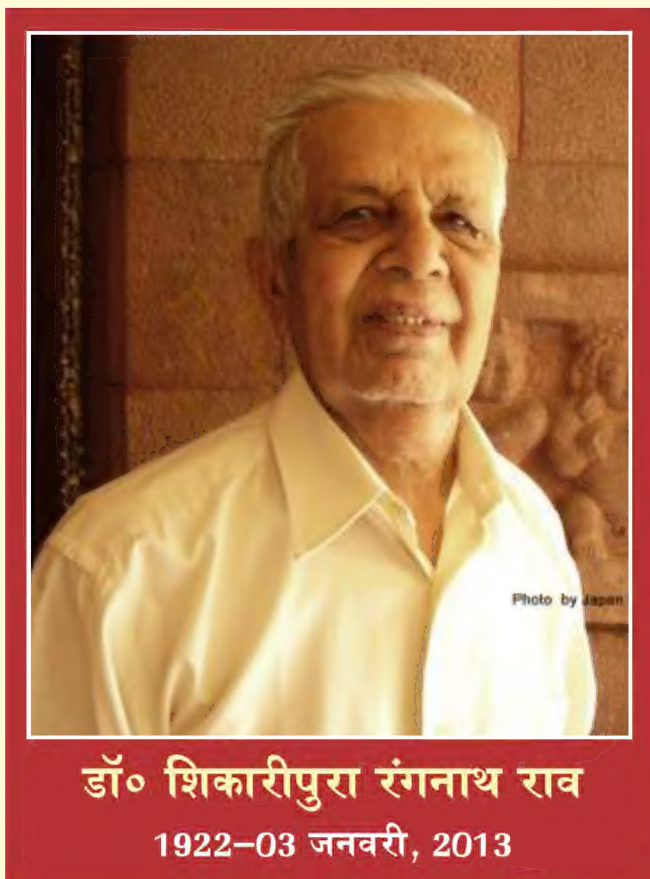
CONTENTS

●	स्वामी विवेकानन्द को आदराञ्जलि श्री माधवराव सदाशिवराव गोळवळकर (श्री गुरुजी)	3
●	श्रद्धा-सुमन : डॉ० शिकारीपुरा रंगनाथ राव (डॉ० एस० आर० राव) श्री बालमुकुन्द पाण्डेय	7
1.	निगमागम-विमर्श डॉ० धीरेन्द्र झा	9
2.	Vedic roots of Hinduism and Hellenism Prof. D.N. Tripathi	12
3.	Writing in the Vedic age, Harappan and Aśokan writing Prof. T.P. Verma	40
4.	Śramaṇism as Dissent and Protest against Brāhmanical Orthodoxy Prof. S.R. Goyal	60
5.	Megalithic Culture: A prelude to the subsequent economic growth in peninsular India and the Deccan Dr. G.K. Lama	67
6.	कुशद्वीप एवं मित्र का वैदिक अतीत प्रो० राजीव रंजन उपाध्याय	77
7.	श्रीमद्भगवद्गीता एवं उसका प्रथम अध्याय (साहित्यिक रचना-प्रारूप : एक समालोचना) प्रो० दीनबन्धु पाण्डेय	90
8.	जैन-आगम 'नायाधम्मकहाओ' में पौराणिक एवं ऐतिहासिक सन्दर्भ श्री छगनलाल बोहरा	96
9.	'महावस्तुअवदान' में बोधिसत्त्व का जीवन-दर्शन और महायानी-बौद्धों के विशिष्ट दार्शनिक-सिद्धान्त डॉ० कृष्णकान्त त्रिवेदी	100
10.	प्राचीन भारत में स्त्रीधन-विमर्श और उसके प्रभेद सुश्री बबीता कुमारी	106
11.	समुद्रगुप्त के इलाहाबाद-स्तम्भलेख में वर्णित नागदत्त की पहचान डॉ० ओमप्रकाश लाल श्रीवास्तव	112
12.	Gwalior Jaina Inscriptions of the time of Kirtisinha, VS 1525 Dr. Arvind Kumar Singh	116
13.	Composite Images of Sūrya in Oḍiśa Art Rusav Kumar Sahu	127
14.	आदिवासी बस्तर का घड़वा-शिल्प : धार्मिक कृतियों के विशेष सन्दर्भ में श्री शिवशंकर	134
15.	Controbution of Dogra Rulers for the development of Jammu & Kashmir state Dr. Jawahir Abass Bhat	149
16.	बिहार किसान-आन्दोलन का एक अध्याय और राहुल जी डॉ० बी०के० श्रीवास्तव	155
●	Book Review	
1.	Geography, People and Geodynamics of India in Purāṇas and Epics : A Geologist's by Dr. K.S. Valdiya : Prof. T.P. Verma	159
2.	डॉ० सतीश चन्द्र मित्तल-कृत 'स्वामी विवेकानन्द की इतिहास-दृष्टि' : डॉ० रत्नेश कुमार त्रिपाठी	172
●	अधिवेशन-समाचार	175

Contributors of this Volume

1. **डॉ० धीरेन्द्र झा**
क्षेत्रीय संस्कृत-विभाग प्रमुख, भारती शिक्षा समिति, 'प्रेमकुञ्ज', विंध्यवासिनी पथ, कदमकुआँ, पटना-800 003 (बिहार)
2. **Prof. D.N. Tripathi**
'Leela Nilayam', 99-A, Indira Nagar, Gorakhpur-2730 09, U.P.
3. **Prof. Thakur Prasad Verma**
Professor (Retd.), Deptt. of A.I.H.C. & Archaeology, Banaras Hindu University; Residence : 397-A, Ganga Pradushan Niyanttran Marg, Bhagwanpur, Varanasi-221 005
4. **Prof. S.R. Goyal**
Professor and Head (Retd.), Department of History, Jai Narain Vyas University, Jodhpur (Rajasthan); Residence : 41-A, Sardar Club Scheme Jodhpur-342 001 (Rajasthan)
5. **Dr. G.K. Lama**
Asst. Professor, Deptt. of A.I.H.C. & Archaeology, Banaras Hindu University
6. **प्रो० राजीव रंजन उपाध्याय**
पूर्व प्रोफेसर, कैंसर-शोध, तबरीज विश्वविद्यालय, तबरीज, ईरान; संपादक, 'विज्ञान-कथा', आवास : 'विज्ञान', परिसर कोठी काके बाबू, देवकाली मार्ग, फैजाबाद-224 001 (उ०प्र०)
7. **प्रो० दीनबन्धु पाण्डेय**
पूर्व विभागाध्यक्ष, कला, इतिहास एवं पर्यटन-प्रबन्ध, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी; द्वारा, प्रो० अम्बरीश पाण्डेय, मकान सं० डी-27, गुरु जम्भेश्वर यूनिवर्सिटी ऑफ सायंस एण्ड टेक्नोलॉजी, हिसार-125 001 (हरियाणा)
8. **श्री छगनलाल बोहरा**
'बोहरा-निकेत', बोहरा गणेश मार्ग, उदयपुर-313 001 (राजस्थान)
9. **डॉ० कृष्णकान्त त्रिवेदी**
सेवानिवृत्त प्राध्यापक, प्राचीन भारतीय इतिहास-विभाग, मिथिला रिसर्च इंस्टीट्यूट, दरभंगा; निवास : कबडाघाट, पो० : लालबाग-846 004 (बिहार)
10. **सुश्री बबीता कुमारी**
शोध-छात्रा, इतिहास-विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा (बिहार)
11. **डॉ० ओमप्रकाशलाल श्रीवास्तव**
पूर्व रजिस्ट्रीकरण-अधिकारी, पुरावशेष एवं बहुमूल्य कलाकृति, 12-बी, पी०सी० बनर्जी मार्ग, एलनगंज, इलाहाबाद (उ०प्र०)
12. **Prof. Arvind Kumar Singh**
Professor & Head, Department of A.I.H.C. and Archaeology, Jiwaji University, Gwalior-474 011 (M.P.)
13. **Sri Rusuv Kumar Sahu**
UGC-J.R.F., P.G. Deptt. of A.I.H.C. & Archaeology, Utkal University, Bhubaneswar-751 004
14. **श्री शिवशंकर**
यू०जी०सी० नेट, शोध-छात्र (निर्देशिका : डॉ० ज्योति रूहेला), कला-इतिहास-विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221 005 (उ०प्र०)
15. **Dr. Jawahir Abass Bhat**
Shalipora (Katrasoo), Tehsil & District Kulgam-192 232 (Jammu & Kashmir)
16. **डॉ० बी०के० श्रीवास्तव**
सहायक-प्राध्यापक, इतिहास-विभाग, डॉ० हरिसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर (म०प्र०)
17. **डॉ० रत्नेश कुमार त्रिपाठी**
शोध-सहायक, भारतीय-पुराण-अध्ययन-संस्थान, अखिल भारतीय इतिहास-संकलन योजना, बाबा साहब आपटे-स्मृति भवन, 'केशव-कुञ्ज', झण्डेवालान, नयी दिल्ली-110 055

डॉ० शिकारीपुरा रंगनाथ राव (एस०आर० राव)



विश्वप्रसिद्ध भारतीय-पुरातत्त्ववेत्ता, भारत में सामुद्रिक पुरातत्त्व के प्रणेता, भारत के प्रथम सिंधुघाटी बन्दरगाह-नगर 'लोथल' सहित अनेक हड़प्पा-स्थलों के उत्खनन-कार्य के नेतृत्वकर्ता एवं द्वारका नगरी के खोजकर्ता डॉ० शिकारीपुरा रंगनाथ राव (एस०आर० राव) का 91 वर्ष की आयु में पौष कृष्ण षष्ठी, बृहस्पतिवार, कलियुगाब्द 5114, तदनुसार दिनांक 03 जनवरी, 2013 को बंगलूरु-स्थित उनके निवास पर निधन हो गया। उनके निधन से समूचे पुरातत्त्व-जगत् में एक अपूर्णनीय क्षति हुई है।

श्री राव का जन्म सन् 1922 में हुआ था। उन्होंने मैसूर विश्वविद्यालय से पढ़ाई पूरी करने के बाद बड़ौदा राज्य के पुरातत्त्व-विभाग में कार्य किया। सन् 1948 में उन्होंने भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण में कार्य प्रारम्भ किया, जहाँ वह विभिन्न क्षमताओं में कार्य करते हुए सन् 1980 में

सेवानिवृत्त हुए। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण में कार्य करने के दौरान उन्होंने पश्चिमी एवं दक्षिण भारत के कई महत्वपूर्ण पुरातात्विक स्थलों की खोज की जिनमें रंगपुर, अम्रेली, भगतरे, हनूर, एहोल, कावेरीपट्टनम् एवं सिंधुघाटी-युग के गुजरात के प्रसिद्ध बन्दरगाह-नगर लोथल सम्मिलित हैं। इन खोजों ने न केवल सिंधु-घाटी की सभ्यता पर प्रकाश डाला, वरन् इस सभ्यता की अस्तित्व-विद्यमानता तथा मानव के विकास में इसके योगदान-संबंधी कई भ्रान्तियों को भी समाप्त किया। श्री राव ताजमहल एवं किलों के रूप में स्मारकों के संरक्षण से भी सम्बद्ध रहे थे। सन् 1980 में भा०पु० सर्वेक्षण से सेवानिवृत्त होने के बावजूद उनसे सर्वेक्षण के महानिदेशक के रूप में कार्य करने का अनुरोध किया गया था। डॉ० राव की पहल पर राष्ट्रीय समुद्र-विज्ञान संस्थान (गोवा) ने सन् 1981 में सामुद्रिक पुरातत्त्व पर शोध-केन्द्र खोला। इस प्रकार डॉ० राव भारत में सामुद्रिक पुरातत्त्व सोसायटी के संस्थापक थे।

डॉ० राव ने एक दर्जन से अधिक पुस्तकें और 70 से अधिक शोध-प्रबन्ध लिखे। उन्होंने यूरोप, अमेरिका एवं रूस की यात्राएँ कीं और वहाँ के विश्वविद्यालयों में व्याख्यान दिये। वह केलाड़ी संग्रहालय के अध्यक्ष और 'केलाड़ी संग्रहालय के भोजपत्र-अभिलेखों की विवरण-सूची' के संपादक भी थे। उन्होंने 'ज़र्नल ऑफ़ मेरीन आर्कियोलॉजी' का भी संपादन किया। जीवन के अन्तिम समय तक वह द्वारका, पौपुहार और गोवा की पुरातात्विक खोजों-संबंधी मार्गदर्शन में अत्यन्त सक्रिय रहे। डॉ० राव अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना से भी सम्बद्ध रहे और उसकी राष्ट्रीय कार्यकारी समिति के आमन्त्रित सदस्य थे। योजना ने सन् 2007 में उन्हें संस्थान का प्रतिष्ठित 'डॉ० विष्णु श्रीधर वाकणकर पुरस्कार' देकर सम्मानित किया था। श्री राव के निधनोपरान्त भारतीय इतिहास संकलन समिति (काशी-प्रान्त) द्वारा योजना के उपाध्यक्ष डॉ० देवी प्रसाद सिंह एवं डॉ० ठाकुर प्रसाद वर्मा के नेतृत्व में उनके अस्थि-कलश को काशी लाकर वैदिक मन्त्रोच्चार के बीच गंगाजी में प्रवाहित किया गया और उन्हें श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गयी। इसका समाचार काशी के समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुआ था।

सिंधु-लिपि का अध्ययन :

सर्वतोमुखी शोधकर्ता डॉ० राव ने वैज्ञानिक-दृष्टिकोण के साथ रहस्यमय सिंधु-लिपि को समझने का प्रयास किया और तत्संबंधी अपना अन्वेषण प्रकाशित किया। सिंधु-लिपि के संबंध में उनका मत है कि आरम्भिक हड़प्पा-संस्कृति (2500-1900 ई०पू०) की सिंधु-लिपि में 390 चिह्न थे,

जिनमें लगभग 40 मौलिक चिह्न थे। किन्तु परवर्ती हड़प्पा-संस्कृति (1900-1600 ई०पू०) की सिंधु-लिपि में सिर्फ 20 मौलिक चिह्न रह गए थे। इसका अर्थ यह हुआ कि परवर्ती सिंधु-लिपि वर्णमालात्मक बन चुकी थी। यह कैसे हुआ? डॉ० राव का मानना था कि यह पश्चिम एशिया की सेमेटिक-लिपि के प्रभाव से हुआ। उन्होंने कनानी और फिनीशियन-जैसी उत्तरी सेमेटिक-लिपियों के संकेतों में और परवर्ती सिंधु-लिपि के संकेतों में साम्य भी खोजा। इतना ही नहीं, उन्होंने सेमेटिक व्यञ्जनामाला के ध्वनिमानों की सहायता से ही परवर्ती सिंधु-लिपि के 20 चिह्नों की वर्णमाला को पढ़ने का प्रयत्न किया। डॉ० राव का कहना था कि परवर्ती सिंधु-लिपि की वर्णमाला में 14 या 15 व्यञ्जनाक्षर हैं और 5 स्वराक्षर। हम जानते हैं कि सेमेटिक-लिपियों में स्वराक्षर नहीं थे। लेकिन यूनानियों ने उत्तरी सेमेटिक-लिपि के आधार पर अपनी भाषा के लिए जब नयी लिपि बनाई, तो उसमें उन्होंने स्वरो के लिए चिह्न बना लिए थे। डॉ० राव का अध्ययन यदि सही है, तो हमें कहना पड़ेगा कि परवर्ती हड़प्पा-संस्कृति के लोगों ने भी ऐसा ही किया था। इस सिंधु-वर्णमाला की लिपि क्या थी? अपने अध्ययन से डॉ० राव इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सिंधु-लोगों की भाषा भारोपीय-परिवार की तथा भारत-ईरानी वर्ग की थी। साथ ही उन्होंने यह भी जानकारी दी कि जो 360 शब्द उन्होंने खोजे, उनमें 30 शब्द भारोपीय-भाषा के नहीं हैं। इससे डॉ० राव इस परिणाम पर पहुँचे कि सिंधु-लिपि की भाषा वेद की प्राचीन संस्कृत-भाषा से पर्याप्त साम्य रखती है। डॉ० राव ने कुछ मुहरों पर 'राजा' के लिए 'पाल', 'पालक', 'त्र' आदि शब्दों की भी खोज की। उन्होंने सिंधु-वर्णमाला का सेमेटिक-लिपियों के साथ साम्य दर्शाने के लिए जो तालिका दी है, उसमें उन्होंने ब्राह्मी-लिपि के कुछ अक्षर दिए हैं। अतः लगता है कि ब्राह्मी-वर्णमाला परवर्ती सिंधु-वर्णमाला से बनी थी। पर डॉ० राव ने यह भी स्वीकार किया कि सिंधु-लिपि दायीं ओर से बायीं ओर लिखी जाती थी।

द्वारका नगरी की खोज :

प्राचीन काल में भारत के तटों पर अनेक समृद्ध बन्दरगाह एवं नगर स्थित थे। इनमें महाभारत-काल की नगरी द्वारका भी थी। इसके समुद्र में विलुप्त हो जाने के बाद उनके अवशेषों को सर्वप्रथम भारतीय-वायुसेना के पायलटों ने समुद्र के ऊपर से उड़ान भरते हुए देखा था और उसके बाद 1970 में जामनगर के गजेटियर में इसका उल्लेख किया गया था। सन् 1979-80 में डॉ० राव एवं उनके दल ने 560 मीटर लम्बी द्वारका की दीवार की खोज की और विभिन्न चीजों का पता लगाया। वहाँ उन्हें 250 किलोग्राम का एक लंगर, एक मुद्रा और उस समय के बरतन भी मिले। सागर-तट पर की गई खुदाई के दौरान बन्दरगाह के जो अवशेष मिले, उनसे यह भली-भाँति प्रमाणित हुआ कि द्वारका-बन्दरगाह की बनावट महाभारत में किए गए वर्णन के अनुसार ही थी।

पुरस्कार एवं सम्मान :

1. 'जवाहरलाल नेहरू फेलोशिप' (सिंधु-लिपि की व्याख्या के लिए)

(एफ०आई०आई० का राष्ट्रीय पुरस्कार, 1991),

2. 'डी० लिट०' (मैसूर विश्वविद्यालय),
3. 'शताब्दी स्वर्ण-पदक' (कर्नाटक-सरकार के पुरातत्त्व-विभाग, मैसूर द्वारा),
4. 'डॉ० विष्णु श्रीधर वाकणकर पुरस्कार' (बाबा साहब आपटे स्मारक समिति द्वारा, 2007),
5. 'वर्ल्डशिप ट्रस्ट अवार्ड' (सामुद्रिक पुरातत्त्व में अद्वितीय योगदान के लिए),
6. 'कर्नाटक राज्योत्सव अवार्ड' (पुरातात्विक खोजों के लिए, कर्नाटक-सरकार द्वारा),
7. 'गुप्ता फाउण्डेशन अवार्ड' (द्वारका की खोज के लिए) इत्यादि

प्रमुख पुस्तकें :

1. 'डिस्कवरी ऑफ लोथल' (1961),
2. 'एक्सकेवेशन एट अमरेली (ए शत्रुप-गुप्त टाउन)' (वॉल्यूम 18 ऑफ बुलेटिन (बड़ौदा स्टेट म्यूजियम एण्ड पब्लिक गैलरी) (1966),
3. 'इण्डस स्क्रिप्ट डिसेम्फेरेंड' (1971),
4. 'लोथल एण्ड द इण्डस सिविलाइजेशन' (बम्बई, 1973),
5. 'ट्रेडीशनल पेन्टिंग्स ऑफ कर्नाटक' (1980),
6. 'द डिसेम्फेरमेंट ऑफ द इण्डस स्क्रिप्ट' (1982),
7. 'लोथल : ए हड़प्पन पोर्ट टाउन' (2 वॉल्यूम्स), (वॉल्यूम 78 ऑफ मेमॉयर्स ऑफ द आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया) (दिल्ली, 1985),
8. 'डॉन एण्ड डेवोल्यूशन ऑफ द इण्डस सिविलाइजेशन' (दिल्ली, 1991),
9. 'न्यू फ्रन्टियर्स ऑफ आर्कियोलॉजी' (हेरास मेमोरियल लेक्चर्स) (बम्बई, 1994),
10. 'द लॉस्ट सिटी ऑफ द्वारका' (दिल्ली, 1999),
11. 'मेरिन आर्कियोलॉजी इन इण्डिया' (दिल्ली, 2001),
12. 'अल्फाबेट गैलरी : अक्षरम् (लिपिविधिका) कैटलॉग' (2004),
13. 'एक्सकेवेशन ऑफ रंगपुर एण्ड अदर एक्सप्लोरेशन इन गुजरात' इत्यादि

इसके अतिरिक्त अनेक ग्रन्थों का संपादन

अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना-परिवार डॉ० एस०आर० राव को अपनी विनम्र श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता है।

—बालमुकुन्द पाण्डेय

(राष्ट्रीय संगठन-सचिव,

अ०भा० इतिहास-संकलन योजना)

निगमागम-विमर्श

डॉ० धीरेन्द्र झा *



चीन भारतवर्ष के ज्ञान-विज्ञान व संस्कृति के जाज्वल्यमान स्तम्भ सर्वज्ञानमय वेद हैं। वेदों में भूत, भव्य व भविष्य के समस्त ज्ञान-विज्ञान व विद्याओं का समग्रतापूर्ण विवरण देखने को मिलता है।

प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान का चरम उत्कर्ष योगाधारित व मन्त्रों के द्वारा परिनिष्ठित रूप में देखने को मिलता है। वेदों के बाद के काल में भारतीय-विद्याओं का विकास दो रूपों में हुआ— निगम और आगम।

निगम-विद्याएँ :

जिन प्रसिद्ध चौदह या अठारह प्राचीन विद्याओं की गणना की जाती है, वे निगम विद्याओं के भेद हैं। इसके अंतर्गत चार वेद, चार उपवेद, छह वेदांग तथा दर्शन, इतिहास, पुराण व यज्ञ— ये चार उत्तरांग आते हैं। अन्यत्र चौदह विद्याओं के पश्चात् आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति— इन चार विभागों को जोड़ देने से भी यह यह संख्या अठारह हो जाती है। संक्षेप में इनका परिचय इस प्रकार है :

1. वेद— उपर्युक्त निगम-विद्याओं में प्रथमतः चार वेद मूर्धन्य स्थान रखते हैं। चार विद्याओं में त्रयी पद से जिन तीन वेदों व उसके अंगभूत अथर्ववेदयुक्त चौथे वेद को सभी ने विद्याओं की गणना में सबसे प्रधान माना है।

2. वार्ता— वार्ता शब्द का अर्थ वृत्ति का उपाय है, अर्थात् जिसमें भिन्न-भिन्न वर्णों की वृत्ति के उपाय बताए गए हों, वही वार्ताविद्या थी। यह आज की (Job oriented course) वृत्तिमूलक शिक्षा थी।

* क्षेत्रीय संस्कृत-विभाग प्रमुख, भारती शिक्षा समिति, 'प्रेमकुञ्ज',
विन्ध्यवासिनी पथ, कदमकुआँ, पटना-800 003 (बिहार), चलभाष :
09939467860

3. आन्वीक्षिकी या तर्कविद्या— आन्वीक्षिकी तर्कविद्या को कहते हैं। इसकी परिभाषा न्यायभाष्य में दी गई है—

‘प्रत्यक्षागमाभ्यां ईक्षितस्य अनुईक्षणं आन्वीक्षा तया प्रवर्तते इति आन्वीक्षिकी ।’

इस परिभाषा के आलोक में आज के समस्त आविष्कार आ जाते हैं, क्योंकि प्रायः आविष्कार प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमानों से निकाले गए हैं। ये सभी तर्कविद्या के अंतर्गत आ जाते हैं।

4. पुराण— व्याकरण की व्युत्पत्ति के अनुसार ‘पुराण’ शब्द का अर्थ ‘पुराभवं’ अर्थात् पुरानी घटनाएँ— होता है। ‘पुरा’— यह अव्यय पद है, जिसका अर्थ है अत्यन्त प्राचीन होना। उससे ‘भव’— इस अर्थ में ‘ट्यू’ प्रत्यय करने पर ‘पुराण’ शब्द सिद्ध होता है। अर्थात् अत्यन्त प्राचीनकाल में जो कुछ हुआ, उसे पुराण कहते हैं। पुराण कहते हैं कि संसार को प्रकृति ने बनाया है, जिसमें अपने अनुकूल परिवर्तन करने का आदेश वेद देता है। जिन अठारह विद्याओं की चर्चा की गई है, उनमें पुराण का नाम प्रथम है। यथा—

**‘पुराणं न्याय मीमांसाधर्मशास्त्राङ्ग मिश्रितः ।
वेदास्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।’**

5. न्याय— न्याय विद्या ही आन्वीक्षिकी है।

6. मीमांसा— मीमांसा वेद के वाक्यार्थ को समझने का शास्त्र है और वेद-वचनों को सरल भाषा में सब लोगों को समझाने के लिए स्वतन्त्र शास्त्र है।

7. धर्मशास्त्र— ये हमारे स्मृति-ग्रन्थ हैं, जिनमें देश, काल एवं पात्र के अनुसार समाज-व्यवस्था के नियम-कानून, आचार-विचार तथा लोक-व्यवहार का प्रतिपादन किया गया है।

8. अंगविद्याएँ— वेद के छह अंग हैं— शिक्षा, कल्प,

व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द ।

क. शिक्षा— उस विद्या का नाम है, जो वेद-मन्त्रों तथा ऋचाओं के उच्चारण की विधि सिखाती है ।

ख. कल्प— यह वेदोक्त विधियों की सबके समझने योग्य व्याख्या है ।

ग. व्याकरण— शब्द-साधन की प्रक्रिया बतलाता है ।

घ. निरुक्त— यह भाषा का विज्ञान देता है और स्थान-स्थान पर वैदिक शब्दों का निर्वचन भी करता है ।

ङ. ज्योतिष— यह ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति व ताराओं की विद्या है ।

च. छन्द— वह विद्या है जो वेद के भिन्न-भिन्न देवताओं के संकेत प्रतीक को प्रकट करता है । यह मंत्रों के प्रयोग व विनियोग को भी बताता है ।

इन अंगों और उपांगों की सहायता से ही वेद की गम्भीरता को समझा जा सकता है ।

आगम-विद्याएँ :

निगम-विद्याओं की तरह ही जो आगम-विद्याएँ हैं, उनका भी प्रायोगिक क्षेत्र अत्यन्त ही विस्तृत है । आगम-विद्याओं के मुख्य भेद हैं— कल्प, सिद्धान्त, संहिता, तन्त्र, यामल और डामर । इनमें से 'कल्प' को 'आम्नाय' भी कहा जाता है । इतिहास और उनके प्रकीर्ण विषय 'सिद्धान्त' के अंतर्गत आते हैं । वृष्टि आदि को जानने के निमित्तों का अध्ययन 'यामल' का विषय है । अनेक प्रकार के अभिचार-सिद्धियाँ और उनका निर्वर्तन 'डामर' कहलाता है । मणि मन्त्र और औषधियों की विलक्षणता का ज्ञान व प्रयोग करना 'तन्त्र' का विषय है । तन्त्र-विद्या के हजारों भेद-प्रभेद भारतवर्ष में विकसित हुए । ये समस्त आगम-विद्याएँ प्राकृतिक पदार्थों से संबद्ध हैं, अतः इन्हें 'प्राकृत विद्या' भी कहा जाता है ।

इसके अतिरिक्त इनसे सम्बद्ध अन्य विद्याएँ भी भारतवर्ष में व्यवहृत होती थीं, जिन्हें 'दिव्य विद्या' की संज्ञा दी जा सकती है । योगाभ्यास से आत्मबल के फलस्वरूप दिव्य सामर्थ्य से ये विद्याएँ प्राप्त की जाती थीं । यौगिक क्रियाओं के द्वारा मन का संयम करने से अष्टसिद्धियों की प्राप्ति होती थी । उनके नाम हैं— अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व ।

1. अणिमा— इस सिद्धि के प्राप्त हो जाने पर शरीर को संकल्पमात्र से छोटे-से-छोटा रूप दिया जा सकता है ।

2. महिमा— इस सिद्धि से व्यक्ति अपने शरीर का

विस्तार संकल्पमात्र से कर लेता है, वह बड़े-से-बड़ा रूप धारण करने में समर्थ हो जाता है ।

3. गरिमा— इस सिद्धि से व्यक्ति अपने शरीर के किसी भी अंग को अत्यन्त ही भारी बना सकता है ।

4. लघिमा— इस सिद्धि की सहायता से शरीर को इतना हलका बनाया जा सकता है कि विमानादि की सहायता के बिना भी व्यक्ति आकाश में संचरण कर सकता है ।

5. प्राप्ति— इस सिद्धि की सहायता से व्यक्ति एक जगह ही स्थित होता हुआ भी दूर की घटना का दर्शन ही नहीं, अपितु उनको प्रभावित भी कर सकता है ।

6. प्राकाम्य— इस सिद्धि की सहायता से व्यक्ति सभी पदार्थों को अपनी आवश्यकतानुसार ढाल लेता है । उसकी गति में कोई अवरोध नहीं होता है, वह अप्रतिहत सर्वत्र विचरण कर सकता है ।

7. ईशित्व— इस सिद्धि के प्राप्ति होने पर व्यक्ति अपनी अभीष्ट इच्छाओं की पूर्ति संकल्पमात्र से ही कर सकता है और अन्य किसी को भी प्रदान कर सकता है ।

8. वशित्व— इस सिद्धि के प्राप्त होने पर प्रबल-से-प्रबल पुरुष व प्राणी को अपने वश में किया जा सकता है ।

ये मन के संयम के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाली विद्याएँ हैं । इनके अतिरिक्त इन्द्रिय-संयम से आठ प्रकार की दिव्य दृष्टि की सिद्धि हो जाती है जिनसे अतीत व अनागत का ज्ञान, अत्यन्त दूरस्थ तथा अतिक्रान्त पदार्थ का दर्शन व शब्द-श्रवण, समस्त प्राणियों की वाणी व शब्दज्ञान, दूसरे व्यक्ति के मानसिक भावों का ज्ञान, औषधों के प्रभाव का ज्ञान व ताराओं के प्रभाव का ज्ञान होता है । इन अष्टसिद्धियों के अतिरिक्त मन के संयम से पहली सिद्धि है— अत्यन्त परोक्ष सत्ता अर्थात् देवताओं का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हो जाता है । इससे विद्रोहियों की शक्ति नष्ट करने की शक्ति प्राप्त होती है, जिसे 'अभिचार' भी कहते हैं । इसकी तीसरी सिद्धि के ज्ञान से व्यक्ति आत्मा का दर्शन व गमन-मार्ग भी जान जाता है । चतुर्थ सिद्धिप्राप्त व्यक्ति मृत पुरुषों की प्रतिकृति व छाया-पुरुषों का दर्शन करा सकता है । पंचम प्रकार की सिद्धि के फलस्वरूप उसे दिव्यदृष्टि मिल जाती है और वह बैठे-बैठे त्रिलोक-दर्शन कर सकता है । छठी प्रकार की सिद्धि 'मायाव्यामोहन' है, जिसके द्वारा बैठे-बैठे किसी की मृत्यु व जीवन का प्रदर्शन किया जा सकता है । सातवीं विद्या 'उपश्रुति' या 'रात्रिविद्या' कहलाती है, जिसको जाननेवाला व्यक्ति अत्यन्त गुप्त धन या रहस्यों का पता जान लेता है । आठवीं विद्या संस्काराधन

है जिसका ज्ञाता दुनिया के समस्त ज्ञान-विज्ञान को स्वतः ही जान लेता है।

प्राणों के संयम से भी आठ प्रकार की विद्याएँ प्राप्त होती हैं— 1. कायव्यूह, 2. परकायप्रवेश, 3. प्राणसंहारिणी, 4. मृतसंजीवनी, 5. स्थाणूज्जीवनी, 6. छायाग्रहणी, 7. आकृतिपरिवर्तिनी तथा 8. लिंगपरिवर्तिनी।

इसी तरह मन्त्र-बल से भी आठ प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, यथा— 1. सर्पाकर्षण, 2. अग्निस्तम्भिनि, 3. अक्षय्यकरणी, 4. निग्रहानुग्रहसामर्थ्य, 5. पुत्रजननी, 6. प्रावृषण्या, 7. आपोनप्त्रीय तथा 8. मधुविद्या।

इनके अतिरिक्त औषधियों के प्रभाव के बल पर आठ प्रकार की विद्याएँ विकसित हुईं, यथा— 1. मृतसंजीवनी 2. संजीवकरणी 3. विशल्यकरणी 4. संधानकरणी 5. डिम्बप्रसविनी 6. शल्यकरणी 7. महौषधि तथा 8. बलातिबला।

इनके अतिरिक्त यन्त्राधारित आठ प्रकार की विद्याएँ प्राचीन भारत में प्रचलित थीं, यथा— 1. दिव्यविमान विद्या, 2. पुष्पक विमान विद्या 3. सौभविमान विद्या, 4. सूतविमान विद्या, 5. हर्यश्व विमान विद्या 6. प्लव विमान विद्या 7. अमृतगवी और 8. शिलासन्तरणी विद्या।

इस प्रकार प्राचीनकाल में भारतवर्ष में गुरुकुलों में अष्टादश— **‘पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्ग मिश्रितः। वेदस्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दशः।’** विद्याओं के अतिरिक्त अंगविद्याओं का अध्ययन भी व्यवस्थित रीति से करवाया जाता था। इहलौकिक जीवन की सार्थकता हेतु मनोविज्ञान, अर्थविज्ञान व औषधिविज्ञान तथा विविध विद्याओं का प्रायोगिक ज्ञान उनके जीवन में कराया जाता था। नाना पुराण व निगमागम का अध्ययन प्राचीनकाल में अनिवार्यरूपेण होता था।



Vedic Roots of Hinduism and Hellenism

Prof. D.N. Tripathi *



induism and Hellenism are basic concepts at the root of the perennial philosophy of the civilized world and it is the 'Indian ness' and the 'Hellene ness' of the two great civilizations which were responsible for the growth of the basic tenets of the Oriental and Occidental civilizations respectively. Yet, both the religions are not properly understood because their nature and the basic forms have not been properly understood or analyzed. Since Hellenism and Hinduism represent the real spirit and values of the two different world-views of the Indo-European people living in two extremes of the geographical horizons of the Indo-European world, and that they have a long tradition and history much of which still survive in their cultures, it is pertinent to investigate the origins and development of these two great traditions in order to see why the spirit of Hellenism is lost in the country of its birth whereas the spirit of Hinduism still exists in India.

The purpose of the present paper is to analyze the circumstances for the origin and growth of both the religions in their respective geographical areas on the basis of archaeological and historical studies done in this area during the last fifty years.

Meaning of Hellenism

The term Hellenism is derived from the ancient Greek word '*Hellinsmos*' meaning 'to speak or act Greek'. Though the meaning of this term is fairly well established by common usage, it is in itself ambiguous. It normally denotes the ancient Greek culture in all its phases; for long before the 4th century BC it is possible to detect Greek influence

in many parts of the world from Spain to Southern Russia, from Gaul to the Carthaginian territories of North Africa.

For the purpose of present study Hellenism is defined as a body of humanistic and classical ideals (also described as 'Classical Humanism') associated with ancient Greece (specifically developed by the Greek cities in the 5th and 4th centuries BC) and including reason, the pursuit of knowledge and the arts, moderation, civic responsibility, and bodily development (a revival of Hellenism fostered by some British Victorians).

It is more than a century ago that the speculations and astonishing discoveries of Heinrich Schliemann opened the way for archaeological research into the prehistoric period of Greek Civilization. Today, on the basis of both direct and indirect evidences, we are in a position to form an image of the remotest past of Greek world- a world that once belonged to the sphere of mythology. Researches and excavations carried out throughout the area extending from Thrace and Macedonia to Cyprus and Crete have produced a prodigious quantity of objects dated to the Stone and Bronze Ages. The limits that once circumscribed Greek prehistory have thus been enormously extended and, crossing the threshold of our age, it is now possible to enter the vanished world of Pleistocene. Light has been cast on ages formerly obscure, on unknown periods and phases of time, and the true depths of the prehistory of the country have been revealed.

It is generally accepted that every civilization, even such as brilliant one as that of the classical era in Greece, must first be regarded as the outcome of the tradition. The study of this tradition, without preconceived limits, is therefore imperative.

* 'Leela Nilayam', 99-A, Indira Nagar,
Gorakhpur-273 009, U.P.

As Blegen (1928), one of the most distinguished scholars in the field of prehistoric Greece, has pointed out, the 'Greek-ness' of the Myceneans is not without consequence. 'The definite recognition of the Myceneans as Greeks', he says, "calls for something more than mere passing mention. Let it be an early stage in the history of that race, perhaps before Hellenic speech had yet been fully evolved. Nonetheless it demonstrates the inherent strength of the Greek people and their astonishing power of survival; they still exist and flourish today, retaining their distinctive character, their language, and their exclusiveness along with their cohesiveness, despite intense individualism. Apart possibly from the Chinese, there are few, if any, other comparable peoples in their tenacity to endure. In their long history they have at least three times blossomed out into world leadership in culture: in the Late Mycenaean Age, in the Classical period, and in the heyday of the Byzantine Empire". Blegen probably did not know the tenacity of the Indian culture? The exceptional duration and continuity of the tradition of Greek civilization means we have to go back in time as far as possible in order to discern its roots.

The term Hellenism is derived from the ancient Greek word '*Hellinsmos*' meaning 'to speak or act Greek'. Though the meaning of this term is fairly well established by common usage, it is in itself ambiguous. In very Late Greek literature, with special reference to the Jews (e.g. the Septuagint and the Book of Maccabees) it implies the adoption not only of the Greek language but also of Greek manners. Elsewhere it denotes the ancient Greek culture in all its phases; for long before the 4th century BC it is possible to detect Greek influence in many parts of the world from Spain to Southern Russia, from Gaul to the Carthaginian territories of North Africa. However, the term Hellenism, as applied by the German historian Droysen, has come to be used most commonly of the later stages of Greek culture, from the date of Alexander's conquest to the final passing of those who were influenced by Greek culture were people who, though non-Greek by birth, had adopted the Greek language and way of life. The principal center of such influence was the city of Alexandria, which affected the whole of the known world from Western Europe to India. Thus the term Hellenism broadly refers to the fusion of Greek culture with the older cultures of Asia Minor, Syria, Mesopotamia, and Egypt during the

three centuries after the death of Alexander the Great in 323 BC. From this cultural fusion developed the idea of the *ecumene* (inhabited world) belonging to all civilized men. A man was a Hellene if he spoke Greek and shared in Greek custom and law, regardless of where he lived. A new dialect, *Koine* (common Greek), became universal. Ultimately this fusion led to the composite cultures of the Roman Empire in the East.

Hans Jonas (1963, p.10) has distinguished four historical phases of Greek Culture: (1) before Alexander, the classical phase as a national culture; (2) after Alexander, Hellenism as cosmopolitan secular culture; (3) Later Hellenism as a pagan religious culture; and (4) Byzantinism as a Greek Christian culture. The transition from the first to the second phases is for the most part being explained as an autonomous Greek development. In the second phase (300 BC- first century AD) the Greek spirit was represented the great rival schools of philosophy, the Academy, the Epicureans, and above all the Stoics, while at the same time the Greek-oriental synthesis was progressing. The transition from the third phase, the turning to religion of ancient civilizations as a whole and of the Greek mind with it, was the work of profoundly un-Greek forces which, originating in the East, entered history as new factors. Between the rule of Hellenistic secular and the final defensive position of the late Hellenism turned religious lie three centuries of revolutionary spiritual movements which effected this transformation, among which the Gnostic movement occupies a prominent place.

For the purpose of present study Hellenism is defined as a body of humanistic and classical ideals (also described as 'Classical Humanism') associated with ancient Greece (specifically developed by the Greek cities in the 5th and 4th centuries BC) and including reason, the pursuit of knowledge and the arts, moderation, civic responsibility, and bodily development (a revival of Hellenism fostered by some British Victorians). I have considered only the first phase of the Greek culture of Hans Jonas. Mathew Arnold (1875) has correctly applied it to that form of culture, or ideal of life, of which ancient Greek is taken as a type. He considers that the great movement of Renaissance was an uprising and reinstatement of man's intellectual impulses and Hellenism.

It is more than a century ago that the

speculations and astonishing discoveries of Heinrich Schliemann opened the way for archaeological research into the prehistoric period of Greek Civilization. Today, on the basis of both direct and indirect evidences, we are in a position to form an image of the remotest past of Greek world- a world that once belonged to the sphere of mythology. Researches and excavations carried out throughout the area extending from Thrace and Macedonia to Cyprus and Crete have produced a prodigious quantity of objects dated to the Stone and Bronze Ages. The limits that once circumscribed Greek prehistory have thus been enormously extended and, crossing the threshold of our age, it is now possible to enter the vanished world of Pleistocene. Light has been cast on ages formerly obscure, on unknown periods and phases of time, and the true depths of the prehistory of the country have been revealed.

It is generally accepted that every civilization, even such as brilliant one as that of the classical era in Greece, must first be regarded as the outcome of the tradition. The study of this tradition, without preconceived limits, is therefore imperative. As Blegen (1928), one of the most distinguished scholars in the field of prehistoric Greece, has pointed out, the 'Greek-ness' of the Myceneans is not without consequence. "The definite recognition of the Myceneans as Greeks", he says, "calls for something more than mere passing mention. Let it be an early stage in the history of that race, perhaps before Hellenic speech had yet been fully evolved. Nonetheless it demonstrates the inherent strength of the Greek people and their astonishing power of survival; they still exist and flourish today, retaining their distinctive character, their language, and their exclusiveness along with their cohesiveness, despite intense individualism. Apart possibly from the Chinese, there are few, if any, other comparable peoples in their tenacity to endure. In their long history they have at least three times blossomed out into world leadership in culture: in the Late Mycenaean Age, in the Classical period, and in the heyday of the Byzantine Empire". Blegen probably did not know the tenacity of the Indian culture?

The decisive argument in favor of this view was the great achievement of Michel Ventris's decipherment of the Linear B script. There can be little doubt now that the tablets written in the Greek language have become almost historical documents thanks to his efforts. They offer a definitive basis for

the identification of the Hellenic character of the Mycenaean civilization. The exceptional duration and continuity of the tradition of Greek civilization means we have to go back in time as far as possible in order to discern its roots.

Hinduism: Meaning and characteristics

Hinduism is the title applied to that form of a religion, which prevails among the vast majority of the present population in India. Brāhmaṇism, which is the term generally used to designate the higher and more philosophical form of modern Hinduism, is more properly restricted to that development of the faith which, under the Brāhmaṇa influence, succeeded to Vedism, or the animistic worship of the greater powers of Nature. The term 'Hindu' is entirely a linguistic one, which denotes the people who were living beyond the eastern side of the river Sindhu. Hinduism did not give this name to Hindus. The foreign writers and travelers gave it to the people living in India or Hindusthān. A common term for the ancient Aryan settlements in the Panjāba was 'the Seven Rivers' (*sapta-sindhavah*). The name 'Hindu' appears in the form of 'Hindus' in the inscription on the monument of Darius Hystaspes near Persepolis in c. 486 BC; 'Hod(d) u' in the later Hebrew literature and in the modern form in Herodotus (circa 440 BC). It seems that due to the phonetic change the term Sindhu changed into Hindu and the foreign travelers and writers designated the land beyond the 'Sindhu' or Indus as the land of Hindus or Hindusthan in later times. No where do we find this appellation for India in the ancient literary tradition of India. The term always referred to the people, whether Muslims, Christians, Parsīs or any other races, who came and lived in India. These people evolved a view of life, a social structure, economic institutions, political system, the morality, the religion and philosophy, the art and literature, the science and commerce etc., in a long process of experiences since the Ṛgvedic period until now. This value and view of life is known as Hinduism. (Tripathi, 2004, p.7)

Thus Hinduism is not a form but a concept. It is not a religion but a life behavior. It is not a communal sect for Hinduism has no single prophet, single god, single book, single philosophy and faith but the people who lived in a geographical, political and cultural boundary known as Hindustan or India. Hinduism includes all religious sects— Buddhism, Jainism, Vaiṣṇavism, Śhaivism, Sikh, Pārsī, Muslim

and Christian who live in India and follow their religious principles and worship their god without any restrictions. Hinduism accepts them all who believe in Vedas or abuses the Vedas in their philosophical or religious doctrines.

In short, Hinduism is the realization of values, in theory and practice. Religion is the realization of only the ethical values preter-social and social. In preter-social is included the super human and subhuman whereas in social there is a correlational human and gregational human. Hinduism is a value-loaded predicate. Value is one word for 'subject's attitude to object'. Attitude in its turn is analyzed as 'disposition to regulate the responses to'. The term 'value' therefore means subject's disposition to regulate the response to objects. As such values are subject-object relations. (Tripathi, 2004, p.8)

Interrelationship of Hinduism and Hellenism

Scholars differ vehemently on the question of the influence of Hellenism on Hinduism or vice-versa. However, it is true that the evolution of philosophy, religion, and mythology has gone along parallel but independent paths. The grand poetry of the Vedas, the epics and dramas of the succeeding epochs, the religious and philosophical speculations, the learned grammatical analysis of Pāṇini and Patañjali, mathematics, all the rich, brilliant and intellectual achievements of ancient Indians, are though akin to the Greeks in many ways, but are more richly endowed. All these studies were developed much before the Hellenic culture came into existence. The question does not interest itself solely to the Indianist and the Hellenist, but to all those who are interested in tracing the evolution of the antecedents of their modern culture and civilization, the different phases of our national culture and progress. It is a curious fact that few races have disappeared so utterly in India as the Greeks.

The origin of the Greek religion should be ultimately traced to India. The myth of Zeus, his contest with Prometheus and his human passions and attributes point to Indian sources, particularly to *Indra* in the Vedas. The name Kronos may have been derived from the Sanskrit word *krāṇo* (creating for himself) and has nothing to do with Chronos 'time'. Megasthenese tells us a good deal about the Hindu representative of Dionysius to whom Arrian calls Siva Dionysius. The character of the

Prometheus-myth has been conclusively proved to be of Indo-European character by Kuhn. (Banerjee, 1995, p.277). If the name Athena really corresponds to the Sanskrit *Ahana*, the dawning and Athenaia to *ahania* 'the day bright', as Max Müller supposes, we may also regard her as Indo-European goddess. Hermes, the messenger and the right hand of Zeus, is identical with *Sarameyos*, the names of the two dogs of *Yama*, the mythic watch dogs in the Veda. The Hindu gods and goddesses may have certain similarities with the Greek gods and goddesses which seems to come out of the common Indo-European origin of both the cultures. Moreover, the Hindu theory of the idol is in sharp contrast with that of the Greeks. To the former human form is merely the ephemeral clothing of the soul, in which, unhappily, it is forced to linger for a time. The worship that substituted idols for ideal-forms has to be traced back to the end of the Vedic period. It is not however a mark of early Brāhmanism, nor is it a pronounced feature of the age of Buddha.

The Logos doctrine of the Greeks seems to have been imported from India. In the Brāhmaṇic period, the Ṛgvedic *vāk*, speech, becomes more and more like the Greek Logos and in this period it may truthfully be said, that 'Word was god'. In Greece, on the other hand, the conception of Logos begins with Heracleitus, and then passes on to the Stoics; is adopted by Philo; becomes a prominent feature of neo-Platonism; and reappears in the Gospel of St. John. It is legitimate to infer that Heracleitus might have received the idea indirectly from the contemporary Indian philosophers. There is also similarity between the other forms of early Greek and Hindu philosophy. "Both Thales and Parmenides were anticipated by Hindu sages and the Eleatic school seems to be but reflexion of the Upaniṣads. The doctrines of Anaximander and Heracleitus are not known first in Greece and they are evidently borrowed from India. Before the sixth centuries BC, all the religious –philosophical ideas of Pythagoras were current in India" (vide L.von Schroeder, Pythagoras, quoted in Banerjee, 1995, p.281). Thus it is clear that the blending of the two peoples, indigenous and Indo-Europeans gave birth to Hellenism. The Indo-Europeans entered Greece with certain personal already evolved deities. We find that anthropomorphism was the strongest bias of the Hellenes' religious imagination which was

effaced by the forms of faith and speculation from the East.

As against the Greek religion, which has many things in common with the Hindu religion, the Greek philosophy differs to some extent from it. The Greeks had no sacred books, like the Vedas, which dictated to him any views concerning the origin of the world or the constitution of Nature, and which he would have considered immoral to disbelieve. In fact when Heracleitus boldly declared that 'neither god nor man made the Kosmos' there was no authoritative Greek myth or theological dogma to gainsay him. (Banerjee, 1995, p.286) Out of the great philosophers of the sixth century, Pythagoras, Empedokles, Xenophanes and Heracleitus- were also directly concerned with the philosophy of religion, with speculations on the Nature and the true definition of the godhead. But the main trend of their speculations ran counter to the anthropomorphic theory of divinity; and they tend to define god not as a person, but rather as the highest spiritual metaphysical, or even physical power or function of the universe; and there is a common tendency in the sixth century philosophy to depart from the theistic to pantheistic.

It is a highly suggestive fact however, that the dawn of the scientific speculation in Greece should coincide with a great religious movement in India when the doctrines of Buddha gathered up the scattered beliefs of Brāhmaṇical polytheism into one energetic synthesis of Buddhism. The monotheistic tendency is visible in Greece as elsewhere, and the gods gradually lose their independent autocratic position under Zeus, who in later systems is identified intelligence and Goodness. We find a lot of things in common between these two great civilizations. This definitely indicates that the ideas and the language that both of them share between themselves must have come into existence due to close contacts. The differences are simply apparent and can be attributed to the local ecological and environmental differences and the time depth that must have elapsed in between.

Indian and Greek civilizations have common elements in their early phases as well. The earliest evidence of the origin of any religion in a particular civilization is to be seen in its cosmological myths. There are many common cosmological myths in the whole of Indo-European world, particularly in India and Greece. I have tried to examine the Greek and

Hindu views on the origin of cosmos and its relationship with man - the two fundamental aspects of any religion or philosophy. This discussion has led me to conclude that both Hinduism and Hellenism have common roots in the Vedic culture.

Types of Cosmogonic Myths:

Cosmogonic myths may be classified into the following types according to their symbolic structures:

- (a) Creation from nothing;
- (b) from chaos;
- (c) from a cosmic egg;
- (d) from world parents;
- (e) through the process of emergence; and
- (f) through the agency of an earth divers.

Cosmogonic myths are seldom limited to any one of these classifications; several symbolic typological forms may be present in one myth. For example, in the *Viṣṇu Purāṇa*, the creation myth shows how *Viṣṇu* evolves from the primordial reality of *Prakṛiti*; how *Viṣṇu* as a boar dives into the waters to bring up earth for the creation (earth diver); how the creation is produced from austerities and meditation; how creation results from the churning of the primordial ocean. There is in addition the symbolism of the cosmic egg as a meaning of the creation. The classification of myths into these types is thus meant not to be a stricture of limitations but rather to emphasize a dominant motif in the myth.

Among primitive races, a cosmogony is portrayed as a single act of creation in time, with the world emerging or being shaped from one, or a few very simple, principles or elements. In Western culture the first chapter of *Genesis* provides the best known of such creation myths and the first attempt at a philosophical cosmogony was by Thales of Miletus. But in India several millennia before him sound philosophical cosmological myths were narrated by the Vedic seers.

Cosmogonic and Cosmological Myths of Indo-Europeans

Cosmogony is concerned with the origin of the universe, whether religious, mythical or scientific; whereas Cosmology is the worldview of a people, a system by which the constituent elements of their universe are related with one another. It is to be contrasted with eschatology, which describes the end of the universe. Now a days it is considered as a

branch of philosophy more as a subdivision of metaphysics or a scientific study of the origin and structure of the universe based on such things as the spectral investigation of the distribution of elements throughout the universe and the study of the red shift associated with the recession of the galaxies.

The word cosmogony is derived from the combination of two Greek terms, *kosmos* and *genesis*. *Kosmos* refers to the order of the universe and/or the universe as an order. *Genesis* means the coming into being or the substantial change in the process, a birth. Cosmogony thus has to do with myths, stories, or theories regarding the birth or creation of the universe as an order or the description of the original order of the universe. One type of narrative portraying meanings and description of creation of the universe is the cosmogonic myth. These myths, which are preserved in almost all traditional cultures, usually depict in imaginative religious space and time that exist prior to the universe as a normal habitation for human beings. The beings who are the actors in this primordial time are divine, superhuman, and supernatural, for they exist prior to the order of the universe as known by the present generation of human beings.

Cosmogonic myths in their narrative form give a rhetorical, stylistic, and imaginative portrayal of the meaning of creation of the world. These myths set forth a tonality and stylistics for the modes of perception, the organizing principles, and provide the basis for all creative activities in the cultural life. While these myths are always specific to the cultures in which they are found, it is possible to classify them in various ways. One may classify them according to cultural-historical strata in which they appear; thus, one might place together myths from hunter-gatherer cultures, or from early Neolithic cultures, agricultural societies, and so on. Myths may also be classified in terms of specific religion or cultural-geographical area (e.g., ancient Near Eastern, Hindu myths, etc.), or in terms of linguistic groups (e.g., Indo-European myths).

Vedic Cosmogony

Indian cosmogonic myths are particularly important for understanding myths of the Indo-European world because they have a long tradition of many millennia (From *Rgveda* to *Purāṇas*) and are varied. Mythology is a unique subject. It fascinates and

generates interest which remains unabated even in the face of all sorts of progress in civilization. It goes on exerting unnoticed on the mind of man an influence, which leaves indelible marks on his life and thoughts. Mythology is in fact the most natural language of religion and philosophy. In India the Vedic myths and legends faithfully portray the stages of developments in religious conviction and philosophical speculations. They are the fountain-head of an extraordinarily rich cultural tradition. Man is by nature curious. He is always eager to know of things that come to his notice. He tries to find out the cause of every object, action or phenomenon due to the inherent inquisitiveness of his mind. He observes, imagines, argues, learns from his experiences and draws conclusions. All our modern achievements, nay, even all that distinguishes a man from other creatures, are the results of this curiosity of man. The word myth, legend and folklore are more or less synonymous, in as much as they all signify a certain stock of traditions handed down from generation to generation. The word 'myth' primarily means a word or speech in Greek, but it has come to take on its special sense of fancy and therefore it is used for such narrations or tales as are connected with gods, natural phenomena, supernatural powers and heroes. In other words, "myths in common parlance savours of what is untrue, unreal, all the same it has a hold on man's imagination"¹

Needless to say that every culture has a 'likely story'. Given the inadequacy of discursive logic, story telling remains the only alternative to articulate what is basically inarticulable. The retelling of the likely story renews people's link with the Beyond and helps them maintaining openness of their soul to the experiences of the Beyond. Only on this basis a culture succeeds in renewing the revitalizing itself. However, the likely story of creation differs from culture to culture. The Vedic civilization, too, has a 'likely story' of creation, a story described as *Sṛiṣṭi Vidyā*, knowledge pertaining to creation, a *bhavavṛitta*. But for all this, however, the Vedic *Sṛiṣṭi Vidyā* offers a very rich fare of cosmological thinking as compared to cosmogonical stories prevalent in other cultures. (Roy, 1999)

The process of one becoming many is the process of creation in Vedic Cosmogony. The source of the maker of this Universe is universally

acclaimed to be an entity that is all pervasive but *avyaya* (inexhaustible), *anirukta* (inexplicable or undeclared), *aparimita* (immeasurable, *apeiron* in Gk.), etc. The process of creation begins when *apeiron*, as Plato puts it, is bounded by *peras* (limits).

The Boundless, the *avyaya*, idea (*eidos*) to use the Platonic term, assumes many names (*nāma*) and forms (*rūpa*) and becomes embodied idea (*enhylon eidos*). This can happen in two alternate ways. First, the Boundless is a creator who makes use of materials that are already available but only in an incompletely fashioned form for creating this universe himself standing outside it; he is a demiurge or a *deus ex machina*. Alternatively, the creator is not outside this creation; the Boundless is the one substance which transforms himself into many modes of being. These many modes constituting the universe are considered to be either a *pariṇāma* (transformation) or a *vivarta* (transfiguration) of the One. In either case, the universe is pervaded by the One.

This One pervades the universe, to be sure. But does it exhaust itself fully in the universe it creates? If it were to do so, the universe confessedly would become God with no room left for him. In contradistinction to this, God does create the world but does not fully exhaust himself. As a matter of fact, in the Vedic cosmogony, the *Brahmana*, the creator of this universe, is supposed to be *catuspada* (having four legs); only one of his legs manifests as this universe, the *idam sarvām*, or *tode ti*. This *idam sarvām* does not fully reveal what is beyond it. That is why the Vedic seers treat the sensible world only as *praket*, the sign of *apraket*, of what is beyond our senses, the unmanifest reality; that is a visible symbol, or *eikon*, to use a Platonic term, of what is invisible. But what is a symbol is both like and unlike what it stands for. Apart from signifying something else, something other than what they substantively, in and by themselves, are, symbols also refer to something which they in reality are not. It is because of this 'distortion tendency' intrinsic to symbols, in Gadamer's words, that prevents a smooth and spontaneously enlightening transition from *praket* to *apraket*.²

Greek Cosmogony and Cosmology

Cosmogonic and cosmological myths (concerned with the origins and nature of the universe)

represent an attempt to render the natural world comprehensible in human terms. The most widely accepted account of these origins is found in Hesiod's *Theogony*, which postulates that creation began from *Chaos*, a yawning nothingness. Out of this void emerged Ge or Gaia (the Earth) and some other primary divine beings: Eros (Love), the Abyss (Tartarus), and Darkness (Erebus). Without any male involvement, Gaia gave birth to Uranus (the sky) who then proceeded to fertilize her. From that union were born the Titans (including Zeus's father, Cronus), the one-eyed Cyclopes and the Hecatonchires ('Hundred-Handers'). Cronus ('the wily, youngest and most terrible of [Gaia's] children' castrated his father and became the ruler of the gods, with his sister-wife Rhea as his consort and the other Titans as his court. Eventually, Cronus was unseated by his son Zeus in an epic battle (the *Titanomachy*), which resulted in the triumph of the Olympians and the banishment of Cronus and the Titans to the depths of Tartarus.

The earliest Greek aesthetic thought considered *theogony* (myths of the origins of gods) to be the prototypical poetic genre—the prototypical *mythos* (myth)—and imputed almost magical powers to it. Orpheus, the archetypal poet, was also the archetypal singer of theogonies, which he uses to calm seas and storms, and to move the stony hearts of the underworld gods in his descent to Hades. When Hermes invents the lyre in the *Homeric Hymn to Hermes*, the first thing he does is to sing the birth of the gods. Hesiod's *Theogony* is not only the fullest surviving cosmic origin story, but also the fullest surviving account of the archaic poet's function. Theogony, as a genre, was the subject of many poems, though the vast majority of them have been lost, including those attributed to Orpheus, Musaeus, Epimenides, Abaris and other legendary seers. These poems, which were of tremendous significance in ancient Greek religion, were used in private ritual purifications and mystery-rites. These rites (and the religious poems pertaining to them) were so central to Greek religious thought that traces of them can be found in the writings of Plato and the later Neo-Platonist philosophers.

Myths of origin represent an attempt to render the universe comprehensible in human terms. Greek creation myths (cosmogonies) and views of the universe (cosmologies) were more systematic

and specific than those of other ancient peoples. Yet their very artistry serves as an impediment to interpretation, since the Greeks embellished the myths with folktale and fiction told for its own sake. Thus, though the aim of Hesiod's *Theogony* is to describe the ascendancy of Zeus (and, incidentally, the rise of the other gods), the inclusion of such familiar themes as the hostility between the generations, the enigma of woman (Pandora), the exploits of the friendly trickster (Prometheus), or struggles against powerful beings or monsters like the Titans (and, in later tradition, the Giants) enhances the interest of an epic account.

According to Hesiod, four primary divine beings first came into existence: the Gap (Chaos), Earth (Gaea), the Abyss (Tartarus), and Love (Eros). The creative process began with the forcible separation of Gaea from her doting consort Heaven (Uranus) in order to allow her progeny to be born. The means of separation employed, the cutting off of Uranus' genitals by his son Cronus, bears a certain resemblance to a similar story recorded in Babylonian epic. The crudity is relieved, however, in characteristic Greek fashion by the friendly collaboration of Uranus and Gaea, after their divorce, in a plan to save Zeus from the same Cronus, his cannibalistic sire.

According to Greek cosmological concepts, the Earth was viewed as a flat disk afloat on the river of Ocean. The Sun (Helios) traversed the heavens like a charioteer and sailed around the Earth in a golden bowl at night. Natural fissures were popularly regarded as entrances to the subterranean house of Hades, home of the dead.

The Nature of Greek Myths, by G.S. Kirk,³ divides myths into 6 categories, 3 of which are coming into being or creation stories. These categories are:

1. cosmological
2. tales of the Olympians, and
3. those about the early history of men.

Here we will be focusing mainly on the first, the cosmological -- ancient Greek stories of the creation of the world out of the primordial goo. In *Rise of the Olympians*, we may read about (2) the coming into being of the Olympians, and in *Prometheus*, and about (3) the creation of human beings. There isn't one standard story about the primordial goo or first substance. The main

contenders for the primordial substance are not goo, but Sky (Uranus/Ouranos) and a kind of emptiness, referred to as either the Void or Chaos. What came next must have sprung from these *first* things.

Chaos

The nature of Chaos changed over time, creating either the specific bodies of the cosmos, or the cosmos itself and order.

"Chaos - in one ancient Greek myth of creation, the dark, silent abyss from which all things came into existence. According to the Theogony of Hesiod, Chaos generated the solid mass of Earth, from which arose the starry, cloud-filled Heaven. Mother Earth and Father Heaven, personified respectively as Gaea [Gaia] and her offspring Uranus [Uranos], were the parents of the Titans. In a later theory, Chaos is the formless matter from which the cosmos, or harmonious order, was created."

Uranus and Gaia

One account of the beginnings comes from *Apollodorus' Library*⁴. Who exactly Apollodorus was remains a mystery, although he may have lived around the second century BC, which puts him much closer than us to the main writers to whom the ancient Greeks turned for religious information, Homer and Hesiod. Here's Apollodorus' version of the cosmogony:

Sky (Uranos) was the first who ruled over the whole world. And having wedded Earth (Gaia), he begat first the Hundred-handed.... After these, Earth bore him the Cyclopes.... But them Sky bound and cast into Tartarus.... And he begat children by Earth, to wit, the Titans ... and youngest of all, Cronus.... But Earth, grieved at the destruction of her children, who had been cast into Tartarus....

Void first; then Eros and Earth

An earlier (7-8th century BC) version of the story (referred to above) comes from Hesiod, author of *Theogony* and *Works and Days*. In *Theogony* the Void or Chaos existed before anything else. Then came Earth (Gaia) and Eros (god of love or desire). Out of the Void or Chaos came Darkness (Erebus) and Night (Nyx); from Night, Light and Day.

Earth produced the Sky (Uranus) to cover herself. Then, by coupling they produced an enormous brood, including Oceanus (Ocean), Themis (Law), Mnemosyne (Memory), Phoebe, Cronus, the Cyclopes/Cyclops (producers of Zeus'

thunderbolt) and the 50-headed monsters, Cottus, Briareus, and Gyes (the Hecatoncheires).

Not a very natural parent, Uranus took pleasure in preventing any of his children from seeing the light of day. He insisted that Gaia (Mother Earth) keep them locked up. Growing within the bowels of Mother Earth, the children of Uranus and Gaia caused great physical and emotional pain for Gaia. Eventually she could take it no longer and so she created a new metal. From the metal, Gaia fashioned a sickle, which she gave to her boldest offspring, the Titan Cronus (Saturn).

The next time Uranus came to make love to Gaia, which he did by stretching out all over the Earth, Cronus sprang up from his hiding place, brandished his sickle, and attacked and castrated father Uranus. Additional offspring sprang from the spilled blood and organ of Uranus: Giants, Erinyes (Furies), Meliae -- and most spectacularly, Aphrodite, who was born from the foam.

Norman O. Brown explains in his translation of the following section of the *Theogony*,⁵ the etymology of the name Titans for these 12 children of Earth and Sky (*Cronus, Rhea, Iapetus, Oceanus, Hyperion, Themis, Thea, Mnemosyne, Phoebe, Coeus, Tethys, and Crius*):

Great Father Sky called his children the Titans because of his feud with them; he said that they blindly had tightened the noose and had done a savage thing for which they would have to pay in time to come. (Lines 209-210)

...And they did have to pay. Just as Uranus (Sky) suffered at his son's hands, so would Cronus at the hands of his offspring, Zeus. But that's another story.

Having discussed the Vedic and Greek concepts of cosmogony, let us now examine some of the Vedic cosmogonical myths and their manifestations in the Proto-Indo-European archaeology and see how these Vedic myths form the very substratum of the Indo-European cosmogonical myths from which Hinduism and Hellenism developed in due course of time.

Cosmogonical and cosmological images of Old European Civilization

Marija Gimbutas (1970) has used term Proto-Indo-European Culture for the Kurgan Culture during the

Fifth, Fourth and the Third Millennia BC and has given a chronological table of the cultural complexes (Table 1) of the Central and Eastern Europe, which she calls 'Old Europe', (Map 1)) during this period. I am using these terms in the same sense and accepting the dates given by her.

Gimbutas (1974, pp.89 ff.) has described in detail various conventionalized and abstract ideograms, recurring on figurines, stamp seals, dishes, cult vessels, and as part of the pictorial decoration of vases and house walls which explain the cosmogony and cosmology of the people of that period as well the functions of the deities it sustained. She has divided the symbols into two basic categories: those related to water or rain, the snake and the bird; and those associated with the moon, the vegetal life-cycle, and the rotation of seasons, the birth and growth essential to the perpetuation of life. The first category, according to her, consists of meanders, and spirals. The second group includes the cross, the encircled cross and more complex derivations of the basic motif which symbolically connects the four corners of the world, the crescent, horn, caterpillar, egg and fish.

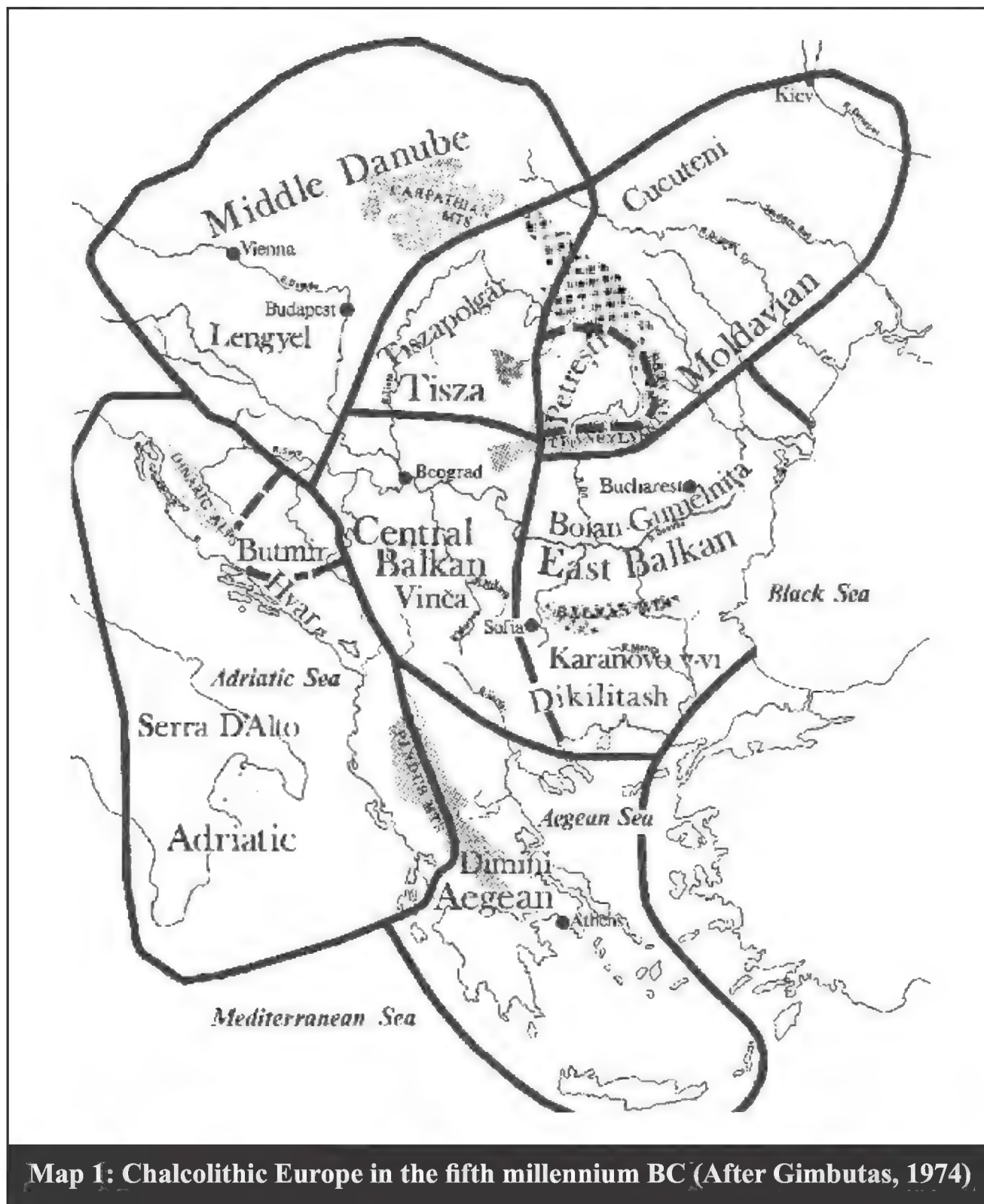
The cosmogonic myths of the Indo-European speaking peoples may be varied but there are also a sufficient number of common elements to suggest the existence of an underlying Proto-Indo-European myth or myths whose general structure can be at least partially recovered. Mallory (1997, p.129) has divided creation myths of the Indo-Europeans into two broad categories- a cosmogonic myth that explains the origin of both the physical and social worlds, and a 'foundation' myth that is more directly associated with the origins of mankind (anthropogenic) or the establishment of specific peoples. We will be discussing in this paper only the first type which deals with the origin of the physical world. However, before discussing specific cosmological creation myths of the Indo-Europeans in general, let us examine the specific nature of the Vedic and Greek cosmogony.

Vedic cosmogonical Myths and Proto-Indo-European Archaeology

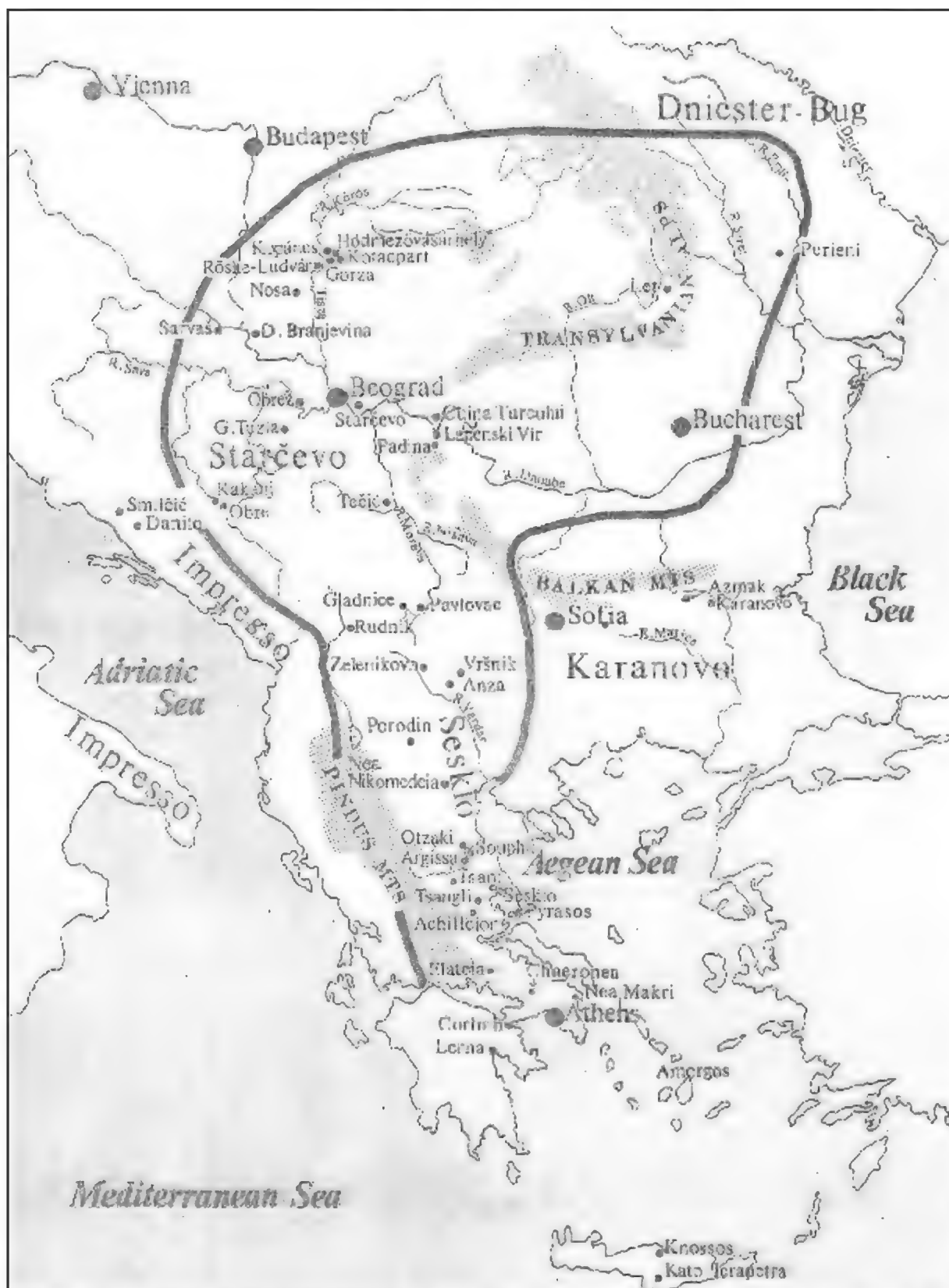
More than 30,000 miniature sculptures of clay, marble, bone, copper and gold along with enormous models of temples and actual temples have been reported in recent years from some 3000 sites of the Neolithic and Chalcolithic era in South Eastern

Europe and the Mediterranean area (see Map 2).
Marija Gimbutas has identified various

cosmogonical and cosmological images of moon,
bull, snake, fish and primordial Egg in them.⁶



Map 1: Chalcolithic Europe in the fifth millennium BC (After Gimbutas, 1974)



Map 2: Chalcolithic cultures of the Mediterranean World (After Gimbutas, 1974)

These archaeological images are well dated on the basis of the radio-carbon analysis and their

calibration with dendrochronology in circa 6500 to 3500 B.C. (see Table 1)

				3500
	HVAR	DANILO/ BUTMIR	IMPRESSO	6500
ADRIATIC				
	LATE NEOLITHIC	SESKLO	PROTO SESKLO	5500
AEGEAN				
	VINČA		STARČEVO	
CENTRAL BALKAN	III	II	I	
	KARANOVO			
EAST BALKAN	VI	V	IV	III
	GUMEL- NIȚA	BOIAN		
	CUCUTENI		DNIESTER- BUG	
MOLDAVIAN WEST UKRAINE	B AB A proto			
	LENGYEL		LINEAR	
MIDDLE DANUBE				
	TISZA- POLGAR	TISZA/ BÜKK	ALFÖLD	
TISZA				

The cosmogonical and cosmological images could be better explained and appreciated on the basis of the study of Vedic literature and Purāṇas which have a long tradition. Much has been written on the date of various works of the Vedic literature. While some scholars have attached a label of high antiquity to them, others have placed them not much farther from the historical period of written records. Hermann Jacobi and Shankar Balakrishna Dixit have fixed the date of the *Śatapatha Brāhmaṇa* in 3000 BC⁷ on the basis of the astrological calculation of a verse in it.⁸ Winternitz too 'agreed with them when he placed the beginning of the Brāhmaṇa tradition in 2000 or 3000 BC'⁹ On the basis of the date of the Brāhmaṇas the date of Saṁhitās may be placed in the tenth to sixth millennium BC

I would like to draw the attention of scholars to the fact that the well dated Proto-Indo-European images of southeastern Europe are really the material manifestations of the Vedic mythological concepts and legendary ideographs. None will doubt the fact that the Vedic literature is the first written record of the human race consisting the best thinking regarding the origin of universe, religion and philosophy carrying traditions of thousands of years.

The exact parallels of the Vedic legendary concepts are found in these archaeological records and, as such, it would not be incorrect to place the beginnings of the Vedic tradition in the sixth millennium BC rather than in the third millennium BC. The following parallels drawn from the Proto-Indo-Europeans art motifs, the Vedic ideograms and mythological concepts will certainly justify such an assumption.

Primeval Water

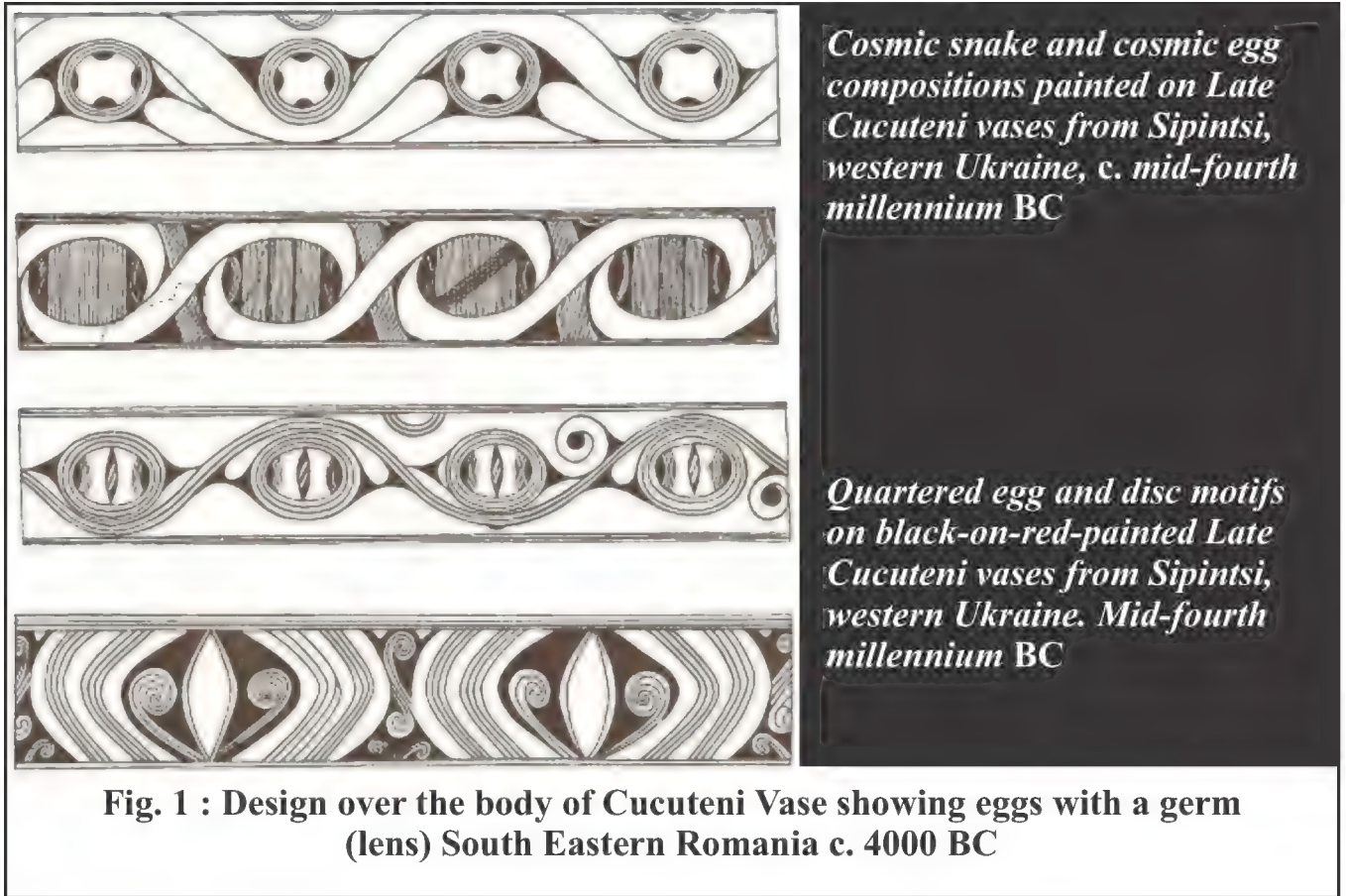
Stories regarding the creation of the universe found in the Indo-European and non-Indo-European mythologies represent stages of a long process of development. Because of their primeval character they are considered to be very old. Ethnological parallels from the fishing and hunting societies indirectly prove the Paleolithic origin of the cosmological ideas centering around water, water-bird, egg, etc. During the Neolithic and the following Chalcolithic periods, stories of creation became quite complex as are seen in the vase paintings and frescoes of these periods. The primeval elements of the universe were conceived as

water. The abstract paintings on Cucuteni vases from Sipintsi, Western Ukraine (mid-fourth millennium BC) reveal the formation of the world.¹⁰

In a number of Cosmogonic references of the Vedic literature and the legends regarding the 'Primeval Waters' (The Flood Legend) are well known from the Brāhmaṇa literature. The water is identified with breaths (*Prāṇaḥ*). All gods and water are also identified with '*Amrita*' which is the life-giving element. According to *Taittirīya Saṁhitā*, too, there was nothing but the waters in the beginning over which Prajāpati floated on a lotus leaf.¹¹ This idea is quite compatible with those expressed in the *Purāṇas*. In the *Purāṇas Nārāyaṇa* and *Viṣṇu* are described as lying on the ocean of waters. They also describe waters as '*Ekārṇava-Nidhi*' or '*Yugāmtara Toya*'.¹² These ideas of creation of the universe from water have their roots in the Vedic mythology and this ideogram is quite parallel to the art motifs of southeastern Europe dated in the fourth millennium BC.

Primordial Egg

In one of the abstract vase-paintings of Cucuteni¹³ the idea of the formation of the world and the beginning of life from egg, in the midst of which a germ resided, is quite clear. In the painting a plant within an egg is painted over the vase. The egg is enveloped in water shown by encircled lines. The snake winds across or around the cosmic egg (see fig. 1). The idea of a primordial egg or vulva is likewise expressed in sculptures. The Lepenski Vir (Northern Yugoslavia) stone sculpture in the shape of an egg with an engraved vulva design dating around 6000 BC.¹⁴



In the Vedic cosmogony the creation of the universe is said to have taken place from the '*Hiranyagarbha*' or the 'Golden Egg'. Mahīdhar explains the concept of '*Hiranyagarbha*' as *Prajāpati* existing in the embryo of Brahma in the form of an egg which was golden in color from which a male (*Prajā*) sprang into being before all living creatures came into existence.

'*Prajāpati*' is '*Hiranyagarbha*' says the *Śatapatha Brāhmaṇa*¹⁵ and we have seen in the legend already discussed that the mundane egg forms an important stage in the cosmogony of the *Brāhmaṇas*. *Hiranya*, i.e., the pulsating life of the impregnated egg is called the seed of *Agni* who meditated upon water and, united with them, cast seed into them. *Śatapatha Brāhmaṇa* says that *Prajāpati* completed the span of one year in this form and then stood up and broke open the golden egg. This narration is enough to prove that the Proto-Indo-European images and Vedic ideograms are quite compatible with each other in form, concept as well as in date.

The Snake

The snake and its abstracted derivatives, the spiral, are the dominant motifs of the art of old Europe throughout the Neolithic and Chalcolithic periods until the Minoan civilization, the sole inheritor of the Old European culture. The Chalcolithic Butmir, Cucuteni and East Balkan peoples created large bulbous vessels, adopting the snake form. Spiral was the basic ornamental compositions of this period. This art motif reaches its peak in the form of unified symbolic and aesthetic expressions in 5000 BC. A coiled pottery snake decorated with incised zigzag and punctuated design was found at the early Vinca settlement of Predionica. The entire inner surface of a ritual dish with holes from Kukeva Mogila in Bulgaria is covered by a snake coil.¹⁶

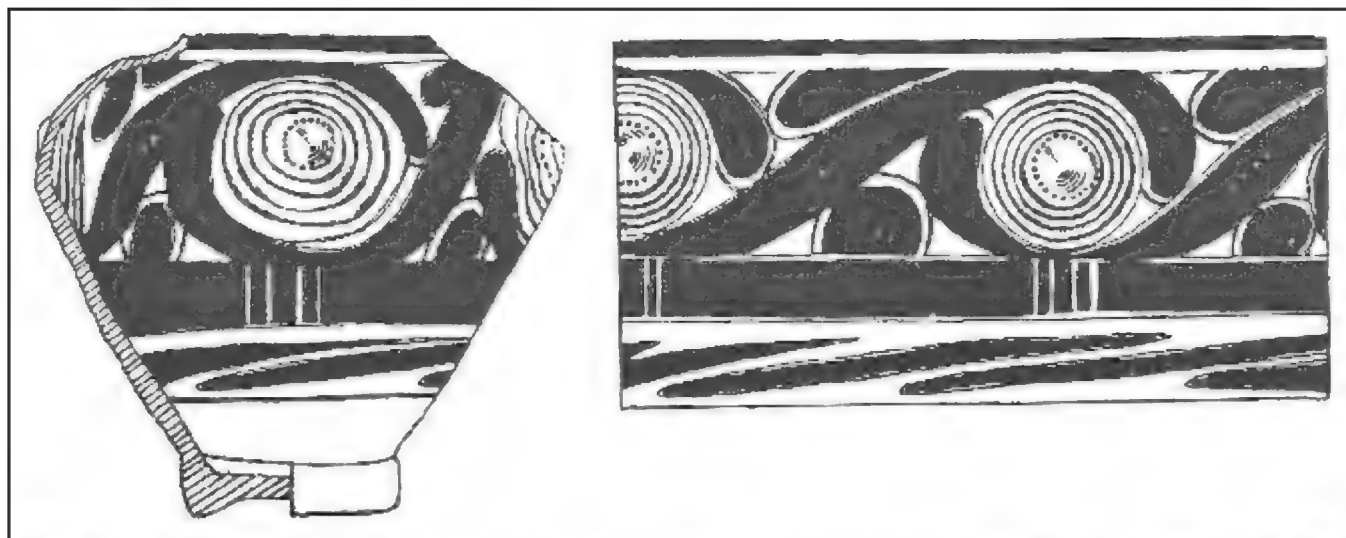


Fig. 2 Snake and disk motif from Habaset, Moldavia (After Gimbutas, 1974)

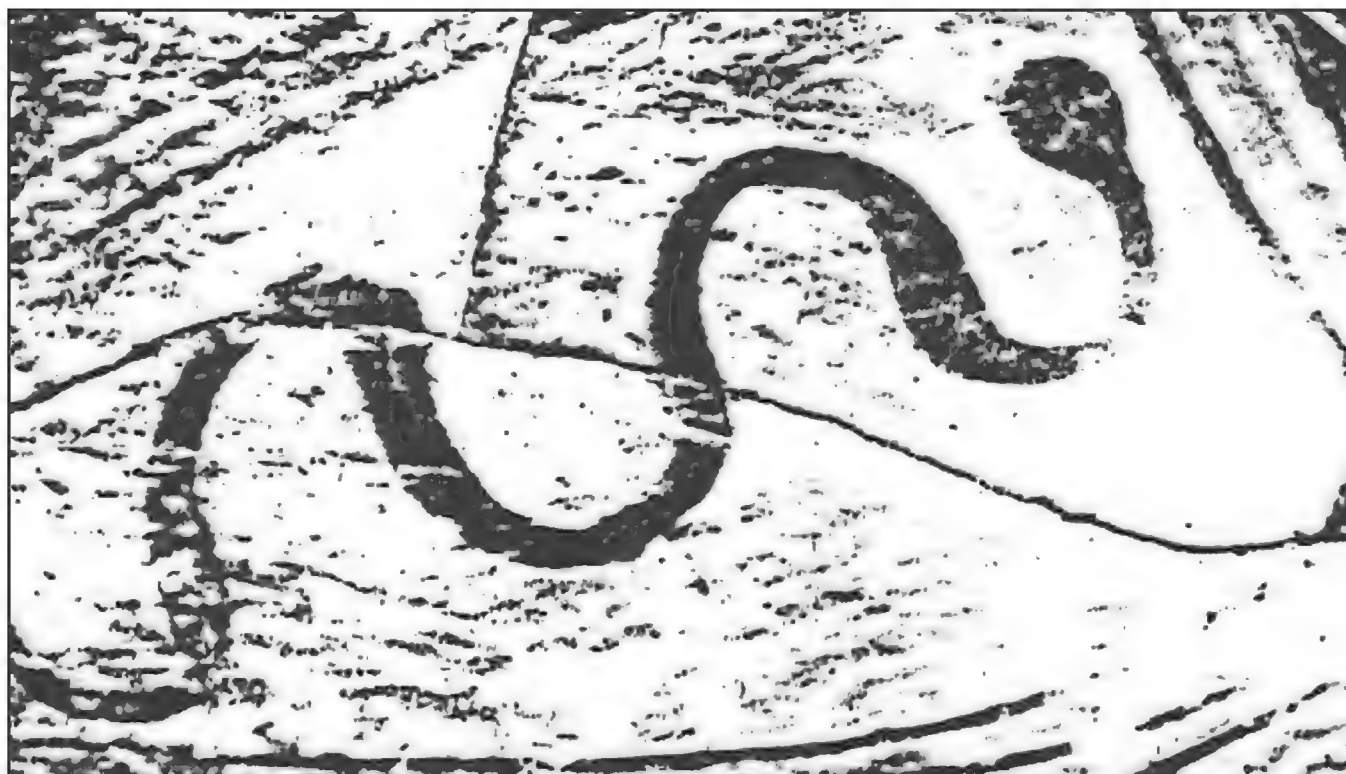


Fig. 3; Painted snake on a Late Cucuteni vase from Bilcze Złote (detail).
First half of fourth millennium BC



Pottery snake from Predionica at Pristina, Yugoslavia. Early Vinca. End of sixth millennium BC

A formidable horned-snake modeled in relief winds around a Neolithic pot from the site of Suvedol-Dibel in Pelagonia. Snake, their bodies marked by dots or comb-like stamps, have been found incised on a number of vases from the Vinca mound. Snake motifs of potporang at Vrsnic yielded curling snakes.¹⁷

The snake was consequently mythologized, attributed with a power that can move the entire cosmos; can make the world roll with the energy of their spiraling bodies. The belt of the earth is sometimes symbolized by snakes and plant motifs. The organization of the motifs thus demonstrates that the imagery is genuinely cosmogenic. (Fig. 5)

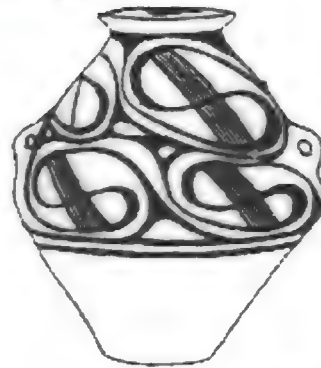
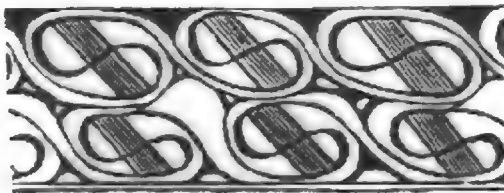


Fig. 5: Snakes coiling across 'rain torrents'. Painted abstract design on a Classical Cucuteni vase from Vladimirovka, Southern Bug Valley, western Ukraine. End of fifth millennium BC



Fig. 6: Terracotta Snake heads as decoration of cult vessels
Porodin, Southern Yugoslavia, Neolithic, Starcevo



Fig.7: Statuette of a Snake Goddess c. 1600–1500 BC or early 20th c. BC



Fig.8: The Minoan Snake Goddess. Palace of Knossos. c. 1600 BC

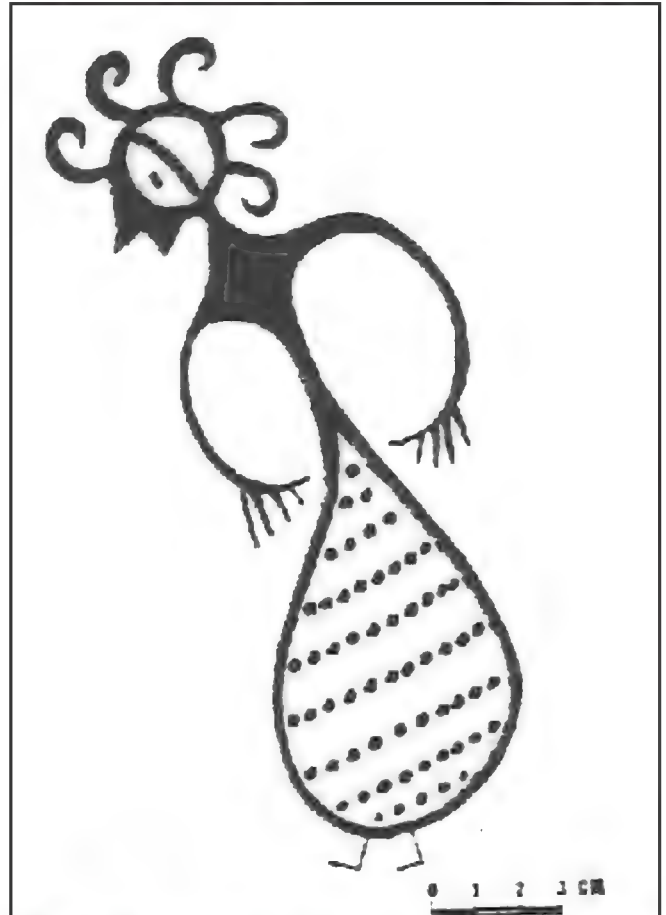


Fig. 9: Minoan Snake Goddess with a bird's Beak
Painted on leg of an alter table.
Phaistos , Proto-palatial period, early 2nd Millennium BC.

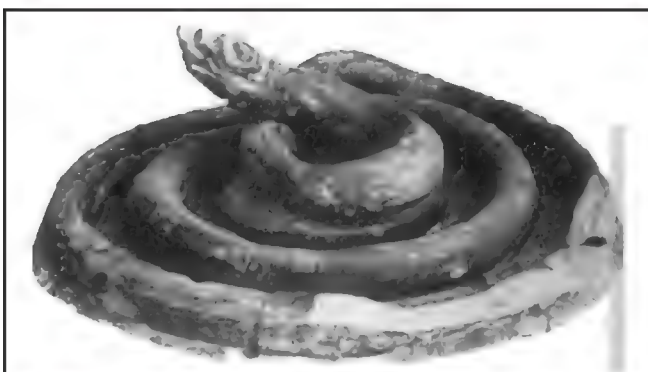


Fig. 10: One of the 17 coiled snakes found in the so-called "room with the idols" in Mycenae. c. 13th BC

Snakes were central to many mythologies because of their perceived quality of being both familiar and exotic. The behaviour of snakes and their facial features (e.g. the unblinking, lidless

eyes) seemed to imply that they were intelligent, that they lived by reason and not instinct, and yet their thought-processes were as alien to humans as their ways of movement.

Snakes were a common feature of many creation myths. In ancient Indian myth, the drought-serpent Ahi or Vritra swallowed the primordial ocean and did not release all created beings until Indra split the serpent's stomach with a thunderbolt. In another myth, the creator Brahmā slept on the coils of the world-serpent Śeṣa (or **Ananta the endless**; a part of Viṣṇu, the child of the primordial waters). Śeṣa in turn was supported on Kūrma (another part of Vishnu) and when Kūrma moved, Śeṣa stirred and yawned and the gaping of its jaws caused earthquakes.

Greek cosmological myths tell of how Ophion the snake incubated the primordial egg from

which all created things were born. In Egyptian myth, the state of existence before creation was symbolized as Amduat, a many-coiled serpent from which Ra the Sun and all of creation arose, returning each night and being reborn every morning. The Great Goddess often had snakes as her familiars - sometimes twining around her sacred staff, as in ancient Crete¹⁸ - and they were worshiped as guardians of her mysteries of birth and regeneration.

Town Shrine at Gournia

Post-Palatial (LM IIIB) bench sanctuary located near highest point of settlement, close to its center. This small (3 m. x 3 m.) shrine belongs neither to a palace nor to any other large building, but is rather a self-contained architectural unit approached by a cobbled road leading up the hill from the west. The lack of associated pottery makes the dating of this shrine somewhat uncertain, but it probably was last used in the LM IIIB period. There was a low bench along its right-hand (southern) wall. In the northeast corner was a plastered tripod 'table of offerings' around which were placed four 'snake-tubes', the base of a fifth 'snake-tube' resting on the tripod 'table of offerings' itself. Found in the debris of the rooms was a bell-shaped female figurine, around whose body is twined a snake. Two snakes also twist around one of the 'snake-tubes'. Fragments of other human figurines were found, as well as four terracotta birds and two terracotta snakes' heads.

Sanctuary Complex to West of Central Court at Knossos

To the north of the Lobby of the Stone Seat, two storage chambers oriented east-west open off of each other in a fashion comparable to the organization of the pillar crypts just described. The southern (the Room of the Tall Pithos) is unremarkable, but under the floor of the second (Temple Repositories) were found two empty, shallow cists below which were two larger and considerably deeper cists filled with MM III pottery in the uppermost 1.10 m. of fill and with fragmentary cult paraphernalia and greasy earth containing carbonized botanical material and stag horns in the lowest 0.40-0.50 m. The cult items include three largely preserved 'snake goddesses' of faïence as well as fragments of others, miniature votive robes in faïence, faïence plaques of a cow and a wild goat nursing their young, shells, crystal, ivory, and faïence inlays, stone 'tables of offering', a marble cross, scraps of gold foil etc.

The Minoan Snake Goddess

Represented by the MM III 'Snake Goddesses' of the Temple Repositories at Knossos as well as by some of the later bell-shaped terracotta figurines of the LM III period, this particular goddess is usually considered to be a household divinity and interestingly does not appear on seals.

The Snake Goddess was one of the Minoan divinities associated closely with the snake cult. She is called also Household Goddess due to her attribute of the snake, which is connected with welfare of the Minoan house. But the snake is also symbol of the underworld deity, so the Snake Goddess is related to chthonic aspects too. Evans, the excavator of the Palace of Knossos, tried to find parallels in the Egyptian religion and linked the Snake Goddess with an Egyptian Goddess of the Nile Delta, Wazet (Wadjyt). From his point of view the attribute of goddess - snake - was a form of underworld spirit, which had a domestic and a friendly significance. Nilsson 1971 holds a snake as personification of the Snake Goddess and he believed that her chthonic form is one of the aspects of the Great Mother. But at the present time there are discussions about the functions of the Snake Goddess. A small offering vessel of the Pre-Palace period in the shape of a female figure with a snake coiled around her body from Koumasa came to light between some grave goods. But the other ritual figurines of the Snake Goddess were found in the Temple Repositories of the Knossos palace and public sanctuaries in Gournia, Khania and Gortyn, where she was worshiped. Unknown provenience is the Snake Goddess made from ivory and gold (in the Boston museum) and a small bronze goddess with coil of snakes (in the Berlin Museum).

Totally different ritual objects of the Snake Goddesses came from sanctuaries of the Post-Palace period (1400-1100 BCE). They are made from cheaper material - terracotta - in the position with raised hands, extremely stylized in accordance with the manners of this period. Their symbol - a snake - is often mixed with the other sacred signs: horns of consecration or birds.

It is possible that the worshipping of the Minoan Snake Goddess was in some context to the rebirth, resurrection or renewal of the life. This cult was flourishing mainly in Knossos of the New-palace period and in the Post-Palace public

sanctuaries. It is sure, that mainly Knossos' idols, made from faience with a high artistic level, had an important function in the Minoan religion. We have to take into consideration, that the material of the New-Palace Snake Goddesses - faience - symbolized in old Egypt the renewal of life, therefore it was used in the funeral cult and in sanctuaries.

The Post-Palace Snake Goddesses, worshiped in the small public sanctuaries, kept probably a more popular role. These ritual objects were influenced by the Mycenaean culture. Their attribute of the snake had a strong signification in the belief system of all Aegean regions at this time. The terracotta models of painted snakes were found in the Cult Center of Mycenae and the motif of snakes appear between the decoration of vessels for funeral cult from the Late Mycenaean cemeteries in the mainland and in the islands Rhodes, Kos and Cyprus.

The symbol and spirit of the Minoan Snake Goddess took in the Greek mythology many different features. The snake had a protective and beneficial role on the shield of Athena, it represented the chthonic power connected with the Goddess of Earth, it was the attribute of Asklepios, probably due to its knowledge about the herb of rebirth, resurrection and eternal youth and generally it was the symbol of superhuman power of the god.

Snakes were regularly regarded as guardians of the Underworld or messengers between the Upper and Lower worlds because they lived in cracks and holes in the ground. The Gorgons of Greek myth were snake-women (a common hybrid) whose gaze would turn flesh into stone. In Indian myth *nāgas* and *nāginis* were human-headed snakes whose kings and queens lived in jewel-encrusted underground or underwater paradises and who were perpetually at war with Garuḍa the Sun-bird.

Parallels to the Indo-European snake motifs in the Neolithic-Chalcolithic periods may be seen in the Vedic ideograms. In the *Ṛgveda*¹⁹ snake is symbolized as fire which is a generative element. At several places in the *Aitareya Brāhmaṇa*²⁰ the earth has been described as 'snake-queen'. The *Śatapatha Brāhmaṇa*²¹ clearly states that the universe is like a snake and that the whole universe rolls with the earth. *Maitrāyaṇi Samhitā*²² describes the whole universe as an abode of snakes in different forms

which clearly demonstrates the cosmogonical nature of the snakes. According to the *Taittirīya Samhitā*²³ in one of His creations 'Prajāpati' created the snakes first and then the birds; but according to *Jaiminīya Brāhmaṇa*.²⁴ He created firstly the snakes and then the fish and thereafter the birds. Thus, the above Vedic references clearly demonstrate the cosmogonic nature of snakes.

The Fish

The usual symbolism connected with the fish ranges from its being an emblem of the vulva, or the phallus, to a symbol of the soul or the 'mystic ship of life'. By microscopic analysis of engravings on Magdalenian bone objects, Marshak has recently shown that fish (salmon) and snake typically appear in the context of a seasonal manifestation representative of early spring and frequently in association with new shoots, young animals and ibexes.²⁵ The fish is also inseparable from the form of a phallus since the phallus offers a visual and kinesthetic comparison with the fish and snake (cf. a baton head from Gorge d' Enfer in Dordogne). An engraving in the Magdalenian cave of Lortet shows fish nuzzling a reindeer's genitals.²⁶ Many a thousand years later, in Greek Geometric art, the fish continued to be portrayed hanging on the genitals of horses; the fish is also placed with the womb of the Bee Goddess painted on a Beotian vase around 700 BC.²⁷ Its role there must have been related to the shape of a bee and is associated with the head of a sacrificial bull.

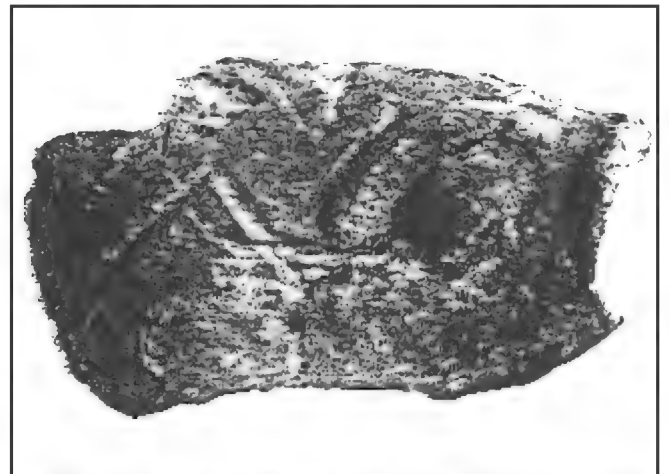


Fig. 12; Egg- or fish-shaped sculpture of sandstone from Lepenski Vir. (A hybrid woman and fish?) c. 6000 or early sixth millennium BC

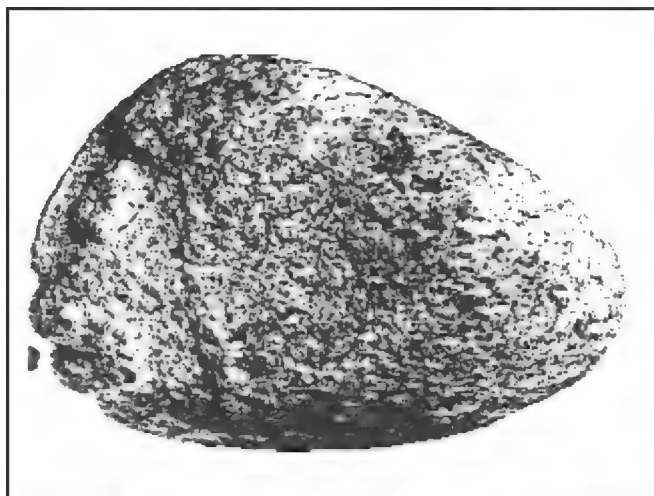


Fig. 12: Fragment of a vessel in the form of a fish. Vinca civilization. Mala Grabovmca near Leskovac. Central Yugoslavia



Fig. 13: Egg-shaped stone head of a Fish Goddess. Lepenski Vir II



Fig. 14; Anthoropomorphized Fish Goddess of stone with head, arms and breasts chiselled out. Mouth and eyes are those of a fish. The nose is human. Lepenski Vir II. Early sixth millennium BC.



Fig. 15: Stone sculpture of a fish-faced water divinity from Lepenski Vir. Zigzags, diamonds and chevrons represent streams of water. Early sixth millennium BC

In the Neolithic art the fish assumes the shape of an egg and is anthropomorphized. This is exemplified by the sculptures recently discovered at Lepenski Vir near the Iron Gates in northern Yugoslavia.²⁸ There, in the late seventh and early sixth millennium BC, fishing and hunting peoples had dug their houses into the bank of the Danube, houses which had trapezoidal floor plans provided with rectangular hearths sunk below the floor level, lined with stones, and outlined with thin slabs of stone set vertically in a pattern of continuous triangles. Large stone sculptures were placed in the lime-plaster floors in front of the hearths. Fifty-four of these monumental sculptures, most of them twice as large as human head, were found, and fifteen of them reveal half-human and half-fish features. Geometric ornaments are pecked on many of them while others are plain. All appear to possess aspects of the human figures, the fish, or the egg, and were probably selected for this reason. The shape of the river boulder had a significance of its own; the artist did not alter this, but only gave it the features of the mythical being he venerated. He added the mouth and large round eyes of a fish and the nose and eyebrows of a man. The mouth with downward-drooping corners makes the facial features stern, even dramatically tense, but it is doubtful whether the painful grimace was really what the Lepenski Vir artist sought to portray; the sternness results from a peculiar combination of fish and human features and does not necessarily reflect the artist's conscious intent.²⁹ In his book on Lepenski Vir, D. Srejovic calls one of the egg-shaped and fish-shaped sculptures 'Danubius'. The name implies a male river divinity, but does the sculpture really represent a male and awe-inspiring god?

Geometric motifs engraved on stone sculptures, such as zigzags, interconnected lozenges each with a dot in it, chevrons and labyrinthine designs on round stones with depressions (probably used for sacrifice) are related to the symbolism which appears as aquatic divinities associated with cosmogonical imagery. The Lepenski Vir statuary seems to represent a divinity of a feminine gender. One of the sculptures has female breasts which incorporates aspects of an egg; a fish and a woman. Marija Gimbutas thinks that she could have been a primeval creator or a mythical ancestress.³⁰ Standing at the hearth she was probably a guardian of the house also. These monumental sculptures have been

found only here in the Iron Gates region of Danube, and they may well be specifically connected with the cult practices of a people whose main concern and subsistence was fishing. Fish effigies, however, have been found elsewhere in the Neolithic sites where farming activities were evident. Even in the flourishing civilization of Vinca the fish must have played a part of mythical imagery, since some cult vessels were formed in the shape of a fish.³¹

The Indo-European fish seems to be material manifestation of fishes in the Vedic literature in specific contexts. *Rgveda*³² describes fish as a water species and *Taittirīya Samhitā* and *Jaiminīya Brāhmaṇa*³³ clearly states that 'Prajāpati' created serpentes (Snake-fish) firstly.

The *Śatapatha Brāhmaṇa*³⁴ describes in detail how a fish preserved the seeds of species and saved Manu Prajāpati for creation after the Great Flood. The incarnation theory of *Purāṇas* also followed the theory of 'Great Flood' and mythologies concerning it as narrated in the Vedic literature. According to the *Purāṇas* when the Flood receded Brahmā (Prajāpati) got incarnated in the form of a fish (*Matsyāvatāra*) in the deep sea.³⁵ According to R.C. Dixitar, the mythology of the 'Great Flood' found in the Hebrew, the Babylonian and Sumerian literature has its roots in the Vedic mythology.³⁶ This story in different forms is repeated in the *Purāṇas* and the Epics.³⁷ In the *Avestā* also we get the narration of the 'Great Flood' in a different form.³⁸ Thus, it is clear that the association of fish with the creation of the universe is not only attested by the archaeological finds of the South-Eastern European countries in the proto-Indo-European and Indo-European contexts but also in the Vedic and other Indo-Iranian literary texts.

Puruṣmedha - the dismemberment of a divine being

One another cosmogonic myth of the Indo-Europeans which is centered on the dismemberment of a divine being - either anthropomorphic or bovine - and the creation of the universe out of its various elements. Such myths are there in the Old Norse, Old Irish, Old Russian, Celtic and Germanic sources. Greco-Roman traditions offer us Ovid's account of Atlas in the *Metamorphoses* (4.655-662) which relates how giant's beard and hair become forests, his bones become stone, his hands the ridges of mountains, etc. Some such myths are to be seen

in the Middle Persian *Sken Gumanig Wizar* (16.8-20) of the ninth century AD. But the earliest comes from the *Puruṣa Sūkta* of the *Rgveda*³⁹ which describes how *Puruṣa*, the (primeval) 'man' was divided so that his eyes became the sun, his mouth the fire, his breath became the wind, his feet the earth, etc.

Mallory (1997, p.130) has argued that one can discern iconographic representation of the Indo-European creation myth in the stone stelae of the early Bronze Age in the Alpine region. Here, he claims, 'there is a long tradition of expressing mythic concepts in stone at sites such as Val Camonica and some of the stelae, which depict a possible sunburst at the head and repeated elements such as weapons, have been interpreted, on grounds far more obvious to the proposer than others, as clear reflections of the original cosmogonic or *Puruṣa* figure.'

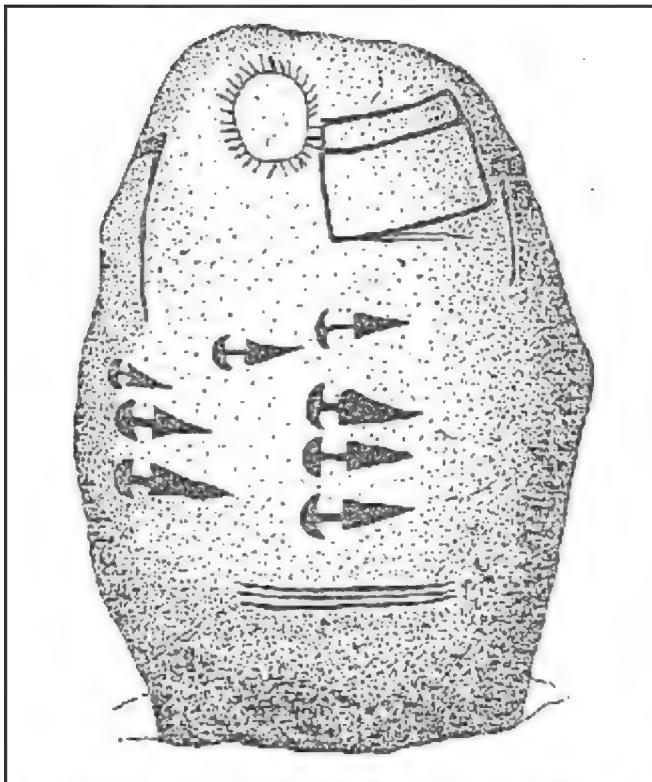


Fig. 16: Cosmogony North Italian stela from Bagnolo which has been interpreted as a *purusa*-stela, e.g., the sun is placed in the highest registrar and is seen as an alloform for the 'eye', the weapons have been claimed to represent the multi-armed nature of the primeval giant.

The idea of human sacrifice has its roots in deep prehistory, in the evolution of human behavior. Mythologically, it is closely connected, or even fundamentally identical with animal sacrifice. Walter Burkert has argued for such a fundamental identity of animal and human sacrifice in the connection of a hunting hypothesis which traces the emergence of human religious behavior to the beginning of behavioral modernity in the Upper Paleolithic (roughly 50,000 years ago). There is archaeological evidence of human sacrifice in Neolithic to Eneolithic Europe. Retainer sacrifices seem to have been common in early Indo-European religion. For example, the Luhansk sacrificial site shows evidence of human sacrifice in the Yamna culture.

Human Sacrifice in Ancient Greece

Turning to ancient Greece, three cases of human sacrifice are analyzed: a ritual example, a mythical case, and one in which myth and ritual are interrelated. Other than three possible sites in Crete, dated to the pre-Hellenic Minoan civilization, and allusions to the practice in classical mythology, archaeologists have been unable to find any evidence that ancient Greeks practiced human sacrifice. [The *deus ex machina* salvation in some versions of Iphigeneia (who was about to be sacrificed by her father Agamemnon) and her replacement with a deer by the goddess Artemis, may be a vestigial memory of the abandonment and discrediting of the practice of human sacrifice among the Greeks in favor of animal sacrifice]. Many scholars have suggested a possible analogy with the story of Isaac's attempted sacrifice by his father Abraham in the Bible, which was also stopped at the last minute (though it had first been encouraged) by divine intervention. Thus, it is clear that the Greeks did in fact commit human sacrifices as a major component of their religious beliefs and activities. The Greek's belief in Dionysus, the god of crop fertility, was a significant element in these sacrifices. Dionysus symbolized flesh and blood as bread and wine. An annual worship held in his name was to insure crop fertility. This was a common practice for many societies throughout Ancient Greece, including the Mycenaeans. The Mycenaeans were a powerful civilization who sacrificed humans in honour of the Olympian gods and archaeological evidence has been found to back these claims.

The Mycenaean civilization practiced this as

well as many other forms of human sacrifice: "The burnt offering altar was often used in Mycenaean rituals, and became a major form of practice. This form of human sacrifice was used late, almost until the end of the Mycenaean civilization. "The burnt offering altar was a large, grill-like structure where prophets placed hot coals. The altar placed on the chest of the strongest warrior in town, the usual subject of this ritual. The sacrifice would be long and grueling, and the victim would not die until the prophets finished their praying to the gods. The Mycenaeans are mentioned in the Homeric poems as a powerful civilization. They sacrificed humans in honor of the Olympian gods, and archeological evidence has been found.⁴⁰

Numerous ancient texts describe human sacrifices and other forms of ritual killing: in 480 BC Themistocles sacrifices three Persian captives to Dionysus; human scapegoats called *pharmakoi* are expelled yearly from Greek cities, and according to some authors they are killed; Locrin girls are hunted down and slain by the Trojans; on Mt Lykaion children are sacrificed and consumed by the worshipers; and many other texts report human sacrifices performed regularly in the cult of the gods or during emergencies such as war and plague. Archaeologists have frequently proposed human sacrifice as an explanation for their discoveries: from Minoan Crete children's bones with knife-cut marks, the skeleton of a youth lying on a platform with a bronze blade resting on his chest, skeletons, sometimes bound, in the *dromoi* of Mycenaean and Cypriot chamber tombs; and dual man-woman burials, where it is suggested that the woman was slain or took her own life at the man's funeral. If the archaeologists' interpretations and the claims in the ancient sources are accepted, they present a bloody and violent picture of the religious life of the ancient Greeks, from the Bronze Age well into historical times. However, I feel that such an interpretation has to be accepted with caution. In many cases alternative, if less sensational, explanations of the archaeological interpretations are possible; and it can often be shown that human sacrifices in the literary texts are mythical or that late authors confused mythical details with actual practices. Whether the evidence is accepted or not, the references quoted above do present a fascinating glimpse into the religious thought of the ancient Greeks.

Evidence for Human Sacrifice

Evidence that suggest the Minoans may have performed human sacrifice has been found at three sites: (1) Anemospilia, in a MMII building near Mt. Juktas, interpreted as a temple, (2) an EMII sanctuary complex at Fournou Korifi in south central Crete, and (3) Knossos, in an LMIB building known as the 'North House'.

Protopalatial Sanctuary at Anemospilia (Archanes)

Excavated in the summer of 1979, this four-room building set within a low enclosure (*temenos*) wall serves as a reminder that our views about a past culture may be subject to sudden and drastic change as the result of a single new discovery. The building, oriented roughly to the cardinal points and entered from the north, lies on the northern slopes of Mt. Iuktas some seven kilometers south of Knossos. In plan, it consists of an east-west corridor at the front off of which open three non-connecting rectangular rooms oriented north-south. In the east room were found large numbers of clay vessels containing agricultural produce, many of them arranged on a series of three steps, perhaps an altar, at the back (south) end of the room. In the central room, more vases containing agricultural produce were found. These too tended to be located toward the south (rear) end of the room, in the vicinity of a raised platform on which were found two terracotta feet, all that remained, in the excavators' opinion, of a cult statue made mostly of wood, only the carbonized remains of which were actually discovered. Near the statue and its base, part of the limestone bedrock was left exposed above floor level rather than being cut down and the excavators identify this outcrop as a 'sacred stone' over which blood offerings may have been poured. In the west room, three skeletons were found in positions which indicated that all three had met a violent end: (1) An 18-year-old male, the skeleton so tightly contracted that he is considered to have been trussed in a fashion comparable to that of the sacrificial bull on the Ayia Triadha sarcophagus, was found lying on his right side on a platform in the center of the room. Among his bones was a bronze dagger 0.40 m. long, on each side of which was incised the frontal head of a boar. Close, beside the platform (or sacrificial altar) had stood a pillar with a trough around its base, the trough probably designed to catch the blood from animal (and human) sacrifices. The dead youth's bones were discolored in such a

way (those on his upper/left side being white, those on his lower/right side being black) as to suggest to a visiting physical anthropologist that the youth, estimated to have been 5' 5" tall, had died from loss of blood. (2) A 28-year-old female of medium build was found spread eagled in the southwest corner of the room. (3) A male in his late thirties, 6' tall, was found on his back near the sacrificial platform, his hands raised as though to protect his face, his legs broken by fallen building debris. On the little finger of his left hand he wore a ring of silver and iron. On a thong around his wrist he wore a stone seal on which the intaglio device was a boat.

In the corridor constituting the front room of the building, aside from rows of still more vessels containing agricultural produce, was found a fourth skeleton, too poorly preserved for sex and age to be determinable. Scattered widely around this body were found 105 joining fragments of a bucket-shaped clay vessel bearing a red-spotted bull in relief as decoration on one side. This was the only vase of the roughly four hundred vessels recovered from the building to be found littered over such a wide area, and the excavators theorize that it was dropped in the corridor by the fourth person when (s)he was felled by the collapsing debris of the building.

The sanctuary was destroyed by fire, probably as the result of an earthquake, at the end of MM II, possibly in the same earthquake which destroyed the Old Palaces at Knossos and Phaistos at this time. The collapsing roof and masonry of the upper walls killed three of the four individuals found within the structure, but the eighteen-year-old was probably already dead. A somewhat similar isolated shrine of the same period, although lacking the dramatic artifactual and human finds of the Anemospilia sanctuary, was excavated in the 1960's at Mallia.

Not all agree that this was human sacrifice. Nanno Marinatos says the man supposedly sacrificed actually died in the earthquake that hit at the time he died. She notes that this earthquake destroyed the building, and also killed the two Minoans who supposedly sacrificed him. She also argues that the building was not a temple and that the evidence for sacrifice "is far from ... conclusive." Dennis Hughes concurs and also argues that the platform where the man lay was not necessarily an altar, and the blade was probably a spearhead that

may not have been placed on the young man, but could have fallen during the earthquake from shelves or an upper floor.

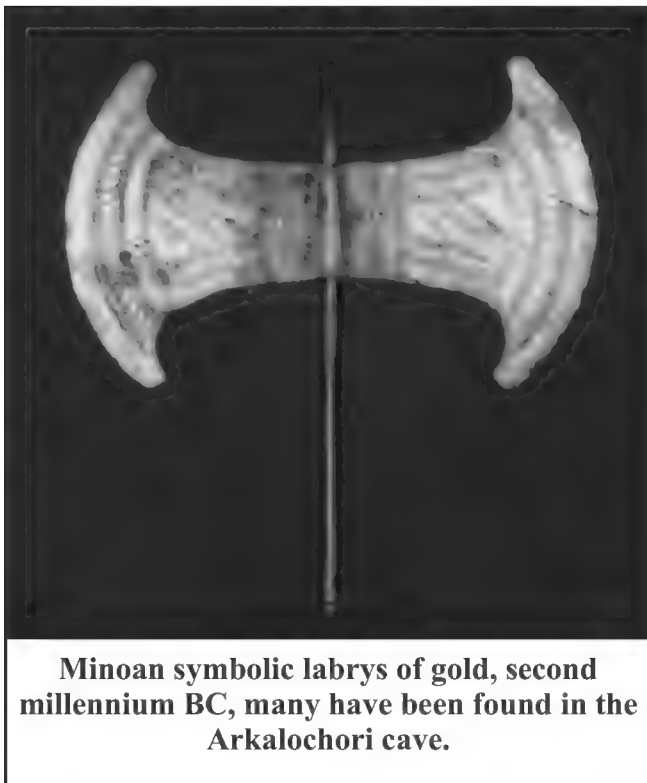
Sanctuary of Fournou Korifi

At the sanctuary-complex of Fournou Korifi, fragments of a human skull were found in the same room as a small hearth, cooking-hole, and cooking-equipment. This skull has been interpreted as the remains of a sacrificed victim.

Site of Western Extension to Stratigraphical Museum at Knossos

In a LM IB context in excavations just to one side of the Royal Road some distance northwest of the Little Palace at Knossos, 327 children's bones were found in a burnt deposit in the basement of a building christened the North House. Originally attributed to between eight and eleven children provisionally aged between ten and fifteen years old, between 21% and 35% of these bones, which included skull fragments as well as other bones, all found in an unarticulated heap, exhibited "fine knife marks, exactly comparable to butchery marks on animal bones, resulting from the removal of meat. Cannibalism seems clearly indicated. Among possible interpretations are ritual usage (otherwise unexampled in the open town of Knossos) and lack of all other food because of poisoning or other deleterious effect of gases or fall out from intense activity of the volcano of Thera." Subsequent analysis has revealed that the bones in fact need belong to no more than four individuals, two of whom can be quite precisely aged by means of their teeth to eight and twelve years. Some phalanges (finger or toe bones) from young humans, a human vertebra with a knife cut, some marine shells, some shells of edible snails, and burnt earth were found filling a pithos in the "Cult Room Basement", a room across a corridor from the "Room of the Children's Bones" in which the cache of 327 children's bones were found. The context within the pithos suggests that some portions of young children were cooked together with a variety of other edible substances. Together with the major concentration of children's bones were also found some sheep bones including articulated vertebrae. One of the latter had a cut mark in a position indicating that the beast's throat had been slit, so that sheep sacrifice may have been connected with the death and dismemberment of the children, whom forensic experts have established to have been in perfect

health at the time of their deaths. There is unfortunately no method by which these skeletons can be accurately sexed, so we remain ignorant as to whether they belonged to boys, girls, or both. Could there be some connection between these butchered children, the youths and maidens who jump bulls in Minoan representational art, and the tribute of Athenian boys and girls paid to the legendary king Minos to which Theseus, the heroic Athenian prince, put a stop with the loving help of Minos' daughter Ariadne by killing the monstrous Minotaur?



Minoan symbolic labrys of gold, second millennium BC, many have been found in the Arkalochori cave.

Human sacrifice and Mycenaean religion

Mycenaean religion certainly involved offerings and sacrifices to the deities, and some have speculated that their ceremonies involved human sacrifice⁴¹ based on textual evidence and bones found outside tombs. In the Homeric poems, there seems to be a lingering cultural memory of human sacrifice in King Agamemnon's sacrifice of his daughter, Iphigenia; several of the stories of Trojan heroes involve tragic human sacrifice. This, however, is not based on firm archaeological evidences and seems to be all speculation.

Archaeological Evidence of Human Sacrifice in India

In ancient India we can follow the traditions of human sacrifice from the earliest texts up to modern times, where especially in eastern India goddesses, such as Kālī, were long worshiped with human victims. Reference to *Puruṣamedha* in the Ṛgveda has been discussed above (see n.39). A reference to such a sacrifice is available in other Vedic literature as well. Archaeological evidence to such a practice is also available. We would be discussing two important archaeological sites in this regard, viz. Kauśāmbī in Uttar Pradesh and Purola in Uttarakhand.

Kauśāmbī

While excavating the defence walls of the eastern gate of Kauśāmbī, the primary aim of the excavator, G.R. Sharma of Allahabad University, was to study the defences that surrounded Kauśāmbī. What was more surprising was the discovery of a massive brick altar in the shape of a flying bird (*Syena*) outside the rampart wall. This seemed, to the excavator, to be a site of human sacrifice (the *Puruṣamedha*) whose features he thought closely tallied with what was known about such rituals in Vedic literature. Probably it attracted the attention of Sharma because it was located at the foot of the outer edge of the fortifications that formed his primary focus. Sharma assigned it the date of 2nd Century BC (Śunga Period). Within the alleged five layers of the altar 'a large number of human skulls and bones of animals of different species, meticulously arranged' were found. (Sharma, 1960, p.118) In layer I the excavator found, inter alia, a 'human skull', 'the shell of a tortoise' and 'the iron model of snake'. (Sharma, 1960, p.122, Pl.III). Layer III 'yielded the largest number of bones with a preponderance of human bone': 'three complete human skulls, ten skull pieces and other skeleton material' (Sharma, 1960, p.122, Pl.IV). Summarizing, Sharma states that 'there is sufficient evidence to conclude that this fire-altar was piled up for the performance of the *Puruṣamedha*'. (Sharma, 1960, p.126).

However, Lal (1985) states that the so-called *Syenachiti* at Kauśāmbī is a brick mass fallen from the revetment of the defenses into the adjacent moat. Schlingloff has objected to Sharma's identification of the basis of the historicity of human sacrifice. Romila Thapar also does not agree to his identification.⁴²

Purola

An ancient massive brick altar at Purola in Uttarkashi District in the Central Himalayan region was identified by a team of archaeologists in 1986-'88.⁴³ The remains of the brick altar structure are situated on the left bank of river Kamal, a tributary of the major river Yamunā in the Purola town. Earlier findings by geologists and archaeologists in the region, including remains of a temple structure at Lakhamandal, *śyenachiti* at Jagatgrām and Challis rock edict of the Aśoka regime are well documented.⁴⁴ The first reference of brick-*iṣṭikā* appears in *Yajurveda* for construction of altars of different geometrical shapes and sizes to perform specific rituals. The excavated altar structure at Purola is in fact a *śyenachiti* measuring 24 m x 18m east-west direction and bears the shape of an eagle or hawk (the *Garuḍa* according to Hindu mythology). Various sizes of burnt bricks are reported for the construction of the *śyenachiti*, ranging from 80 cm x 50 cm x 11 cm to 50 cm x 50 cm x 11cm or even smaller.

Conclusion

On the basis of a detailed study of the representation of Primeval Water, Primordial Egg, Snake and Fish in the Proto-Indo-European and Indo-European art forms of circa 7000 BC to 4000 BC, Marija Gimbutas has rightly concluded that these representations are definitely associated with the cosmological myths of the Indo-European people. The parallels drawn from the Vedic literature and *Avestā* regarding the creation of the universe simply confirms the cosmogonic and cosmological associations of the above art motifs in the Indo-European contexts. A further study of the animals, plants and trees, both in the Indo-European art and Vedic literature, reconfirms the above parallelisms. It would, therefore, be not a mere fancy to conclude that the Vedic cosmological myths provide the foundational concept to the artistic representations found in the Old Europe of seventh and fifth millennium BC. Keeping in view the proto-Indo-European and Indo-European art representations discussed above it would not be unfair to conclude that Hinduism in India and Hellenism in Greece located at the two extremes of the Indo-European World have common roots in the Vedas. Evidences of human sacrifice (*Puruṣamedha*) and worship of snake goddess are available in the Vedic literature as well as in the archaeological findings of the Minoan-

Mycenaean Civilization. Cosmological affiliations of *Puruṣa* (Cosmic Man) and snake in the Vedic literature are crystal clear. Minoan Mycenaean archaeological evidences provide a proof of human sacrifice and worship of snake goddess. Since the cosmological affiliation of Snake in the archeological representations of the Old Europe discussed above has been admitted, and that the archaeological evidence of a North Italian *Puruṣa-Stella* from Bagnolo clearly provide us a proof of the concept of Cosmic Man (*Prajāpati*) of the Vedas, it would be logical to conclude that not only Hellenism but the entire Indo-European concept of cosmology and cosmogony of Old Europe has developed from the Vedas.

So far as Hellenism is concerned, we have already seen the interrelationship of Hinduism and Hellenism in the field of religion and philosophy from the sixth century BC onwards. These similarities are not simply accidental but are there due to the origin of both the religions from a common source i.e., the Vedas. Since a number of basic tenets of the Hinduism and Hellenism are common in the later phase of both the great civilizations and that both belong to the family of the Indo-European languages, it would be logical to surmise that both Hinduism and Hellenism have common roots in the Vedic culture.

Acknowledgement:

I am grateful to the Indian Council of Historical Research, New Delhi which enabled me to present this paper at the *Eighteenth International Congress of Vedānta (July 16-19, 2009)*, Center for Indic Studies, University of Massachusetts-Dartmouth, MA, USA, by providing the required financial assistance for travel to USA.

References:

1. MacDonnell (1995), *Vedic Mythology*, p.1.
2. See: Roy, Ramashraya, 1999.
3. See, Kirk, (1990).
4. See: Frazer, (1921).
5. See: Brown (1953).
6. Gimbutas, Marija, *The Gods and Goddess of Old Europe*, London; 1974
7. Dixit, Shankar Balakrishna, *Bharatīya Jyotiṣa Śāstra*, 1963, pp.136-40.
8. *Śatapatha Brāhmaṇa*, 2.1.2.2-3
'अथैता एव भूयिष्ठा यत्कृतिकास्तद्भूमानमेवैतदुपैति
तस्मात्कृतिकास्वादधीत । एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते । सर्वाणि
ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते'
9. Winternitz, M., *History of Indian Literature*, 1972,

- New. Delhi, Part I, pp.294-300.
10. Gimbutas, *op.cit.*, p.99, fig. 51.
11. *Taittirīya Saṁhitā*, 5.6.4.2
'आपो वा इदम आसन्न सलिलमेव स प्रजापतिः । पुष्कर पर्णी
वातोऽलेलीयत ।'
12. *R̥gveda*, 10.190.1 'ततः समुद्रो अर्णवः'; (cf. *Yajurveda*,
23.63; *Vālmikīya Rāmāyaṇa*, Yuddha Kāṇḍa,
104.23; *Mahābhārata*, Bhīṣma Parva, 1.24; *Vāyu*
Purāṇa, 7.57-58 'एकाणवि भवन्त्यापोः ।')
13. Gimbutas, *op.cit.*, pp. 103, 124, figs 57 and 84.
14. *Ibid*, p.103, fig. 68.
15. *Śathapatha Brāhmaṇa*, 10.1.4.9
'तस्मादाहुर्हिष्मयः प्रजापतिरिति तथैवैतद्वयजमानो रूपमेव
हिष्मयमन्त आत्मनः कुरुते' (see also, *R̥gveda*, 10.121.1;
Taittirīya Saṁhitā, 5.5.1.2)
16. Gimbutas, *op.cit.*, p.96, figs 54-55.
17. *Ibid*, pp.94, 96, figs. 58-60.
18. See, Nilsson (1971), Ch. IX Idols and Cults. For
The Snake Goddess and the Domestic Cult of the
Snake Goddess see p.321; The House of Snakes,
p.325 and the Nature of the Snake Goddess, p. 329.
19. *R̥gveda*, 2.7.6
'सर्पिरासुतिः प्रलो होता वरेण्यः'
20. *Aitareya Brāhmaṇa*, 5.2.3, 'इयं वै सर्पराज्ञीयं हि सर्पतो
राज्ञीयं वा'; *Taittirīya Brāhmaṇa*, 2.35, 'देवा वै सर्पाः ।
तेषामियं राज्ञी ।'
21. *Śathapatha Brāhmaṇa*, 7.4.1.25
'इमे वै लोकाः सर्पास्ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति'
22. *Maitrāyaṇīya Saṁhitā*, 2.7.201-3.
'नमो अस्त सर्वेभ्यो ये के च पृथिवी मनु ।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्वेभ्यो नमः ।।
ये इषवो यातुधानानां ये वनस्पतिनाम् ।
येऽवरेषु शेरते तेभ्यः सर्वेभ्यो नमः ।।
ये अमी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु ।
ये अप्सु षदांसि चक्रिरे तेभ्यः सर्वेभ्यो नमः ।।'
23. *Taittirīya Saṁhitā*, 3.1.1.1.
24. *Jaiminīya Brāhmaṇa*, 2.228.
25. Mashak, A; *The Cognitive Beginning of Man's First*
Art, New York; 1972, pp.169 ff.
26. Henze, Carl, *Mythes et Symboles Lunaires*, Anverse,
1932, p.113.
27. Gimbutas, *op.cit.*, pp.84, 110 fig. 141
28. Srejovic, D., *Europe's First Monumental*
Sculptures, New Discoveries at Lepensky Vir
London; 1972.
29. Gimbutas, *op.cit.*, pp.108-109, figs 72-76.
30. *Ibid*, p.110, fig. 75.
31. *Ibid*, fig. 74.
32. *R̥gveda*, 10.68.8
33. *Jaiminīya Brāhmaṇa*, 2.228
34. *Śathapatha Brāhmaṇa*, 1.8.1.1-2
35. Agrawal, V.S., *The Study of Matsya Purāṇa*,
Varanasi.
36. Dixitar, R.C., *Matsya Purāṇa : A Study*, p.14.
37. *Mahābhārata*: Bhīṣma Parva; 1.24; Karna Parva
95.5; *Matsya Purāṇa*, 2.3.
38. *Vendidad* 2.40; *Yast* 19.28; see also Bhattachary,
N.N., 1971
39. *R̥gveda*, 10.90.13-16
'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत ।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ 13 ॥
नाभ्या आसीदन्तरिक्षश्चीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां अकल्पयन् ॥ 14 ॥
सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्वयज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ 15 ॥
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वं साध्याः सन्ति देवाः ॥ 16 ॥
40. See: Petropoulou, 2008:
41. R.J. Buck, 'Mycenaean Human Sacrifice,' *Minos* 24
(1989) 131-137.
42. Schlingloff, 'Menschenopfer in Kauśāmbī', *Indo-*
Iranian Journal 11 (1968-69), p.188; Romila
Thapar (2000), 'The Archaeological Background to
the Agnicayan Ritual', p.27
43. Nautiyal, K.P. and Khanduri, B. M., *Purātattva*:
Bull. Indian Archaeol., 1988-89, 19, 68-69.
44. Nautiyal, K.P. et al., *Purātattva*: *Bull. Indian*
Archaeol., 1986-87, 17, 11-14; see also *Current*
Science, Vol. 85, NO. 10, 25 November 2003.

References and Further Readings

- Anthony Flew, 1979 : *A Dictionary of Philosophy*,
London, Pan Books.
- Baker, H.T., 2007 : 'Human Sacrifice, *Puruṣmedha*
construction-Agnicayana, Konds, Kaushambi, In
Bremmer, 2007, pp. 179-228.
- Bannerjee, G.N., 1995 : *Hellenism in Ancient India*,
New Delhi, Mittal Publications. (First Published in
1921)
- Bhattacharya, N.N., 1970 : *History of Indian*
Cosmogonical Ideas, New Delhi, Munshi Ram
Manohar Lal.
- Blackburn, Simon, 1994 : *The Oxford Dictionary of*
Philosophy, Oxford University Press, New York.
- Blegen, Carl W, 1928 : *Ziguries : A Prehistoric*
Settlement in the Valley of Cleonae, Cambridge, Mass.
- Bremmer, J. N., 2007 : *The strange world of human*
sacrifice, Leuven: Peeters Akademik, pp.186 ff.
- Brown, Norman O. 1953:
Hesiod: Theogony, Prentice Hall, New Jersey.
- Frazer, Sir James George (Translator), 1921 :

- Apollodorus. The Library.* Loeb Classical library Volumes 121 & 122. Cambridge, MA, Harvard University Press; London, William Heinemann Ltd.
- Gimbutas, Marija, 1970 : 'Proto-Indo-European Culture: The Kurgan Culture during the Fifth, Fourth, and Third Millennia BC.' in George Cardona, *et. al.* (eds.): *Indo-European and Indo-Europeans*, 1970, University of Pennsylvania Press, Philadelphia.
 - Gimbutas, Marija, 1970 : 'Proto-Indo-European Culture: The Kurgan Culture during the Fifth, Fourth and Third Millennia BC.' in George Cardona, *et. al.* (eds.): *Indo-European and Indo-Europeans*, 1970, University of Pennsylvania Press, Philadelphia.
 - Gimbutas, Marija, 1974 : *The Gods and Goddess of Old Europe (7000-3500 BC), Myths, Legends and Cult Images*, London, Thames & Hudson.
 - Hans Jonas, 1963 : *The Gnostic Religion*, Boston, Beacon Press.
 - Hastings, James (ed.), 1959 : *Encyclopedia of Religion and Ethics*, New York
 - Hughes, Dennis D, 1991 : *Human Sacrifice in Ancient Greece*, Routledge, New York
 - Kirk, G. S., 1990 : *The Nature of Greek Myths*. Penguin Books, London.
 - Lal, B.B., 1985 : 'The So-called Syenachiti at Kausambi : A Fallen
 - Brick Mass., *Purātattva*, No. 15 (1984-85), pp.95-104.
 - MacDonnell, A. A., 1995 : *Vedic Mythology*, Motilal Banarasidass Publications, Delhi
 - Mallory, J.P. & Adams, D. Q. (eds.), 1997 : *Encyclopedia of Indo-European Culture*, London, Fitzroy Dearborn.
 - Matthew Arnold, 1875 : *Culture and Anarchy*, London
 - Miller, Jeanine, 1985 : *The Vision of the Cosmic Order in the Vedas*, London, Routledge and Kegan Paul.
 - Nilsson, Martin P., 1971: *The Minoan – Mycenaean Religion and its Survival in Greek Religion* (2nd ed.), Biblio and Tannen, New York
 - Pande, U.C., 1992 : *The Cosmogonic Legends of the Brāhmaṇas*, Gorakhpur.
 - Parpola, A., 2007 : 'Human sacrifice in India in Vedic Times-Agnicayana, Prajāpati, Varuṇa', In Bremmer, 2007, pp.157-178
 - Petropoulou, Maria-Zoe, 2008 : *Animal Sacrifices in Ancient Greek Religion, Judaism, and Christianity, 100BC-AD 200*, Oxford University Press, Oxford
 - Roy, Ramashraya, 1999 : *Beyond Ego's Domain : Being and Order in The Vedas*, Delhi, Shipra Publications.
 - Sharma, G.R, 1960 : *The excavations at Kauśāmbī (1957-59): The defences and the Syenaciti of the*
- Puruṣamedha*, Dept. of Ancient History, Culture & Archaeology, University of Allahabad.
- Shashtri, Motilal, 1950 : *History of Indian Cosmogonical Ideas*, New Delhi, Munshi Ram Manohar Lal.
 - Thapar, Romila 2000 : *Cultural Pasts: Essays in Early Indian History*, New Delhi, Oxford University Press.
 - Tripathi, D.N., 2004 : *Hinduism and Hellenism*, Shimla, Indian Institute of Advanced Study, Rashtrapati Nivas
 - Yadava, B.R., 1987 : *Vedic Cosmogony*, Aligarh, Vigyan Prakashan.



Writing in the Vedic Age, Harappan and Aśokan writing

Prof. T.P. Verma *

Preamble:



In the present paper we discuss the question of art of writing during Vedic period, the Harappan writing system and creation of a script by Aśoka. All these topics are related to the knowledge of writing by the Hindus in antiquity.

It is generally believed that writing in India began in the Maurya period when Aśoka created a script in the third century BCE. His mode of address in edicts appears to confirm the conviction that he was inspired by the inscriptions of Achaemenian kings of Iran. According to Bühler the antiquity of art of writing in India, i.e. Aśokan Brāhmī, might go to as far back as fifth century BCE; many others who worked on the subject have been hovering around him. Bühler eliminated the possibility of writing in the Vedic age by saying that the sacred literature of the Aryans was not committed to writing because the Hindus do not believe writing and passed on their scripture by words of mouth from generation to generation.¹ At the same time he analysed the Vedic literature and noted that “there is nothing to bar the conjecture, repeatedly put forward, that, even during the Vedic period MSS. were used as auxiliaries both in oral instruction and on other occasions.”² But only the former part of his opinion got currency and little has been done on the latter. Here we intend to discuss the question of the knowledge of art of writing in the Vedic period. Connected with this is question of Harappan writing

system as there are ample evidences that this was the Vedic civilization and we Indians are the direct inheritors of legacy. Thirdly, connected with this is the question of the circumstances that led to the creation of a script in third century before Christian era by Aśoka which we know today as Aśokan Brāhmī.³

A

Writing in the Vedic Age

Popularity of Art of Writing in Ancient India:

Ancient literatures of the Hindus show that there was a consciousness about writing. There were no less than eighteen scripts prevalent in India at least in the third century BCE. They have also included names of scripts prevalent in other parts of Asia as well. This goes to prove that the Hindus were conversant with the art of writing since much earlier than this period. The Jain work *Samavāyāṅga-sūtra*, dated to about 300 BCE, contains a list of eighteen scripts while another Jain work called the *Paṇṇavaṇā-sūtra* of about 180 BCE also enumerates names of eighteen scripts.⁴ But the latter list slightly differs in names. This is not due to some discrepancy but was on account of the time gap between the two lists which rather goes to confirm the popularity of the art of writing in India. We can imagine that the time gap must have been much wider. The European scholars, due to their biblical bias of chronology have very miserly and conservative in dating Hindu literature. Even according to this estimation there can be no doubt that, in the third century BCE, when Aśoka was ruling, there were prevalent as many as eighteen writing systems. We have used this fact to visualise

* 397-A, Ganga Pradushan Niyantṛan Marg,
Bhagwanpur, Varanasi-221 005; e-mails:
tpverma2003@yahoo.co.om,
thakurpverma@gmail.com

that Aśoka did not create a script for him in a void. It also revealing that the Buddhist work, *Lalitavistara*, translated into Chinese in 308 CE contains names of as many as 64 scripts, showing the fast increasing popularity of art of writing in India. This also goes to prove that Aśokan script also must have included in the lists of *Paṇṇavaṇāsūtra* and the *Lalitavistara*.

As indicated above the Hindus were acquainted with the scripts of the then civilized countries in Asia. Dr. Raj Bali Pandey has analysed these names and noted that there are many names in these works that point towards the scripts of other countries of Asia including scripts of the Chinese, the Greeks, the Hūṇas, the Daradas, the Khasyas (i.e. Śakas?) and the people of Uttarakuru, etc.⁵ This again shows that Indians were much more conscious about writing than any other civilization of the contemporary world. This also negates the well propagated opinion of Bühler that "... the Hindus even at present, in spite of a long continued use of writing, esteem the written word less than the spoken one, because they base their whole literary and scientific intercourse on oral communications, and because, especially in scientific works, writing and MSS. are mentioned very rarely."⁶ Notwithstanding the propaganda of Western scholars it is obvious that in the time of Aśoka the art of writing was quite popular.

Obviously, all the writing systems of India must have found their base in the Sanskrit *varṇamālā*. They were not to feel crippled for the lack of systematic sound systems like the scripts of West Asia and Iran. This is to be underlined that phonetic arrangement of the cuneiform writing system of Iran, under the Achaemenian kings, was also mostly based on Sanskrit *varṇamālā* (though with only 23 signs), as most of the words used in their inscriptions are derived from Sanskrit, a common heritage of both the cultures since Vedic times. This fact has never been prominently emphasised by Western scholars.

Evidence from Ancient Literature:

Bühler⁷ points towards a number of evidences in favour of prevalence of writing during the Vedic age. According to him "Among Vedic works, the Vasiṣṭha Dharmasūtra, according to Kumārila (about A.D. 750) originally belonged to a school of the Ṛgveda, and which is younger than the lost Mānava

Dharmasūtra but older than the existing Manusmṛhitā, offers clear evidence for widely spread use of writing during the Vedic period. Vasiṣṭha in XVI, 10, 14-15, mentions written documents as legal evidence, and the first of these sutras is a quotation from an earlier work or from traditional lore." Bühler further refers to "... Pāṇini's grammar, which belongs to the Vedāṅgas, contains, besides the terms *yavanānī* mentioned above, the compounds *lipikara* and *libikara*, writer (III, 2, 21). ... In addition to these few certain passages, the latter Vedic works contain some technical terms such as *akṣara*, *kāṇḍa*, *paṭala*, *grantha*, &c., which some scholars have quoted as evidence for writing. ... Similarly, opinions are much divided with respect to the force of some other general arguments for the early use of written documents and MSS., drawn from the advanced state of Vedic civilisation, especially from the high development of trade and the complicated monetary transactions mentioned in the Vedic works, from the use of prose in Brāhmaṇas from the collection, the methodical arrangement, the numeration, and the analysis of the Vedic texts, and from the grammatical, phonetic, and lexicographic researches in the Vedāṅgas." But his European prejudice compels him to deny all these evidences by the remark "Though some of these points, especially the first and the last, undeniably possess considerable weight, they have yet not gained general recognition, as will always happen if an *argumentum ex impossibili* is used, even if it should be supported by fuller special enquiries than Sanskrit scholars have hitherto devoted to these subjects."

On the other hand he admits that "... on the other hand, there is nothing to bar the conjecture ... that, even during the Vedic period, MSS. were used as auxiliaries both in oral instruction and other occasions." He further supports this by adding "... as an argument in favour of this conjecture it is now possible to adduce the indisputable fact that the Brāhmī alphabet has been formed by phonologists or by grammarians and for scientific use."⁸

But, as we will presently see, the Aśokan Brāhmī initially was not devised 'for scientific use' as supposed by Bühler but it was created by some genius in the Mauryan court to record the dictates of the emperor which was in the local language spoken in the Pātaliputra region of Magadha and not for

writing Sanskrit with complicated conjuncts. This is evident from the steeply falling number of inscriptions after the death of Aśoka. This situation continued during the centuries that followed. Aśokan Brāhmī was used for writing Prākṛit languages in inscriptions of Khāravela in Orissa and of the Sātavāhanas of Andhra and Maharashtra, and also by the people who donated in construction of Stūpas like Bharhut and Sānchi. I have dealt with the subject in my work on post-Aśokan Brāhmī script.⁹ It was the Kardamaka dynasty of Rudradaman who used this script for writing his famous Junagarh Rock inscription in chaste Sanskrit prose. In other parts of country it took time to adopt it for writing Sanskrit language.

Importance of Akṣara:

Writing is visual form of spoken speech, and therefore there are two basic elements in any writing system: i) sound and ii) sign. It is only the Vedic civilization where language was systematically analysed phonetically. They have determined the smallest unit of their language and called it akṣara, meaning further phonetic division of which is not possible. At a later stage it acquired the name varṇa. Every akṣara was phonetically analysed and classified in accordance with the place of its pronunciation in the mouth with the help of tongue. The Hindus fully recognised the role of the vocal cord in the throat also. This came to be known as *akṣara-samānāya* and/or *varṇa-samāmnāya*. Once the phonemics of a language is determined there can be no problem in creating a writing system by providing visual sign to each phoneme. Vedic Prātiśākhya are the treatises on phonemics. Śikṣā, one of the vedāṅgas is devoted to the teaching of pronunciation of Vedic texts. No other civilization could even touch the fringes of their achievement in this field.

The European scholars failed to recognise this basic factor of writing system consequently their enquiry has gone in wrong direction. They give emphasis to the visual signs which is the secondary element in a writing system. Obviously, there had been no systematic work in the field of phonetics in any other civilization of antiquity. They derived the Aśokan Brāhmī writing with squinting eyes by comparing individual signs on the pattern of West Asian scripts.

Pre-Rgvedic Language in Taittirīyaśamhitā:

In the Vedic literature there is evidence about the pre-Rgvedic language which was codified by Indra. This must have been the primordial language used by the early man. In India we call it Prākṛit (natural) as against Sanskrit (refined or cultured). It is a wrong assumption that the Prākṛits evolved after the Sanskrit.¹⁰ The *Taittirīyaśamhitā* relates a page of early history of humanity when people spoke natural language and were not restricted by grammatical rules. There seems some sort of chaos prevailing in word pronunciation and sentence construction. It is pertinent to point out that man descended on this earth with fully developed organs of speech in his body and he got speech through divine inspiration. Language is always associated with the thinking process; simply producing sound from the throat, as is done by all other species of animals, cannot be considered language. However the story narrated in the *Taittirīyaśamhitā* (6.4.7.3) is quite interesting for the study of language among human beings.

There it is said that 'In ancient times speech was without grammar (*avyākṛt*). Then the *devāḥ* asked Indra to codify this speech for them. Indra wished for a boon that 'Vāyu should hold it (=speech) in the middle for him. Then Indra codified the speech (*vāg*) by holding it in the middle by Vāyu.'¹¹ Hence language is called *aindravāyavaḥ*.¹² Here the help of Vāyu 'to hold the speech in the middle' is of seminal importance in the history of linguistic studies because this is the first ever mention to codify a language and create a grammar for it by analyzing it phonetically. The grammar of Indra (*Aindra-vyākaraṇa*) is well known but only a little has survived to us. This incident of codification should be visualised as the immense work of surveying and sorting out spoken language/s and standardize (i.e. to refine) it. This primordial language, as stated above, was some sort of Prākṛit which was desired by the Devas to be refined (*Sanskrit*) by Indra who is known as the first grammarian. Indra undertook the job and systematically analysed and standardized it. The help of Vāyu in the process clearly indicates that the language was phonetically analysed. In this process, first the spoken phrases might have been analysed into words then these words would have broken into smallest units which were called '*akṣaras*' (i.e. non-destructible) or, phonetically further division of which is not possible.¹³ These, later on, were given the name *varṇa* (the coloured ones) when the

process of writing with ink came into vogue. The whole alphabet was collectively called '*Akṣara Samāmnāya*' and '*Varṇa Samāmnāya*' (or, '*Varṇamālā*'). The initial varṇa was 'a'. The *Taittirīya Prātiśākhya* defines 'varṇa' as 'That describe and pronounced are varṇa beginning from 'a'.¹⁴ Thus the concept of varṇamālā, with vowels and consonants came into existence where every consonant was supplied with the initial vowel 'a' because a 'varṇa' could not be uttered without the help of a vowel; and 'a' was the initial vowel, other varṇas are its extension or *vikriti*. This is the most scientific arrangement that has come to us without much modification since millennia. The vedāṅga called '*Śikṣā*' and *Prātiśākhya*s are devoted to the phonetic analysis where the place of the origin of each individual 'akṣara' in the mouth was determined. It is to be noted that in the process of speech the tongue plays vital role. The flexible tongue in human mouth differentiates him from other animals and this special organ is enumerated as one of the five *karmendriyas* (work organs). In many languages it has become the synonym of language. All other animals and birds cannot use their tongue to produce sounds that can be called a language. Language necessarily involves thinking process. This is the quality that separates man from animal. It is wrong notion that man acquired/learned language through imitation of animals and birds. It is also futile and waste of labour to train animals to learn language. This was long recognised by Vedic people and entire Ṛgveda is full of praise of speech because the *ṛṣis* (seers of hymns) realised its importance at very early stage of human history.¹⁵

The Ṛgvedic people were acquainted with 'akṣara' because every verse was metered by counted 'akṣaras'. There are in all fifteen meters used in the Ṛgveda, like *Triṣṭubh* (4x11 akṣaras), *Gāyatrī* (3x8) and *Jagatī* (4x12), etc., this shows that the 'akṣaras' have already been identified in words and defined and codified by Indra by the time when these hymns were composed. The phonetic science of the Vedāṅga '*Śikṣā*' is a definite proof of the existence and use of a complete system of 'varṇamālā' in the period of Ṛgveda. This science had reached culmination in the *Prātiśākyas* of different branches of Vedic studies. So far only six of these have come to us.¹⁶

It is important to note that in this counting of 'akṣaras' in a verse 'mātrā' i.e. time taken in

pronunciation of long vowels is not considered; this is later development with the classical Sanskrit which made the job easy. In pre-Ṛgvedic times this cumbersome exercise was done by Indra as mentioned in the *Tittirīyasamhitā*. The *Aindra-vyākaraṇa* (grammar of Indra) was very comprehensive and compared to ocean. Devabodha, a commentator on the *Mahābhārata* has noted the size of the grammar of Pāṇini was a cow-hoof in comparison with the grammar of Indra which was like an ocean.¹⁷ However, we can conclude that to create a writing system based on a perfect alphabet is no problem. It was created by the Vedics but without compromising with the pronunciation. This, perhaps, made the script cumbersome that resulted in its going into oblivion, as explained below.

Evidence of Writing in the Ṛgveda:

There are two stages of writing that were prevalent in ancient world. It, perhaps, began with incising letters on hard material or impressing on wet clay tablets as we find in ancient civilizations of West Asia. In the Ṛgveda the word '*takṣaṇa*' is used for writing. Ṛgveda (IX. 97. 22), refers to 'incise speech' (*takṣat vāk*).

This mode of writing continues even today. During the Buddhist period *Vinayapīṭaka* mentions the word '*chinda*' for incising. Bühler notes "The *Pārājika* section of the *Vinayapīṭaka* (3, 4, 4) declares that Buddhist monks shall not "incise" (*chind*) the rules which show how men may gain heaven, or riches and fame in the next life, through particular modes of suicide. From this passage it follows (1) that the ascetics of pre-Buddhistic times used to give their lay-disciples rules, incised on bamboo or wooden tablets concerning religious suicide, which ancient Brahmans and Jainas strongly recommended, and (2) that the knowledge of the alphabet was widely spread among the people."¹⁸

These instances of incision referred by Bühler can be applied to the writing in the Vedic period because manuscripts might have been incised on some durable material. The practice of incision continues till date as metal plates like copper etc were and are still used for donation and eulogies. As said earlier, perhaps, till this stage the alphabet was known as *akṣara*. The word *varṇa* (colour) for letter is unknown in the Ṛgveda. This can be seen in the light of Harappan writing incised on steatite seals

etc. This practice of incising letters continued for writing on *tāḍa-patras*, and on metals like copper and gold etc. in historical period. This explains the absence of the terms *varṇa* (for letters) and *lipi* (for writing) in the Vedas.

At a subsequent stage writing with colour began and then *akṣara* acquired the name *varṇa*. Now the use of wet colour or ink can be gleaned responsible for the words like *lipi*, *libi*, *likha*, *lekhā*, *lekhaka* &c. European scholars vainly were in search of the word *lipi* for writing in Vedic literature and declared that the Vedic people had no writing system. It is a modern myth created by Europeans that word *lipi* was borrowed from Iranian word *dipi*. The word *likha* was used for painting pictures also; the practice still continues. Women folk use this word for painting on wall at ceremonies like marriage etc.

Śrottriya Akṣaras:

We have found the word Śrottriya for writing in literature which definitely shows that the Vedic priests had their own system of writing and that was known only to a very selective group of people. This system continued till at least the Gupta period. This writing was called '*Śrottriya akṣarāṇi*' in the drama '*Mudrārākṣasa*' of Viśākhadatta ascribed to the Gupta period. In the first act of the drama a disciple of Cāṇakya hands him over a '*mudrā*' (seal) of Rākṣasa. This triggers a plan in latter's mind to trap Malayaketu an ally of Rākṣasa through it. He prepares a letter in this writing of the Vedic brāhmaṇas (*Śrottriya akṣarāṇi*) and asks his disciple to get it rewritten, because of its obscurity, in the prevalent script of his times in the hands of Śakaṭadāsa. Here Cāṇakya says 'Śrottriya akṣaras, though written with much effort, are of definite pronunciation' (*Śrottriya akṣarāṇi prayatnalikhitānyapi niyata-sphuṭāni bhavati*).¹⁹ Here he points out two features of the Śrottriya system of writing: i) this was written with much effort or care, and ii) it had definite pronunciation.

This shows that there was a system of writing till, at least, the Gupta period that was used by the Vedic priests, i.e. the Śrottriya brāhmaṇas. It had become very scarce by the time of Viśākhadatta and only a few could read and write it; Cāṇakya and Śakaṭadāsa were few among them. The '*Śrottriya*' writing system perhaps was very complicated one for they emphasise on correct pronunciation. It must

be noted here that the Vedic brāhmaṇas never favoured the Vedas to be committed to writing because it was feared that through this the exact meaning of the Vedas might be lost forever.²⁰ In this context we may recall Bühler's contention that 'even during the Vedic period, MSS. were used as auxiliaries both in oral instruction and on other occasions.'²¹ This is not unlikely.

Let us again repeat that with the classification akṣaras by Indra, the creation of a system of writing was not a difficult job. If there is an instance of '*takṣana*' of vāk in the Ṛgveda²² and if there is an allusion in AV of 'placing the Veda in the box from which it was taken out'²³ and if there is an allusion of 'seeing the vāk'²⁴ there can be no bar in assuming that writing was known to the Vedic people for profane literature, if not for the sacred hymns. The Sanskrit language has complicated conjuncts that require special skill and attention for writing. If we can scare our mind from writing Vedic hymns it is not difficult to imagine that in other walks of life writing was a necessity for the advanced society of the Ṛgvedic period. Even then emphasis on correct pronunciation of the language cannot be ruled out in all writing systems. The evidence of Śrottriya writing, cited above, is indicative of the fact that it was used by the Vedic priests for writing Vedic literature other than the *samhita* portion.

Today we use diacritics to emphasise *hrasva*, *dirgha* and *plut* pronunciations while writing Vedic hymns in Nāgari script. We know that Nāgari was evolved from the Aśokan Brāhmī which was created for writing Prākṛit languages, not for Sanskrit. Gradually it was adopted for writing Sanskrit by creating new signs. The diacritics to pronounce Vedic hymns are adopted these days. However, a few years ago a sign to write the *gum* or *gvam* was used in printing which resembled the inverted Greek letter omega with a dot above. Now it has been abandoned in modern printing. A similar sign frequently appears in the Harappan script. But we are not sure if the *gum* sign has something to do with Harappan script.

Brāhmī tops all the lists found in literature that shows its importance and sacred nature. This was the most revered script of ancient India. The Bhagavatīsūtra begins with the salutation to the Brāhmī (*namo bambhiye liviye*). The Jaina tradition

relates that this script was invented by Ṛṣabhanātha to teach his daughter Bāmbhī. In China also there is a tradition about Brāhmī. The Chinese encyclopedia *Fa-Wan-Su-Lin* (composed in 668 CE) notes that the invention of writing was made by three divine powers; the first of these was Fan (Brahmā), who invented the Brāhmī script, which runs from the left to the right; the second divine power was *Kia-lu* (*Kharoṣṭha*) who invented Kharoṣṭhī, which runs from the right to the left, and the third and the last important was *Tsam-ki*, the script invented by whom runs from the top to the down. The encyclopedia further informs that the first two divine powers were born in India and the third in China.²⁵ That India and China were in mutual contact is evident from this evidence; we have already noted mention of Chinese script in the Jain lists.

But the most important issue is the identification of the Brāhmī script of these lists; no doubt it was the most respected name among writing systems of Asia. Undoubtedly it was used in writing sacred scriptures of the Hindus, that may be the Veda itself, and/ or, alternately related literature. It is tempting to relate this name with the writing system discovered from Harappan civilization because there are definite proof that it was the Vedic civilization. But, however, there is one difficulty in this assumption. The Harappan script is found written on seals that were used for trade and commercial purposes. This deters us from giving the sacred name Brāhmī to it. As this is evident from a large number of scripts prevalent in ancient India it is no wonder if the Harappan writing was another variety of the script of Vedic specie.

B

The Harappan Script

Great Controversy:

The Harappan script remains undeciphered even after ninety years of its discovery. After several years of efforts some Western scholars have accepted failure. In their desperate article 'The Collapse of the Indus Script Thesis: The Myth of a Literate Harappan Civilization' (in *Electronic Journal of Vedic Studies*, 11:) three frustrated scholars, Steve Farmer, Richard Sproat and Michael Witzel declared in 2004 that the Indus symbols might not have been intended to encode speech at all, but might instead be a system of religious,

political and social symbols not tied to any particular language. And that the Indus Civilization was not in fact literate and never used a linguistic system of writing. However, no one can object to having such opinion in academic world, but the problem arises when they try to impose their researches and compel others to follow it. There are at least two such instances which we wish to put before the readers.

1. Instance of Dr. Bryan K. Wells: I received an email on March 9, 2012 from Dr. S. Kalyanaraman of Chennai which reveals the incident that happened with Dr Bryan K. Wells of Harvard University. Dr. Kalyanaraman writes:

As I read through Bryan K. Wells, 2011, *Epigraphic approaches to Indus writing*, Oxford and Oakville, Oxbow Books, some disturbing points emerge, related to academic prejudices in adjudicating a student's contributions.

In the Foreword to the book, C.C. Lamberg-Karlovsky, makes some incisive observations and comments on how Bryan's doctoral dissertation was dealt with in the academic setting of Harvard University: "Bryan Wells...came to Harvard as a graduate student intent on continuing his study of the Indus Civilization and its script...He was, and remains, committed to the idea that the Indus script represents writing and its decipherment will lead to an understanding of its texts and language. He did not think that at Harvard his dedication to this goal would meet with resistance. It did. This volume is a substantially revised edition of his doctoral dissertation. Bryan's dissertation committee consisted of myself as Chair and Dr. Richard Meadow and Prof. Michael Witzel. A near final draft of his dissertation was rejected by Meadow and Witzel. Bryan was required to return from Germany to confront and ostensibly to correct and address its shortcomings. The basic problem was the Prof. Witzel, influenced by Steve Farmer, had concluded that the Indus script was neither writing nor representative of language.

Steve Farmer believes the Indus signs to be magical symbols. In light of Prof. Witzel's strong commitment to the non-writing nature of the Indus script Bryan's effort was deemed spurious and unacceptable. Richard Meadow, less strident in his view as to the nature of the Indus script, nevertheless advised Bryan to 'tone down' his view that the Indus represented 'writing'. Approximately six weeks were spent a Prof. Witzel balked at any mention of the Indus being a script and having a logo-syllabic nature. He insisted that Bryan substitute the word 'marks' or 'symbols' for script. He was initially in opposition to the entire thesis. A Professor's opinion, which, in this case is a minority view within the profession, should never be used to

impose or prevent an alternative hypothesis from being addressed by a Ph.D. candidate. It was not as if Bryan was addressing an untenable, absurd hypothesis. He was to spend weeks of uncertainty, anxiety, and, in a state of near depression he puzzled over what to do. The consternation endured and expenses incurred effects his entire family. ” (pp.xiii-xv)

2. Instance of Lucy Zuberbühler: The other instance occurred in November 2011 when the news on internet spread about a graduate dissertation on Indus manuscript by one Lucy Zuberbühler of University of Bern. It is entitled “*A Comparison of a Manuscript with the Indus Script*” (2009). This generated stir among academic circles.

This manuscript in seven lines on a rugged piece of birch bark belongs to the Sultani Museum in Kabul, established by a gold trader by the name of Ahmad Shah Sulatni 'only five years ago'. Its photograph is exhibited in the 'Western Himalaya Archive Vienna 2009' from which Lucy produced her thesis. The MSS. was found contained in a wooden box on the lid of which there is a sixteenth century painting of three horsemen playing polo. (Figs. 1-2) The writer of the thesis holds “This could possibly indicate that the inscribed object dates from the same time period, which would not necessarily imply, that the text itself was not an Indus script composition. It would merely mean that the text was perhaps repeatedly copied over time from an Indus original.” The other important feature, as anyone can note from the attached figure, is that there appear several layers of the birch bark, as seen from the bottom left corner photograph which, on scientific treatment of material may reveal some more pages of writing. (Fig. 3)

The publication of this dissertation on internet was while welcomed in some academic circles, the trio of these Western scholars was not happy. There can be no objection to the conclusion they reached; but problem arises when someone expects that his disposition should be followed by all other scholars in the world. Steve Farmer declared on the internet that “The girl who wrote the thesis (Lucy Zuberbühler) herself has posted on the List, sending a note to me and Richard Sproat saying that she knows it is forgery and apologizing for all the trouble this has stirred up.”

Obviously, it is not difficult to imagine what might have happened behind the curtain because in her very balanced 55 page dissertation there is not a

single line that slightly indicates this supposed knowledge of 'forgery'. On the contrary she writes (p. 13) “A radiocarbon dating test would be able to ascertain the age of the artifact, but none could be performed in conjunction with this bachelor thesis. Therefore, it is also impossible to establish whether or not the object is in fact a forgery. For this reason the artifact will simply be assessed as if it were authentic and all scenarios remain open.”

But, however, such assertions could not stop the zeal of research on the Kabul manuscript (and Indus script) because one Mr. Daniel F. Salas published a note with figures in October 2012 on internet which runs as follows:

I have been asked is the Kabul manuscript a forgery. The Kabul manuscript's first line shows a direct influence of the Indus Valley seals, there are five exact matches much show a relationship to the humped bull seals. For the manuscript to be a forgery the forger would have to dig up Indus seals and to string them together, here the question is when was the manuscript written, was it written before there was a knowledge of Indus Valley or before excavating in 1920s. My thoughts are the manuscript was older than 1920 and ties to the humped bull validate the author as having prior knowledge that is impossible to make up or create a forgery.

He then gives a comparison of written text on a humped bull seal and signs from the first line of the manuscript. (Fig. 4) Obviously the claim of the manuscript being a recent forgery, say of 2005 is ludicrous.

We the Direct Inheritors:

In this context we must point out that the people of India are the direct inheritors of legacy of Indus writing. For example, I myself have used a wooden plank called *takhtī* during my childhood for learning alphabet at primary stage. Similar *takhtīs* (writing tablets) in terracotta have been discovered from Mohenjodaro (fig. 5).²⁶ That this type of writing tablet continued through the ages is attested i) by a third century BCE terracotta plaque from Yamuna Nagar, which depicts a child pointing out one of the Brāhmī alphabets written on a *takhtī*, (fig. 6); and ii) a copperplate with inscription of Gupta age found from Chainpur village near famous Muṇḍeśvarī hillock, (Fig. 7) published by the present author,²⁷ also is of similar shape, and iii) a copperplate of the Maukharī king Īśānavarmā in sixth century writing (Fig. 8).²⁸

This continuity of writing material leaves no doubt that Harappan practice of writing continues till date and that those who declared in 2004 that 'the Indus symbols might not have been intended to encode speech at all, but might instead be a system of religious, political and social symbols not tied to any particular language' are frustrated scholars. Their assertion that 'the Indus Civilization was not in fact literate and never used a linguistic system of writing' is ridiculous.

We conclude our discussion on Indus writing with the remark that we would have to wait till its decipherment. There is no doubt that the Indus civilization continues till date with many of its features.

C

The Aśokan Brāhmī

From the above discussion it is evident that during the Ṛgvedic age there might have prevalent more than one script as we know for certain that several writing systems were in use in the 300 BCE, and also that names Brāhmī and Śrotriya for scripts point out towards this fact. This assertion gains ground that the vedāṅga called Śikṣā and the Prātiśākyas of the different Vedas have scientifically analysed the phonemes of the Vedic language that resulted in recognition of akṣaras. With the existence of a well developed and scientific alphabet there can be no difficulty in creation of a writing system by devising signs for them. The other writing systems of ancient world have given preference to the signs only and neglected the sound analysis of their languages resulting in poor phonetic representation in script. We have also seen that the Harappan tradition of writing on wooden plank continued through the ages till present period showing the continuity of art of writing from that period. The lists of a number of writing systems in the Jain and the Buddhist literary sources go to prove that Bhāratiya society was literate since the Ṛgvedic times. It is irony of history that the only writing system that has survived to us was devised quite late in the reign of King Aśoka of the Mauryan dynasty. George Bühler, the first scholar who produced a first systematic treatise on the subject, selected the name Brāhmī for this script from the lists mentioned above. The reason for the survival of the Aśokan script was its simplicity which was

created to record the verbal edicts of the Emperor in local dialect spoken in the Pataliputra region of Magadha. The reason for extinction of other scripts can be discerned in their complicated nature emphasising on correct pronunciation of the Sanskrit words. This resulted in their falling into disuse gradually.

Creation of a new script by Aśoka:

In the following pages we are propounding entirely a new thesis for the origin of the Aśokan Brāhmī script. Here we will discuss the circumstances that instigated Aśoka to devise a new script for recording his speech delivered in Varanasi at Sarnath on the occasion of placing the relics of the Buddha on a platform for worship at the culmination of his 265 night-halt pilgrimage with the relics collected from eight original stūpas.

The history of Aśoka's visit to Varanasi in the eleventh year of his reign is not found written in the history books but it is a truth that has been deduced by the present author from his Minor Rock Edicts. It is the Ahraurā edict which reveals that on this occasion he placed the relics of Buddha on a platform for worship and delivered a sermon that '*dhamma* will increase at least by one and a half times' and that 'every one, big or small, can attain *svarga* by following *dhamma*'. This was the most glorious moment in the history of our country because this inspired Aśoka to decide for the creation of a new writing system which we know today as Aśokan Brāhmī. He was so enthusiastic with this event at Sarnath, Varanasi that he decided to record the account of this 256 night-halt pilgrimage as well as his speech on hard material like rocks and pillars throughout his empire. But obstacle in the endeavour was that he insisted on writing in the local language in which he had delivered his famous speech; not in Sanskrit, the language of administration. For this he had to create a new writing system, nay, at least two systems that we know today as Brāhmī and Kharoṣṭhī. Among these the former was adopted to writing in roughly the present territories of independent India, i.e. Bhārata while other, Kharoṣṭhī, carved its way in present Pakistan and Afghanistan up to Central Asian countries.

Aśoka's Ahraurā Edict:

However, Aśoka's visit to Varanasi (Sarnath), as stated above, is inferred from his Minor Rock Edict

(MRE) at Ahaurā near Varanasi. Here Aśoka records in the last sentence “This sermon (*sāvana*) was delivered (by me) (while) on tour of 256 night-halts (when) Buddha's relics were placed on this platform (and worshipped)”²⁹ (*esa sāvane vivuthen due sapamñā-lāti-sati aā mañ[che] Budhasa salīle ālodhe[ti]*). This eleven line epigraph is one of the most damaged MREs of Aśoka but fortunately the last five lines are preserved which are of utmost historical importance. Here the mention of 'this platform' (*am mañche*) is very important because it points out that the event took place somewhere in the vicinity. Ahaurā is the nearest natural rocks in the neighborhood of Varanasi (about 35 kms.). It needs no imagination to note that the king is referring to Sarnath where he is known to have established the Dharmarājikā-stūpa with the relics of the Buddha. Near the site of the engraved inscription in Ahaurā is a modern temple of Bhāṇḍārīdevi. This deity might have been in worship at the time of Aśoka and name Bhāṇḍārīdevi is befitting this fertile piece of land which is surrounded by hills. Aśoka perhaps selected this spot for his inscription for it was frequented by pilgrims. For his other edicts also only such places were selected.

In this paper we have liberally based on the available data in Aśokan inscriptions to reach conclusions but these are not against the norms of historical thinking for deriving inferences, therefore these are now the part of the history that could not be recorded so far. For example no scholar has speculated about the date (*tithi*) of the beginning and end of the pilgrimage of Aśoka but we have pointed out a plausible *tithi*. Similar is the case with the circumstances that lead to the decision of creating a new script to record this event. Prevalence of good number of scripts in about 300 BCE was also known from the Jain and Buddhist sources since Bühler published his work on palaeography of India in the last decade of nineteenth century but no one has ever utilised this information to pointed out that this was the period when Aśoka was ruling and that his script was not created out of nothing. We are also first to point out that there are two elements in any writing system, i.e. sound and sign, and it is the phonetic analysis that is vital for any writing system, and that with a scientific varṇamālā, it is not difficult to create a new form of writing; that is exactly what Indians have been doing since the time

of R̥gveda. But, however, they were too insistent on maintaining phonetic elements in writing for which they devised difficult combination of signs. On the other hand the script created at the instance of Aśoka was initially quite simple without much emphasis on depiction of low and high pitch of pronunciation and complicated conjuncts of Sanskrit language.

A word about the chronology of the promulgation of Aśokan edicts will be pertinent here. It is admitted by many that the Minor Rock Edicts were the earliest to be engraved.³⁰ The set of fourteen Rock Edicts, being recollections of the king about his efforts towards *dhamma* during his reign, were drafted and engraved next and the Pillar Edicts were the last in the series. The language of edicts shows that these were dictates by the emperor. It was the Māgadhī of Pāṭaliputra region. But it would be wrong to assume that this was the official language of the Maurya administration during Aśoka's time, and that Sanskrit was not used as advocated by H.C. Raychaudhuri while dealing with the date of Arthaśāstra.³¹ The official language of the administration during Maurya period was Sanskrit as evinced by Arthaśāstra of Kauṭilya.

Archaeology of Sarnath:

The two stūpas at Sarnath are remains of Aśoka's pilgrimage to Varanasi which was administered directly from Magadha since the time of Bimbisāra and Ajātaśatru.³² This was the reason Aśoka addresses to the Mahāmātras of Pāṭaliputra in his Sarnath pillar edict, not to the local authorities. This pilgrimage of 256 night-halts at various places in his empire culminated at Sarnath where he placed the relics of the Buddha on a platform (*mañcha*) at the spot which is now known as Dharmarājikā-stūpa on a stūpa was raised to mark the spot. Now the stūpa has extinct, only the foundation remains. This is situated to the south of the Mūlagandha-kuṭī from where the Lord Buddha is said to have turned the Wheel of Law into motion (*Dharma-chakra pravartana*) a few centuries earlier. Another platform was built about a hundred metre to the east of this place for the Emperor to address the people on the occasion. From here Aśoka delivered the famous Sermon (*sāvana*), recorded in all his MREs, and wished that the Dharma will increase at least one and a half times. This desire-making platform was perpetuated by building a stūpa called the Dhamekha (=Dharmekṣā or desire for Dharma)

which is at present the most dominating structure at Sarnath. Cunningham had excavated Sarnath from December 1834 to January 1836. It is said that he bored a hole into this stūpa and found no relics deposited inside. Only, at the depth of three feet from the top he discovered an inscribed stone containing the famous Buddhist formula 'ye dhammā hetu pabhavā' etc. in 6th century script.³⁴ Thus the Dhamekha is only a commemorative stūpa. The desire of Dharma (*dharmekṣā*) by Aśoka preserved in the name Dhamekha lingered in the memory of the people though the event attached with this is forgotten. Perhaps the yearly *melā* on Buddha Pūrṇimā day is a continuum of the event. (Fig. 9)

As per our estimation the Ahraurā was the first ever edict of Aśoka engraved on a rock. Though copies of this edict were sent throughout the empire but Ahraurā is the only edict to mention the original intent. Professor K.K. Thaplyal has noted that seventeen copies of this record were known to have come to light from different parts of the country till 2009. The eighteenth one was discovered by a team of scholars of Jñāna Pravāha, Varanasi, on 15th of January 2009 from Ratanpurwa, Bhabua district of Bihar, on the UP-Bihar border in Kaimur ranges. This is the 18th MRE of Asoka.³⁵ The Sahasram in Rohtas district (Bihar) and the Ratanpurwa in Bhabua district (Bihar) are recovered with more or less complete text but the Ahraurā MRE in Mirzapur district of UP is much damaged, perhaps because it is so close to the habitation. Only 5 last lines of this eleven line epigraph are preserved and most of the lines from 1 to 6 are damaged.

The Discovery of Ahraurā MRE:

The discovery of Ahraurā edict was announced by Prof. G.R. Sharma of Allahabad University in news papers on 11th November 1961. However, Prof. A.K. Narain of Banaras Hindu University claimed that it was discovered and reported by R.G. Pandey of ASI much earlier. Prof. Narain published an article in the *Bhāratī*, (Research Bulletin of College of Indology, Banaras Hindu University) No. 5 Part I (1961-62) pp. 97-105. Prof. V.V. Mirashi also contributed an article in the same issue on pp. 135-40. Later Prof. D.C. Sircar treated the subject in his detailed article in *Epigraphia Indica* volume XXXVI (1965-66), pp. 239-48.

According to Professor Sircar "The great

importance of the Ahraurā version of Minor Rock Edict I is that it begins and ends differently from any of the other known versions. Unfortunately, as indicated above, the earlier part of the record is damaged, so that it is not possible to determine the correct reading of this section; but it is a matter of great satisfaction that the reading of the concluding part, which is of exceptional interest, is beyond doubt."³⁶

Thus undoubtedly this is the earliest edict of Aśoka but before we proceed on the subject it is necessary to talk about the 256 night-halts pilgrimage of Aśoka that inspired him to take steps that greatly influenced the course of history of India.

Background of Aśoka's Pilgrimage:

In his 13th RE Aśoka recalls that 'in the 8th year of his reign he conquered Kalinga, and in this war one hundred thousand people were killed and one and a half times of these one hundred thousand people were displaced.' His heart-felt grief over this misery of the people and the futility of conquest by war is recorded in this RE.³⁷ This, again, is reflected in the administrative instructions given to the Mahāmātras of Tosali in his separate Rock Edict. And in Samāpā, modern Jaugada, there is another separate RE.³⁸ These two separate edicts give a glimpse of Aśoka's mind on this tragedy. That Tosali was the capital of Kalinga, and that was visited by Aśoka, is confirmed by the Hathigumpha inscription of Khāravela. Here it is claimed that three hundred years ago 'Nandarāja' excavated a canal and brought it to Tanasuliya (Aśoka's Tosali) the capital.³⁹ I have identified this Nandarāja with Aśoka because his grandfather Chandragupta is repeatedly called *Nandānvaya* (a scion of Nanda family) in the *Mudrārākṣasa* Nāṭaka of Viśākhadatta. In later Indian literature also the Mauryas are known as belonging to the family of the Nandas.⁴⁰

Aśoka contemplated on the issue for almost two years. This inclination towards spirituality attracted him to the teachings of the Buddha. But, as a king, he preferred his duties towards his people than his personal spiritual gains (mokṣa) by becoming a monk. He made several changes in his personal life style and eating habits.

But however there seems some confusion about the dates of his pilgrimage of 256 night-halts, the subject of all his MREs. We have mentioned that he conquered Kalinga in his eight year. In the eighth

Rock Edict he states that in the tenth year of his reign he visited Bodh-Gaya and from where he begins the *dharma-yātrā* or pilgrimage⁴¹ (of 256 night-halts). This is confirmed by his confession (recorded after the end of the pilgrimage) that 'I have been *upāsaka* since more than two and half a year (*adhikāni adātiyāni vasāni ya hakm upāsake*) but could not do much effort towards Dharma for one year (*no tū kho vādam prakante husam ekam samvacharam*) but since more than a year I have done much after coming to the Saṅgha (*sātireke tu kho smvachareyam mayā saṅghe upavīte bādam ca me palakānte*) (Brahmgiri version). This gives a fair account of the period of 'more than two and half a year'. Out of this period he was not so active for a year, then he came to Saṅgha (i.e. Sāmbodhi) and from there he started for the pilgrimage (*dharma-yātrā*) of 256 night-halts with the relics of the Buddha that culminated at Sarnath on the Buddha-Pūrṇimā night, the birthday of the Lord. This is the subject matter of all his MREs with minor variations. Thus the pilgrimage of Aśoka took place in his eleventh regnal year. There seems some error of calculation when Dr. Sircar asserts that it took place in the thirteenth regnal year.

Dr. D.C. Sircar restores the fragmentary Ahraurā MRE with the help of Sahasrām and Rūpanāth versions as follows “*sādhikā [ni adhatiyāni am upāsake sumi na] cha bāḍham palakānte [.] [samvachhale sādhike aā sumi hakam saṅgha upeta bāḍham] cha palakānte [.]*” He elaborates it as follows:

“These two sentences show that, when the edict was promulgated, Aśoka had been an *upāsaka* (lay follower of the Buddha) for a little over two and a half years, that he was not zealous [in the matter of Dharma at first] and that he became zealous [in the matter of Dharma] for a little over one year [about the end of the said period of a little over two and a half years]. Thus there is mention here of three periods of time, (1) first giving the whole period from his initiation into Buddhism down to the date of the edict as more than two and a half years, (2) the second referring to the initial period of his inaction without specifying its length, and (3) the third mentioning the period characterized by his zealous activity in relation to Dharma, the length of which is given as more than a year.”⁴² Thus it is clear that 256 days of pilgrimage are included in this 'two and a half years' period; perhaps, it can be

allotted to the period 'more than a year' (*samvachhale sādhike*).

Real Purport of Number 256:

The number 256 days is indicative of a well chalked-out programme for the royal pilgrimage. On calculation these 256 night-halts come to 8 months and 16 days, i.e. 17 fortnights or 18 *uposatha* days if we include the starting day. We may also assume that he perhaps planned it to begin from Bodh-Gaya on the first *uposatha* day, and, to conclude on the eighteenth *uposatha*, i.e. on 256th night, at Sarnath. Certainly it was planned to fall on the *uposatha* day of Buddha Pūrṇimā, i.e. the birth day of the Buddha. If so, the pilgrimage must have started on the *uposatha* day of the month of Āśvina so that the eighteenth *uposatha* should fall on the full moon day in the month of Vaiśākha, the birthday of the Buddha.

D.C. Sircar clearly missed the real purport of the number 256 days because he calculated under the influence of the Christian calendar. However, his calculation is like this: “... that Aśoka began to promulgate his edicts relating to Dharma twelve years after his coronation, i.e. in the thirteenth year of his reign, and that Minor Rock Edict I was one of the earliest edicts, if not the earliest one, issued by the Maurya emperor. Thus the present edict was issued in Aśoka's thirteenth regnal year when he was away on a pilgrimage which had already lasted 256 days, i.e. a little over eight and a half months, or nearly three fourths of a lunar year of three hundred and fifty four days.”⁴³ Obviously Sircar, calculating on the basis of the Christian calendar, failed to realize the religious importance of 256 night-halts. He further notes that “Minor Rock Edict I is the only inscription of Aśoka which states that he set out on a long tour of pilgrimage, in the course of which the edict was promulgated, and **the Ahraurā version of the edict is the only Aśokan record which states that the pilgrimage was undertaken immediately after the installation of the relics of the Buddha on a platform no doubt for worship.**”⁴⁴ (Emphasis is in the original)

He clarifies this statement by asserting that the venue of the worship of relic was in the capital and holds that “According to Buddhist tradition, Aśoka built the Aśokārāma at Pāṭaliputra and no less than 84,000 Buddhist monasteries in various cities within his empire.”⁴⁵ Under this impression he twists

the statement of the king that 'the pilgrimage was undertaken immediately after the installation of the relics of the Buddha'.

Nonetheless the MREs of Aśoka vary in minor details but never neglect to mention four things: 1. King's association with Buddhism since last two and a half years but he could not do much effort; 2. People of Jambudvīpa were instructed in Dharma by the king himself and those who did not know about the gods were amalgamated with them (*amisā devā misā kaṭā*). He was so ardent with this achievement that he mentioned in his speech (*sāvana*) that all, small or big, can make effort to dharma and attain *svarga*, and that dharma will increase by at least one and a half times; 3. That, this edict should be written on rocks (*pavtesu*), on stone pillars (*silāṭhabhe*) as well as on pillars of buildings (*sālāṭhabhe*); 4. This sermon was delivered by him while he was on 256th night-halt tour at Sarnath. But however, it should be noted that the Ahaurā version of MRE does not mention the third point. This is indicative of the fact that the idea of recording this incident throughout his empire occurred the emperor after the promulgation of the Ahaurā edict.

Therefore, Sircar is not right when he says that the pilgrimage was undertaken immediately *after* the installation of the relics of the Buddha' (at Pāṭaliputra). It is not like that. The Ahaurā edict does not slightly indicate that 'the pilgrimage was undertaken immediately *after* the installation of the relics of the Buddha'. Rather it specifically announces that 'this sermon (*sāvane*) (was delivered by me while I am) on 256 night (days) tour when the relics of the Buddha are placed on this platform (*aṁ mañce*). This pilgrimage was undertaken by Aśoka during his thirteenth regnal year, as accepted by Sircar, and the Buddhist tradition of building 'Aśokārāma at Pāṭaliputra and 84,000 monasteries' must be taken as reminiscence or 'an event of the past'. We cannot escape the fact that the Ahaurā edict mentions the happenings at Sarnath. There are two reasons to relate this incident with this place. Firstly, Ahaurā is in the vicinity of Sarnath and not of Pataliputra, and therefore this was the venue of the placement of the Buddha's relics 'on this platform'. Secondly, we know for certain that the relics of the Buddha were recovered from the Dharmarājikā-stūpa at Sarnath. The existence of the Dhamekha-stūpa also is a evidence as we have

pointed out the origin of its name. These two facts go against the view of Prof. Sircar. It will be most natural to think for Aśoka to have given preference to the place from where the Lord had 'turned the Wheel of Law' for concluding ceremony of his pilgrimage. It need not remind that only four places are considered holy that are connected with Buddha's life: i) Lumbini (his birth place), ii) Bodh-Gaya (place of enlightenment), iii) Sarnath (declaration of his doctrine), and, iv) Kuśinārā, where he attained Nirvāṇa. It will be in the fitness of things to think that this pilgrimage started from Bodh-Gaya and culminated at Sarnath; the remaining two places also might have included in the itinerary.

Archaeologists are aware that the relics of the Buddha were deposited in the Dharmarājikā-stūpa in a stone-box at Sarnath. V.S. Agrawala, in his booklet *Sarnath* for ASI, notes "As a matter of fact, a stone box was found inside this stūpa containing a relic casket with some relics and ashes. The relics were thrown into the Ganga at the instance of Jagat Singh. The casket has since disappeared, but the stone box is preserved in the Indian Museum."⁴⁶ In its third revised edition (Hindi) Achyutananda Jha adds "At present only its (Dharmarājikā-stūpa's) ruins are existing because in 1794 men of Babu Jagat Singh destroyed it. At that time a round stone casket was found inside it at the depth of 8.25 meters."⁴⁷ Thus the claim of Sarnath for the display of the relics on a platform has archaeological support.

The concluding sentence of the Ahaurā edict runs as "*esa sāvane vivuthen duve sapamṇa lāti sati aṁ mañce budhasa salīle ālodheti*".⁴⁸ It simply means "*This Sermon (was delivered by me) from the camp (vivuthena) on two hundred and fifty-sixth night (-halt) and the relics of the Buddha were placed on this platform (aṁ mañce).*" Here 'aṁ mañce' (this platform) denotes the Dharmarājikā stūpa at Sarnath where the relics of the Buddha were placed for worship and Aśoka delivered his famous '*sāvana*' (sermon) from another platform which is now called the Dhamekha stūpa.

Prof. Sircar has twists his translation of the sentence by adding several connecting phrase that runs as "This declaration (*has been made by me while I am*) on a tour (*of pilgrimage*) for 256 nights (i.e. days) since the relics of the Buddha ascended (i.e. were caused to be installed by me on) the

platform (for worship).⁴⁹ (Emphasis is in the original). Obviously this translation is done to suit his contention. Perhaps Dr. Sircar is conscious of this concoction because he tries to justify his interpretation by saying “The above sentence may be compared with the two concluding sentences of the Sahasrām version which runs as follows: *iyam cha sāvane vivuthena* [,] *duve sapamñā-lāti-satā vivuthā ti* 256 [,] (Sanskrit *idam cha śrāvaṇam vyushitena* [*mayā śrāvitam*], *dve shatpañchāśhad-rātri-śate vyushitaḥ* [*aham*] *iti*—256); and “And this declaration [has been made by me while I am] away on a tour [of pilgrimage]. [I am] away on a tour [of pilgrimage] for two hundred fifty-six nights---256.”⁵⁰

We need not comment on this twist which is obvious; but it should be pointed out that there is one fundamental difference between the Aharurā edict and the remaining ones: the former mentions the conclusion of the pilgrimage while the rest were prepared later as information copies of the same.

It need not emphasise that the pilgrimage of Aśoka, undertaken in his thirteenth regnal year, was a grand success that exited him to make it the subject matter of all his MREs. We agree with Prof. Sircar's chronological scheme of two and a half years except his contention that the journey of 256 days started *after* placing and worshiping the relics of the Buddha on platform from the capital Pāṭaliputra. We have no information about the starting point of this pilgrimage but can conclusively say that the whole trip was a calked out. The tradition knows that Aśoka exposed the original stūpas of the Buddha, collected relics and made 84 thousand stūpas and monasteries over them. He could not have missed to build one at the place where the Lord had preached his First Sermon, i.e. Sarnath. Thus it is logical to think that his long pilgrimage of 256 days was planned in such a way as to culminate there. It does not require much imagination that it must have began from a place like Bodh-Gaya, nearer to the capital, where the Lord got enlightenment. He had a *Dharma-yātrā* from this place in his tenth regnal year.⁵¹ Certainly the Sarnath ceremony was designed to fall on Buddha's birthday i.e. Vaiśākha Pūrṇimā night, i.e. 256th night was the Buddha Pūrṇimā. We will elaborate this shortly.

Hence, the importance of this pilgrimage is erdent. In his RE VIII Aśoka records the aims and

objects of a pilgrimage and enumerates five purposes of *dhamma-yātrā*; i) to have *darśana* of the *Brāhmanas* and *śramaṇas* and give *dāna* to them; ii) have *darśana* of the elders, i.e. *Theras* and arrange funds for their livelihood; iii) to meet the people (*janas*) of the *janapadas*; iv) to instruct them in *dhamma*; and, v) to answer their queries (about *dhamma*).⁵² This was the agenda that he followed in his religious tour of 256 days.

Reflection of the above objectives can be seen in his Rūpnāth MRE which is better preserved. There he says:

“Devanāmpiya said thus: Since last two and a half years I am *upāsaka*. I could not do much effort. But now more than a year have lapsed I came in the fold of the Saṃgha and am doing much effort. During this period in the Jambudvīpa, i.e. in my empire, those deities who were not known were made known to the people (i.e. people were preached about dharma: (*amisā devā misā kaṭā*). This is the result of effort (*pakamasa*). It is not that only big people can achieve this; even small people can get abundant *svarga* through effort (*palakama*). For this purpose *savanas* (sermons) are arranged so that the 'big' and the 'small' should do effort. The bordering people should also know that the results of this effort are ever lasting. Thus purpose (*athe*) (of dharma) will increase; it will increase one and a half times. [Then he desires that] it should be written on the hills, (or rocks, *pavatesu*) accordingly. Where there are building pillars (*sālā ṭhabhe*) and stone pillars (*silā ṭhabhe*) [in stone buildings or in caves or in houses? or free standing pillars] it should be written. With this religious script (*dhamma lipi*) you should send an officer on tour (on encampment) all over the area of your operation. This sermon was delivered (by me) while on tour of 256 (night's encampment), or living out of home (*vivāsā*).⁵³

The Ahaurā inscription is unique in the sense that 'this *sāvana* (sermon) (was delivered by me) from the camp (*vivuthen*) on (the conclusion of the Dharma-Yātrā lasting for) two hundred and fifty-sixth night(-halts) when the relics of the Buddha were placed on this platform.' There is no instruction in this epigraph to write it on rocks or pillars etc. or there is no instruction for his officers to go on tour for its propagation, etc. Thus it would be in the fitness of situations to think that perhaps up

till the conclusion of this pilgrimage Aśoka had no idea of propagating this sermon throughout his empire, or even of recording it on permanent objects. Obviously the idea occurred to him after he had ordered this edict to be written at Ahaurā. Here we see the germs of creation of a new writing system to record his speech.

Creation of a New Script for Edicts:

The most important corollary of this pilgrimage was the creation of a script with entirely new signs. It was Bühler who suggested the name Brāhmī for the Aśokan script because he found this name at the top of all lists of writing systems and, at that time this was the only known script in India from which majority of scripts have evolved. Now with the discovery of the Harappan writing system the situation has changed. Under new circumstances the latter seems stronger claimant for the name Brāhmī.

Returning to the Aśokan Brāhmī script we know that individual shapes of the letters of this script were derived from the simple geometrical signs like line, angle, triangle, square and circle etc. "Tracing back the development or evolution of the Brāhmī script when we reach to the second century BC, we feel that we are not far from the original source from which the Aśokan Brāhmī was derived".⁵⁴ "The simple primitive angular form of Aśokan script shows that it was not long before that this script was invented."⁵⁵ The appreciation of Isaac Taylor runs as follows: "Bold, simple, grand, complete the characters are easy to remember, facile to read and difficult to mistake, representing with absolute precision the gradual niceties of sound which the phonetic analysis of Sanskrit grammarians had discovered in that marvelous idiom. None of the artificial alphabets which have been proposed by modern phonologists excel it in delicacy, ingenuity, exactitude and comprehensiveness."⁵⁶

The Sanskrit *varṇamālā* existed in the time of Pāṇini, a few centuries before Aśoka is undisputed. Although Bühler suggested the existence of script in the fifth century before the Common Era no one believes that Aśokan Brāhmī was used by Pāṇini, the writer of *Aṣṭādhyāyī*. Thus the present *varṇamālā* was there in common use before the time of Pāṇini who reorganized it in a new phonetic order in the *Māheśvara-sūtras*. With the existence of a scientifically arranged *varṇamālā*

the existence of a script cannot be denied. The mischievous argument advanced by European scholars that instruction in Vedic period was given orally and that they never felt the necessity of writing system because 'they had already brought to perfection another and very excellent method (i.e. learning by heart) of handing down literary productions'⁵⁷ was motivated by Euro-centric thinking and under-rating of Vedic civilization. It is still believed by many that no script was known to the Vedic people.

They easily side tracked the information that Indians used a large number of writing systems in 300 BCE i.e. during the time of Aśoka these scripts were prevalent; and who knows this was included in these lists of scripts in Buddhist and Jain literature.

No doubt the Aśokan script was created at the instance of the emperor as put forward above. As it is possible to trace forward the evolution in signs of Aśoka's Brāhmī, so also it is possible to trace back its history from almost any stage. In the process of tracing back when one reaches the edicts of Aśoka one feels that he is not far from the original source, although Bühler and many others have traced several varieties of Aśokan letters. But these variations can be attributed to individual mannerism of the scribes. The simple angular form of Aśokan script shows that it was created during his reign. Actually the name Brāhmī was high jacked by Bühler for the script of Aśoka. It was simply because the Harappan writing was not before him. We have already discussed the issue earlier.

The historical importance of this event has never been fully assessed. It proved to be the turning point in the history of India because Aśoka resolved to put to writing his sermon in a script that was created at his instance. Thus he initiated the tradition of writing for the people in a script now called Brāhmī (and Kharoṣṭhī also) that was evolved from the existing Sanskrit *varṇamālā*. Aśoka started the tradition of writing the achievements of kings of stone, which, in due course of time was adopted by other kings who flourished after him. Not only this, the script was adopted by the people in general for its simplicity and also because they could write their own language with this. Its simplicity proved its strength and all other writing systems gone into oblivion because of, we can say now, their most complicated nature.

References :

1. Bühler, G. Indian Palaeography, reprinted in *Indian Studies: Past and Present*, Vol. 1, No. 1, October, 1959, pp.18-20.
2. Ibid
3. The conjectural date of the Mauryas in fourth-third centuries BCE is unacceptable to us but we are following here only to avoid confusion.
4. Ibid p. 15.
5. Pandeya, Raj Bali *Indian Palaeography*, p.26
6. Bühler, op. cit. p. 18.
7. Op. Cit. p.17-18.
8. Ibid p. 18.
9. Verma, T.P. *The Palaeography of Brāhmī Script in North India: (from 236 B.C. to 200 A.D.)*, Varanasi, 1971, chapters 2, 3 and 4.
10. 'संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः ।'
11. 'तस्मा देवमाह वाग्वै प्राच्यव्याकृतावदत् ते देवा इन्द्रमब्रुवन् इमां नो वाचं व्याकुर्विति सो ब्रवीत् वरं वृणै मह्यं चैवैष च सह गृह्यता इति तस्मादैन्द्रवायवः सह गृह्यते तां इन्द्रो मध्यतो ऽवक्रम्य व्याकरोत् तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते तस्मात् सकृन्दिन्द्राय मध्यतो गृह्यते द्विर्वायवे द्वौ हि स वराववृणीत् ॥'
—तैत्तिरीयसंहिता (6.4.7.3)
12. Vāgvā aindravāyavaḥ. *Maitrāyaṇīyasamhitā*, 5.58.
13. Na kṣarantītyakṣarāṇi. *Yajusabhiṣaṇḥ parīkṣā ṭikā*.
14. 'वर्ण्यन्ते व्यक्तं ध्वन्यन्त इति वर्णा अकारादयः' —Quoted in Dr. Indra 'प्रातिशाख्यों में प्रयुक्त पारिभाषित शब्दों का आलोचनात्मक अध्ययन', वाराणसी, 1973, पृ० 1
15. In the study of history Europeans have thoroughly neglected this aspect because there is no place for the man who possessed language. The European scholars content themselves by calling varṇamālā a syllable, inferior to alphabetic writing.
16. Dr. Indra, op. cit. p.2 and 4 of Bhūmikā.
17. 'यान्यज्जहार माहेन्द्राद् व्यासे व्याकरणार्णवात् । पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे ॥' —Quoted in 'भारतीय विज्ञान वैभव', 2009, वाराणसी, पृ० 139, पादटिप्पणी
18. Op. Cit., p.19
19. *Mudrā Rākṣasam* of Viśākhadatta, Varanasi (Reprint 2001), Act 1.
20. It is matter of regret that this over emphasis resulted in exact pronunciation and exact meaning of the Vedas have been lost forever. This unlashes the arbitrary interpretations.
21. Op. Cit., p.18.
22. 'तक्षददी मनसो वेनतो वाक्' —ऋग्वेद, 9.97.22
23. 'यस्मात्कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्' —अथर्ववेद, 19.72.1
24. 'उत त्वः पश्यन नः ददर्श वाचं.... वि ससे जायेव पत्य उशती सुवासाः' —ऋग्वेद, 10.71.4
25. Pandeya, R.B., Op. cit., p.25.
26. Lal, B.B., *The Sarasvatī Flows On*, New Delhi, 2002, p.132, fig. 4.70.
27. Verma, T.P. 'The Chainpur Copperplate and the Muṇḍeśvarī Inscriptions, *Itihas Darpan*, Vol. XIV (1), 2009, pp. 69-78 and figures.
28. Thaplyal, K.K. and Srivastava, V.N., 'Maukhari Nareśa Īśānavarmā kā Devakālī Tāmrapatra', *Bulletin of Museum and Archaeology, UP*, Vol. 41-42, 1988, pp.77-86 and figure.
29. 'Am mañche' means 'this platform'. The word 'am' occurs in the same sense in 4th RE, line 12 of Kalasi version and the 4th RE, line 17 of Mansehra version.
30. Barua, B.M. *Asoka and His Inscriptions*, Part I, Calcutta, New Delhi, 1968, p.16.
31. *The Age of Imperial Unity*, Bombay, (1951) pp.285 ff.
32. Ibid, p.20 and 23.
33. Sircar, D.C., *Select Inscriptions*, (1965), Calcutta, p.72.
34. Bhikshu Dharmarakshita, *Sāranātha* (Hindi) 1961, Varanasi, p.105-06.
35. Verma, T.P., 'The Discovery of the Ratanpurawa Minor Rock Edict of Aśoka' *Itihas Darpan*, Vol. XIV (1) 2009, pp.62-68; Thaplyal, K.K., *A New Aśokan Inscription from Ratanpurwa*, 2009, Varanasi.
36. *Epigraphica Indica*, Vol. XXXVI, p.240.
37. Sircar, D.C. SI, I, p.35; RE XIII.
38. Ibid, p.40-44 and p.44-46.
39. Ibid, p.213 ff.
40. Cf. T.P. Verma's article 'Can Aśoka be identified with Nandarāja of the Hathigumpha Inscription of Kharavela?', in *Prāgdhārā*, No. 6, Journal of the U.P. state Archaeological Organization, pp.185-88.
41. RE VIII, 'सो देवानपियो पियदसी राजा दसवसाभिसितो संतो अयाय संबोधिं । तेनेसा धमयाता ।'
42. Sircar, *Epigraphica Indica*, Vol. XXXVI, p.244
43. Ibid, p.242
44. Ibid, p.245
45. Ibid, p.245
46. Ibid
47. *Sārnāth*, Published by Department of Archaeology, India, 1956, p.11.
48. *Sāranātha* (1992, 3rd edition), (Hindi) p.13.
49. Sircar, D.C. *Ep. Ind.* Vol. XXXVI, p.247
50. Ibid, p.248
51. Ibid, p.244
52. For VIII Rock Edict, see Sircar, *SI*, I, pp.27-28.
53. Ibid.
54. Sircar, D.C. *SI*, I, p. 48
55. Verma, T.P., 'Fresh Light on the Origin of Brāhmī Alphabet' *Journal of the Oriental Institute*, Baroda,

Vol. XIII, No. 4, June 1964, p.360.

56. Verma, T.P., *Palaeography of Brāhmī Script in North India*, Varanasi, 1971, p.8.
57. Taylor, The Alphabet, Vol. II, p. 289; quoted in my article in *JOI*, vol. XIII, July 1964, p.366.
58. Rhys Davids, *Buddhist India*, pp.112-13; quoted in *The Age of Imperial Unity*, Bombay, 1951, p.584.

Bibliography:

1. ऋग्वेदसंहिता
2. तैत्तिरीयसंहिता
3. मुद्राराक्षसम् महाकविविशाखदत्तप्रणीतं, वाराणसी, पुनर्मुद्रित, 2001
4. मैत्रायणीसंहिता
5. Barua, B.M. (1968) *Aśoka and his Inscriptions*, Part I, Calcutta-New Delhi, 1968
6. Bühler, G. *Indian Palaeography* reprinted in *Indian Studies: Past and Present*, Volume I, No.1, October 1959.
7. Dharmarakshita, Bhikshu, (1961), *सारनाथ, वाराणसी*
8. Indra, Dr. (1973), *प्रातिशाख्यों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का आलोचनात्मक अध्ययन*, वाराणसी
9. Lal, B.B. (2002) *The Sarasvatī Flows On*, New Delhi
10. Lucy, Zuberbühler (2009), *A Comparison of a Manuscript with the Indus Script*, University of Bern.
11. Majumdar, R.C. (Ed.) (1951) *The Age of Imperial Unity*, Bombay
12. Majumdar, R.C. (Ed.) (1951) *The Vedic Age*, fourth impression, 1956, Bombay
13. Pandey, R.B. (1957) *Indian Palaeography*, Varanasi
14. Sachau, Edward C, *Alberuni's India*, first Indian reprint, 1964.
15. Sircar, D.C. (1965) 'Ahaurā Inscription of Aśoka', *Epigraphia Indica*, Vol. 36, pp.239-248.
16. Sircar, D.C. (1965) *Select Inscriptions*, Volume I, Calcutta.
17. Sudyumn Acharya, (Ed.) *भारतीय-विज्ञान-वैभव*, वाराणसी, 2009
18. Thapalyal, K.K. and Srivastava, V.N. (1988), 'मौखिरी-नरेश ईशानवर्मा का देवकली ताम्रपत्र', *Bulletin of Museum and Archaeology, UP*, Volume 41-42, pp. 77-86.
19. Thapalyal, K.K. (2009), *A New Aśokan Inscription from Ratanpurawa*, Varanasi.
20. Verma, T.P. (1964) 'Fresh Light on the Origin of Brāhmī Alphabet' *Journal of Oriental Institute*, Baroda, Volume XIII, No. 4, June 1964.
21. Verma, T.P. (1971) *The Palaeography of Brāhmī Script in North India* (from 236 B.C. to 200 A.D.),

Varanasi.

22. Verma, T.P. (1995-96) 'Can Aśoka be identified with Nandarāja of the Hathīgumpha Inscription of Khāravēla ?' *Prāgdhārā*, No. 6, Journal of the UP State Archaeological Department, pp.185-88.
23. Verma, T. P. 'Discovery of the Ratanpurawa Minor Rock Edict of Aśoka', *Itihas Darpan*, Volume XIV (1), pp.62-68.
24. Verma, T.P. 'The Chainpur Copperplate and the Muṇḍeśvarī Inscription', *Itihas Darpan*, Volume 14 (1) pp.69-78.



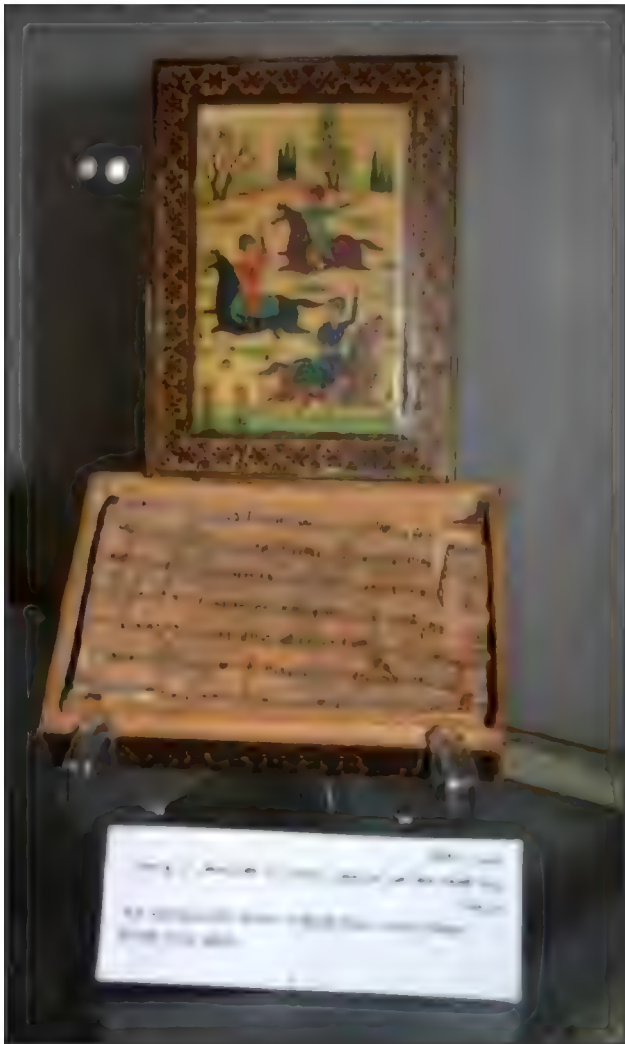


Fig. 1: Indus Manuscript and the container box.
Photograph of the artefact with wooden box and label.
Media identity number SN05 1000, 7805 in : Western
Himalaya Archive, Vienna, 2009

Fig. 2 Birch-bark manuscript in Harappan
Script. Photograph of lower portion of
mss. Media identity number SN05 1000,
7086 in: Western Himalaya Archive,
Vienna, 2009

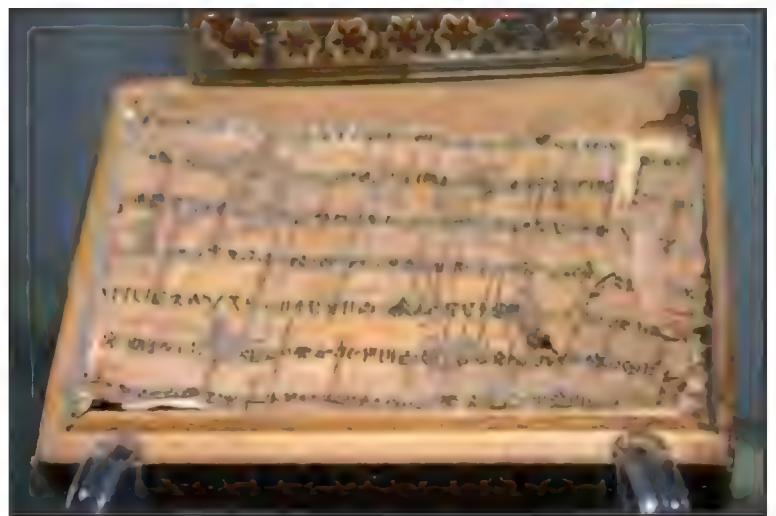




Fig. 3 : Left bottom corner of the manuscript showing different layers with traces of writing. Partial enlargement of bottom left-hand corner of media identity number SN05 1000, 7086 in : Western Himalaya, Vienna, 2009



Fig. 4 : Indus seal and specimen from the manuscript showing similar sequence of letters



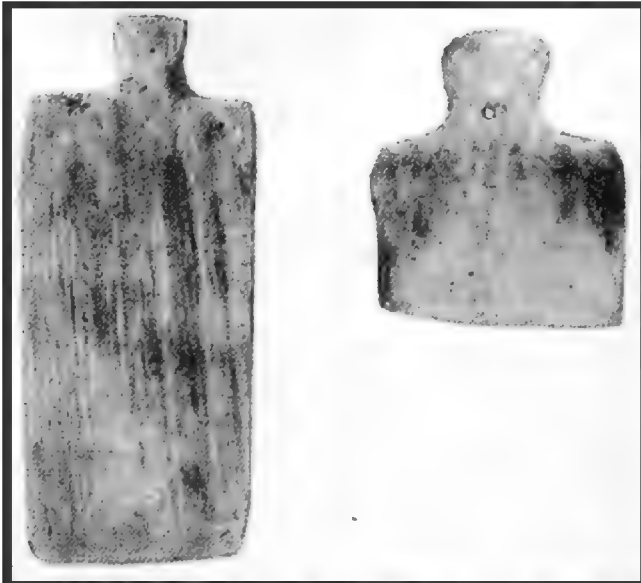


Fig. 5: Mohenjo-daro: Writing tablets (*takhtīs*) represented in terracotta. Mature Harappan



Fig. 6 : A third century BCE Terracotta plaque. It shows a child pointing out one of the Brāhmī alphabets written on *takhtī*.

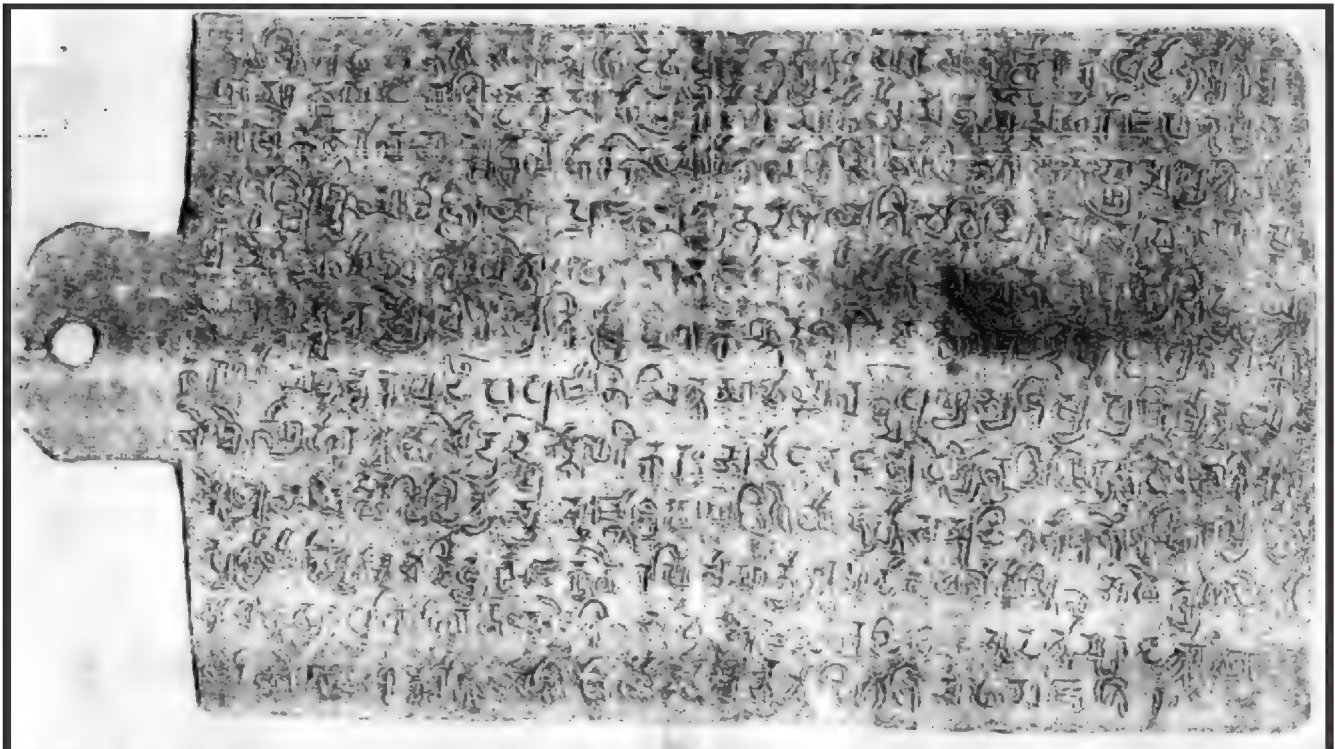


Fig. 7 : Copperplate inscription (Gupta period) written on wooden shape writing plaque

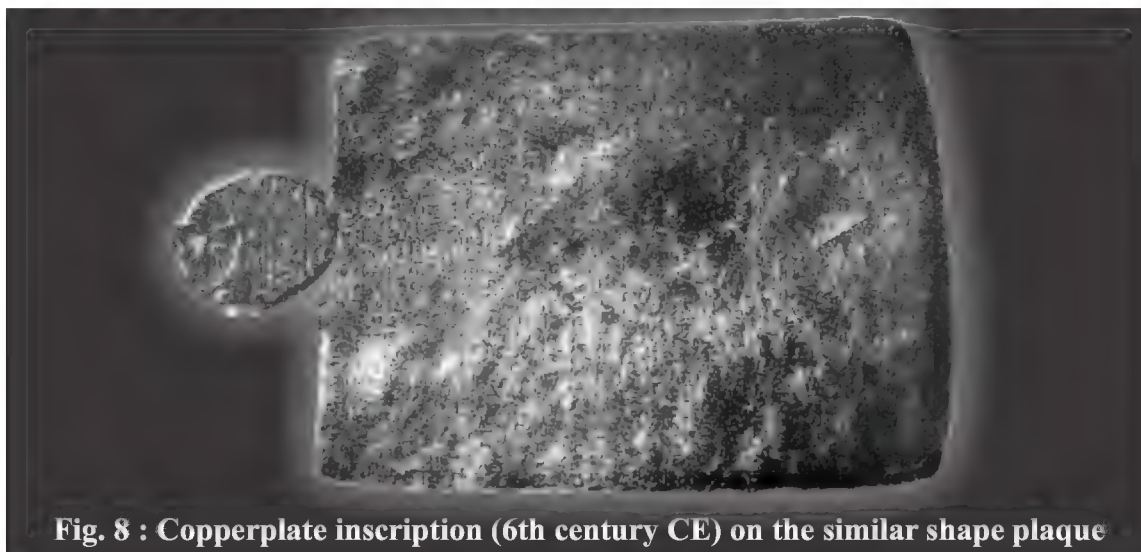


Fig. 8 : Copperplate inscription (6th century CE) on the similar shape plaque

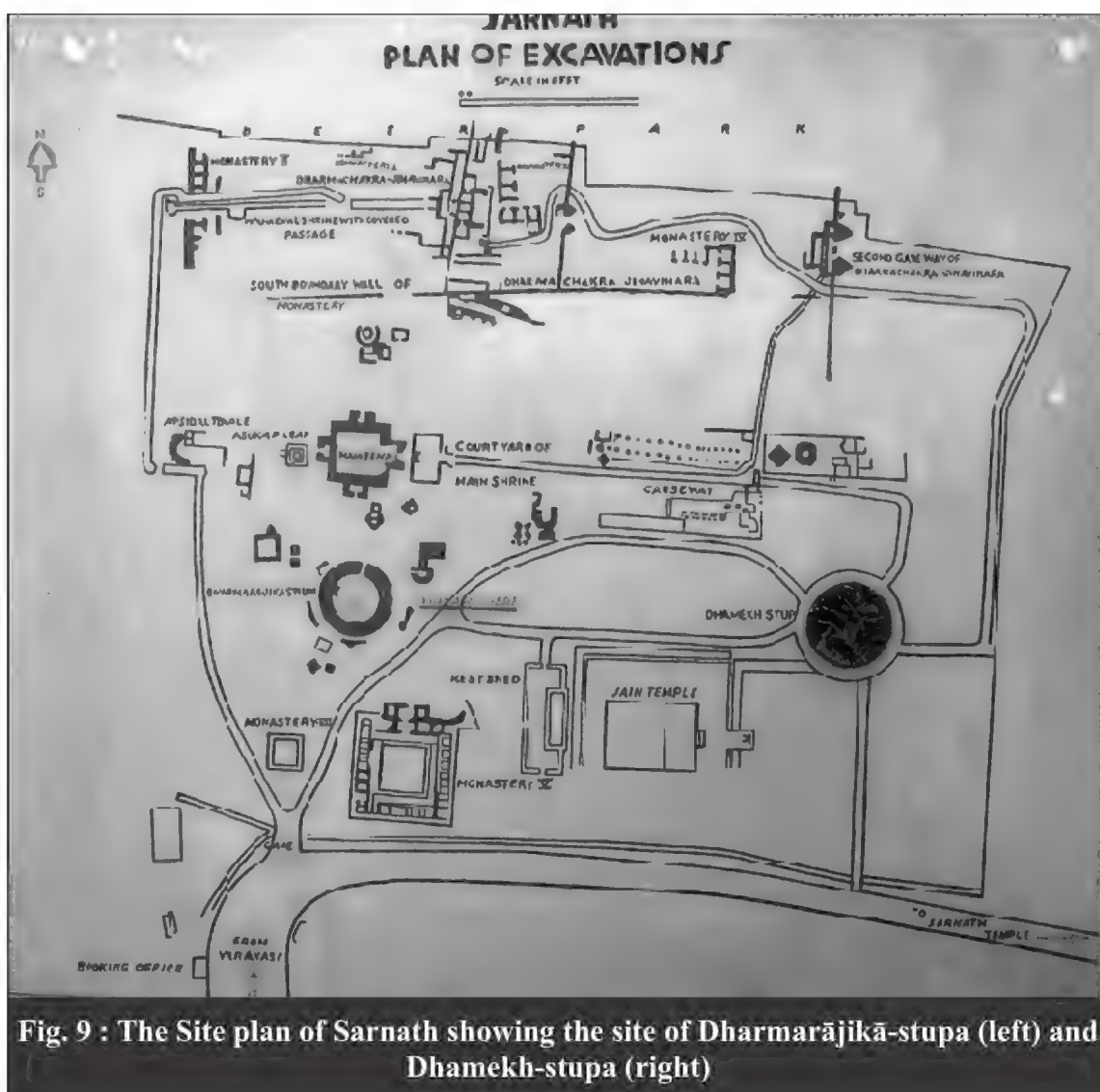


Fig. 9 : The Site plan of Sarnath showing the site of Dharmarājikā-stupa (left) and Dhamekh-stupa (right)

Śramaṇism as Dissent and Protest against Brāhmaṇical orthodoxy

Prof. S.R. Goyal *

Meaning and Nature of Śramaṇism



ramaṇism was an integral part of ancient Indian religious life and Śramaṇa sects and religions had become an important part of Indian religious tradition by the sixth-fifth century B.C.—almost as important as the Vedic or Brāhmaṇical religion, if not more. But the origin and early growth of some features of Śramaṇism can be traced back more than two millennia before Christ, though it is rather difficult to be sure whether or not Śramaṇism had a pre-Vedic and non-Vedic origin. The difficulty in answering this question arises from the facts that many features of Śramaṇism are found in the earliest strata of the Vedic literature and the nature and components of Śramaṇism continued to change and transform in the course of its growth and development.

The term *śramaṇa* became popular with Buddhism and Jainism though the *Taittirīya Āraṇyaka* uses it to denote a particular class of sages.¹ In the *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad* it is used with the term *Tāpasa*.² Gradually it became a general term for the monks of the various heterodox sects. The *Digha Nikāya*, the *Indica* of Megasthenes and the inscriptions of Aśoka indicate that the heterodox sects claimed for the Śramaṇas equality of status with the Brāhmaṇas.

Let us start our enquiry of ancient Indian Śramaṇism with the characteristic of Śramaṇa sects of the age of the Mahāvīra and Buddha and then try to find out, if we can, since when these characteristics are traceable in our sources—linguistic, literary and

archaeological.

Of the Śramaṇa sects of the sixth-fifth centuries BC, Buddhism and Jainism occupy the foremost rank. Along with them there were other sects which have left no independent literary documents. They are frequently criticized by the Buddha and Mahāvīra in their discourses. These discourses do not always represent their best side; probably they do not always represent even the correct picture of their doctrines. The common features of all these sects, which differentiate them from the orthodox Brāhmaṇical tradition, seem to have been the following :

1. The Śramaṇas generally believed in the *nivṛtti* (other-worldly) ideal as opposed to the *pravṛtti* (this-worldly) ideal of the Vedic Brāhmaṇical society. Consequently they observed a set of different ethical norms.
2. The Śramaṇas were traditionally wanderers. Indeed wandering constituted an important part of their discipline.
3. Besides wandering, the Śramaṇa sects believed in *tapas* or physical austerities and *brahmacarya* (celebacy).
4. They observed the practice of begging of food (*bhikṣācaryā*).
5. The Śramaṇas organised themselves into monastic orders (*saṁgha*) which revolved round a preceptor usually called Arhat or Tirthaṅkara. Usually a set of more liberal rules were prescribed for the laity.
6. As against the Brāhmaṇical system, they could take to a life of renunciation any time after crossing the age of minority without fulfilling their social and domestic obligations.
7. Śramaṇa sects usually believed in the Samsāravāda (theory of transmigration) and

* Professor and Head (Retd.), Department of History,
Jai Narain Vyas University, Jodhpur (Rajasthan);
Residence : 41-A, Sardar Club Scheme Jodhpur-342
001 (Rajasthan)

Karmavāda (theory of karma) and practiced a detached life with a view to liberating themselves from the bondage of the world. They did not regard ritual and sacrifices as essential for human well-being or for their final liberation.

8. They did not believe in caste system, denied the superiority of the Brāhmaṇas as a caste and admitted into their gaṇa or saṅgha, at least theoretically, everybody irrespective of his caste, gender and āśrama.
9. They generally denied that there existed an all-powerful god or that the universe was created by him. And lastly;
10. They challenged the authority of the Vedas as divinely revealed texts. All these characteristics of Śramaṇism are found in greater or lesser degree in almost all the Śramaṇa sects of the age of Mahāvira and the Buddha, though emphasis given on each of them differed from sect to sect. Their attitude to the concepts of transmigration and karmavāda was also not always similar. They differed on these questions from the Brāhmaṇa thinkers and also with each other.

Śramaṇism and Nivṛtti Ideal

An intertwining of Pravṛtti and Nivṛtti ideals seems to have been a feature of Indian religious tradition from the very beginning. Writing some time in the pre-Christian era the author of the *Manu-smṛti* observed : '*pravṛttam ca nivṛttam ca dvividham karma Vaidikam*'. (12.88). Later on in the Introduction to his commentary on the *Gītā*, Śaṅkarācārya also observed that the Vedic religion is two-fold—Pravṛtti dharma and Nivṛtti dharma ('*Dvividho hi Vedokto dharmah Pravṛttilakṣaṇo Nivṛttilakṣaṇaca*').³ Scholars like Jacobi and Oldenberg basically accept this thesis and attribute the rise of the Nivṛtti dharma (gnostic and ascetic tradition) to a reformist school within the Vedic tradition and regard Buddhism and Jainism as continuations of this reformist tendency. Some others such as S.K. Chatterji and R.P. Chanda believe that the two tendencies may be attributed to different ethnic traditions—Āryan and non-Āryan, the ascetic tradition being the contribution of the latter. Some other historians feel that the ascetic movement arose as a result of the break up of tribal economy and other socio-economic changes which were concomitant with the Second Urban Revolution.⁴ According to G.C. Pandey, however, it would not be correct to think of Pravṛtti and Nivṛtti as belonging to two different ethnic and historic strata. Even in the Indus Civilization, he argues, one can discern

both these tendencies—Pravṛtti dharma in the worship of Mother-Goddess and fertility cult and Nivṛtti dharma in the worship of Paśupati and Yogic tradition. However, he also admits that the Vedic religion was 'in the beginning essentially Pravṛtti dharma but later on partly through its own inner evolution and more through the influence of the Muni Śramaṇas it developed Nivṛtti dharma as a tendency within its fold.'⁵

Śramaṇism as a Tradition of Wanderers

According to V.S. Pathak, like the Greek *telos* and the Vedic *caraṇa*, the Śramaṇas originally belonged to a tradition of wanderers.⁶ After a study of the cognate words in Indo-European languages, he has come to the conclusion that the primary meaning of Śramaṇa, Samana, is a wanderer, a peripatetic, and that the wandering or peripatos was regarded as a religious practice and that Śramaṇa practice was current in the proto-Vedic period. Like the Śramaṇa the Vedic *Caraṇa*, from the root *cara*, to move, was also originally an organization of the Vedic wanderers. But unlike the Śramaṇa the Vedic *Caraṇas* were devoted to various gods, whom they invoked and to whom they offered oblations. Thus, the primary meaning of *Caraṇa* was a group of wanderers from which the secondary connotation of persons moving and dwelling together i.e., establishing temporary colonies devoted to various gods, developed. Thus, in the *Rgveda* supplicant desires to have an accommodation in the divine *Caraṇa*, in the heavenly enclosure where the king Vaivasvata rules. In the *Śatapatha Brāhmaṇa* after the completion of the *Samīṣtha-Yajus* sacrifice, the invited gods are dismissed to their respective *Caraṇas*—*Vyavasriyatiyatra yatra yeṣām caraṇam*.⁷ Again, in the same work it is stated that the *Caraṇa* of Rudra is beyond the Mujāvat mountain. Then, *Caraṇa* also expresses the specific manner of performing rites of devotion and sacrifice to the deities. These religious practices were transmitted and remembered through generations. And lastly, the *Caraṇas* were transformed in the Vedic assemblies, where different recensions of the Vedas were studied and taught. Like Sanskrit *cara* the Greek word *telos* also originally indicated the early Greek organization of wanderers. Initiation rite was performed for admission. And like *Caraṇa* it eventually became a group of priests with their social and mystic rites.⁸

Tapas (Austerities) as a Feature of Śramaṇism

An essential feature of Śramaṇism was *tapas*, that is

austerities. It was unknown to Ṛgvedic religion though it was gradually imbibed from the non-Vedic sources by the later Brāhmaṇism.⁹ Tapas was different from *Yajña* in that by the latter were attained worldly success, wealth, children and heaven while the former helped in obtaining mystic superhuman faculties. Later, the gods were also supposed to perform *tapas* as they were expected to offer sacrifices.¹⁰ At several places in the *Atharvaveda śrama* occurs along with *tapas*. Moreover, in the various sects from the Ājīvikas to Buddhists, austerities were accepted in varying measures as the core conduct of discipline, indicating thereby that they formed a part of the primitive Śramaṇa tradition. The word *tapas* indicates self-discipline through bodily torture. Tapas in this sense may not be confused with tapas meaning heat. It has two different meanings derived from two different roots.¹¹

There is hardly any evidence of asceticism or physical mortification as a religious practice in the *Ṛgveda*. However, in the *Atharvaveda*, it was recognized as a path of spiritual realization. In the primitive Śramaṇa tradition asceticism or *tapa* was, of course, an important element.

Brahmacarya and bhikṣācaryā as features of Śramaṇa Discipline

Positively speaking the primitive Śramaṇa tradition was also characterized by *brahmacarya* (*Brahmacārīya*). At least this may be asserted with some confidence that *brahmacarya* was the most essential and integral part of the Śramaṇa discipline. In the Pāli literature, *Brahmacārīya* is mentioned almost as a synonym of *Sāmaṇya* or the essence of *Samana*.¹² Expressing the attainment of the Śramaṇa status, a verse frequently occurs in the Nikāyas which means : "The birth is eliminated, the discipline of Brahmacārīya is successfully completed. There is nothing beyond."

Again, criticizing the false doctrines, it is argued that if they are accepted as true, we would be compelled to accept the absurd position that Śramaṇa can be obtained even without *Brahmacārīya*. Rhys Davids, and following him B.M. Barua, even held the view that "the order of *Śramaṇas* or *bhikkṣus* originated from Brahmacārīns." Though like the Brāhmaṇas, the Śramaṇas observed the practice of begging the food (*bhikṣācaryā*), yet in the Śramaṇa tradition *brahmacarya* had a quite different connotation. In the beginning among the Brāhmaṇas the term

'brahmacarya' meant the observance of certain rules requisite for the study of the Vedas and the one who studied them near a teacher was called Brahmacārīn. The first stage of human life thus attained the name of brahmacaryaśrama. But in the Aupaniṣadic age, Brāhmaṇa came to mean the Ultimate Truth. Therefore, now brahmacarya came to signify living a particular system of life conducive to the attainment of the highest truth.¹³ In the Śramaṇa tradition also the term *Brahmacārīya* was identified with the way of life leading to the Ultimate Truth. Thus, while the original meaning of the term was expressive of an *āśrama*, the new meaning denoted the spiritual exertion and training of anyone coming from any class or caste in the context of the ascetic code. It is generally in the latter sense that it is used in the Buddhist literature. The life that a Śramaṇa, seeker of the truth, had to lead in this stage was naturally not an easy-going one. It involved difficulties regarding his food, clothing, shelter, etc. which led to the belief that self mortification and severe austerities were the only source of emancipation. Devadatta's demand to introduce more strict rules in the Buddhist saṅgha might have been motivated by a genuine feeling occasioned by the general atmosphere around him in the midst of which the Buddhist monastic rules appeared very worldly and relaxed.¹⁴ The Jains, viewing from their own standpoint, accused the Buddhists of a luxurious living because the Buddhist doctrine of the 'Middle Way' tended to minimize the hardships involved in Brahmacārīya.

Here a reference may be made to the Brahmacārī cult of the *Ṛgveda*. According to R.N. Dandekar,¹⁵ it had close affinity with Rudra and phallus worship. They are mentioned in the Brahmacārī Sūkta of the *Atharaveda* (11.5). The views that the Sūkta refers to the Vedic student or Brāhmaṇa or sun have been challenged by Dandekar. According to him, the object of the Sūkta is the glorification of a cult which was known as the Brahmacārī cult. Its members followed a life of rigorous discipline, clothed themselves with heat (*garma*), stood up with fevour (*tapas*)¹⁶ and acquired special virile powers. Many of their features remind one of the Rudra-Śiva cult. For example, the Brahmacārī is described as being followed by the Gandharvas (11.5.2) whose association with Rudra-Śiva is well-known (cf. the Keśi-Sūkta of the *Ṛgveda*). The most striking evidence in this connection is the description of the Brahmacārī as the possessor of great penis (*brhaccheṇa*) and the

sprinkler of the seed (*retaḥ siñcati*). It makes it quite clear that his cult was a part of the culture complex to which the Rudra and Liṅga worship belonged.

From the above discussion it is quite obvious that in the Middle Vedic Age, that is in the age of the Later Saṁhitās and Brāhmaṇas, Liṅga worship became comparatively more popular and despite its non-Vedic origin began to claim increasingly greater recognition among the Vedic Āryans themselves. The R̥gvedic *r̥shis* prayed (*R̥gveda*, 7.21.5), 'let not the 'Śiśnadevaḥ' enter our sacrificial paṇḍāla'. This and other such derogatory references to Śiśnadevaḥ are most likely to the phallic worshippers of the Indus Civilization. But gradually along with the transformation of the personality of Rudra, ideas concerning phallic worship found entry in the Vedic religion. The *Taittirīya Āraṇyaka* (2.7) refers to Vātaraśana sages who were Śramaṇas and Ūrdhvamanthis. According to Sāyana, the term Ūrdhvamanthi means Ūrdhvaretās i.e. 'one whose semen goes up'. It obviously indicates their claim of control over sexual passions and reminds one of the description of the Vrātyas in the *Pañchaviṁśa Brāhmaṇa* as *samanīcameḍhra* (one whose penis hangs low through control of passion) and of the Brahmachārīs as *bṛhaccheḥpa* (possessors of great penis).

The increasing popularity of the Liṅga worship in the Vedic age is indicated by some other passages of the *Atharvaveda*. At one place (10.8) it describes the Skambha as co-extensive with the universe and comprehends in him the various parts of the material universe and also the abstract qualities. In this connection it is said that he who knows 'the golden reed (*vetas*) is the mysterious Prajāpati'. Significantly, the word *vetas* used here in the sense of reed has been used in the sense of membrum virile in the *R̥gveda* (10.95.4-5) and the *Ś.B.* According to Rao,¹⁷ "It is the same Skambha that has given birth to the story of Siva's appearance as a blazing fire between Brahmā and Viṣṇu when they were quarreling about the superiority of one over the other." There are also many phallic ideas and rites depicted in the *Vajasaneyī Saṁhitā*, *Taittirīya Saṁhitā*, *Maitrāyaṇī Saṁhitā* and the *Śatapatha Brāhmaṇa*. In the *Śvetāśvatara Upaniṣad* (4.11.5.2) Rudra is described as the Lord of Yonis thus indicating his close association with the worship of Yoni, and indirectly with the worship of Liṅga.

Concepts of Tirtha and Tirthaṅkara

In contrast to the theocentric *telos* and *charaṇa*, the

Śramaṇa organization revolved round the preceptor called *Arhata* and *Tirthaṅkara*. In the *R̥gveda*, *arhan* in general connotes the idea of worshipful, venerable, but in particular it denotes Agni as the proto-type of human priest, who officiates at the worship of the gods. In Pālī and Ardhamāgadhī, *arhata* is an enlightened being, a spiritual teacher analogous to a prophet. According to Buddhaghoṣa, "*arhatahood* consists in the destruction of the spokes of world wheel." Likewise, in the *Dhavalā-ṭikā* *arhata* is explained as *ari-hananāt*. "On account of destroying the spiritual enemies in the form of blemishes", *arihanta* is so called. This in itself is historically significant.

The concept of *Tirthaṅkara* is also of remote antiquity. *Tirtha* originally meant a ford or a bridge. According to V.S. Pathak, the concept of Tirthaṅkara is a non-R̥gvedic and pre-R̥gvedic concept. Since it is found in the majority of the Śramaṇa sects, it might have been a part of the primitive Śramaṇa tradition. In the Śramaṇa tradition *arhata-Tirthaṅkara* singly enjoys the high status which is shared together by the priests and gods in the Vedic *carāṇas*. The Vedic priest leads the *yajamāna* to the god. The *arhata-Tirthaṅkara* leads the seeker to himself or to his own teachings. It is almost a blind alley which stops at the *arhata-Tirthaṅkara* who through his teaching ensures the progress of his follower in his journey beyond the miserable world. In the Vedic fold, it is only in the Upaniṣads that the importance of *guru* is accepted, but there too he occupies the pedestal with God—*yathā deve tathā gurau*.¹⁸

Monasticism

Śramaṇism is essentially asceticism which developed into monasticism. In the early period most of the renouncers 'left' society as individuals. Many characters of the *Mahābhārata* such as Vidura and Dhṛtarāṣṭra, numerous thinkers of the Upaniṣads, some sensitive souls like Buddha and Mahāvira (before they established their own orders) and the Sarmanes and Brachmanes described by the historians of Alexander (who did not belong to any particular sect) were all individual renouncers. Thus, the terms Śramaṇa and the like denoted an individual who opted out of society, renounced social responsibilities and put himself in isolation. Such a person took upon himself the goal of discovering and becoming identified with the ultimate reality by resorting to austerity (*tapas*) and meditation (*dhyāna*). An individual renouncer who thus isolates himself totally is lost to society and other ascetics.

But the *parivrājakas* and *Śramaṇas* of the Upaniṣads and later periods had, for various reasons, to identify themselves as groups rather than move about singly as individual wanderers. The social trends in the mid-first millennium BC were not always helpful to wanderers. They were often seen as people escaping social responsibilities. In such a situation individual renunciators could confront their critics as members of a sect and its leader could act as a powerful head of such a sect. The social ineffectiveness of the actions of individuals was made obvious by the effectiveness of the group. But in order to be effective as a group a physical habitation for it was necessary. This led to the evolution of the monasteries. The evolution of monasteries began with the need for a permanent residence during the rainy season when mendicancy was difficult. Such residences gradually acquired stability in the form of *ārāma*, a park endowed by an individual to the saṅgha, such as the Āmbavana of Jīvaka at Rājagṛha. Ultimately the settlements of *bhikṣhus* expanded into *vihāras* or regular monastic complexes.

In the Buddhist saṅgha, the general assembly of monks was the supreme authority and even its head had to accept its decision. Every ordained monk was a member of the saṅgha and all monks living within the jurisdiction of a particular monastery had to be present at the *uposathā* assembly. Ownership of property vested with the saṅgha and never with the individual monk. The monastery was not the place for those seeking absolute freedom. For them asceticism in isolation was preferable.¹⁹ The monastery provided an alternative only to those who opted out of social obligations but were willing to abide by the discipline of the group life.

In the Later Vedic literature terms such as *tapasvī*, *śramaṇa*, *saṁnyāsī*, *parivrājaka*, *yogī*, etc. occur more commonly. They are suggestive of renunciation, or casting aside one's social obligations, of the taking on a life of austerity, and above all of wandering from place to place. The term *parivrājaka* is also often applied to young men who, having finished their education took to a life of wandering for a brief period before becoming householders. They were different from *parivrājakas* wandering in groups under the direction of a teacher or others loosely affiliated to some sect. Many wanderers lived on the outskirts of towns while those of a markedly ascetic disposition retired to places more isolated. Some Brāhmaṇa ascetics were

sedentary, often living in hermitages sometimes with their families, although claiming to conform to celibacy all the same. These came to be called *Vaikhānasas*.²⁰ Brāhmaṇa orthodoxy was not sympathetic to city-dwellers and restrictions were placed on *snātakas* visiting cities. The wanderers were often the dissidents. "The questioning of the orthodox tradition had started prior to this period, but what was new was the emergence of various sects such as the Nirgranthas, the Ājīvakas and later the Buddhists, not to mention various Cārvāka sects as well. The dissidence of these groups was, however, qualitatively different since they were not individual dissenters but had organized their dissent into sects."²¹ Whereas the individual ascetics were figures of loneliness working out their salvation each one for himself, the Śramaṇa sects were concerned about other people and this concern was expressed in their desire to lead others along the path which they had found. Inherent in this social concern was the realization of the importance for the search for truth which required a guide, Arhata or Tīrthānkara.

Protest against the authority of the Vedas and the Idea of God

Indian philosophy is usually divided between the 'orthodox' and 'unorthodox' schools. This distinction is drawn in terms of their acceptance or non-acceptance of the authority of the Vedas. In philosophy it means that "the Vedas contain the ultimate philosophical truth, and that the test of the truth of a philosophical position is whether or not it is in accordance with what is written in the Vedas."²² But on the question of what constitutes the Vedas different religious and philosophical schools differ radically. The authoritative Vedas themselves were originally thought to be only three in number (*Trayī*). Later, the authority of the *Atharvaveda*, the fourth Veda, began to be accepted. In any case, the Vedas were always held to be plural in number. 'Moreover, their authority was not equally or securely established even in the Vedic age. Further, on the most conservative estimate, it took them at least a thousand years to assume their present form. It is obvious that during this time their authority was never such as to preclude the possibility of making further additions to them. This proves that at that time their authority could not have been absolute. In later ages even among those who believed in their authority, there was always a difference of opinion regarding the portion of the Vedas which was to be regarded as authoritative, and regarding which subject matter, and for what purpose. The Mīmāṃsā,

for example, does not only deny the Upaniṣads the privilege of being counted among the corpus of Vedic authority, but also contends that any utterance which is not a pure injunction, that is, either a command or a prohibition, is not to be considered as Veda.²³ The Vedāntins, on the other hand, recognize the authority of the Upaniṣads, but not of the Upaniṣads alone. They also recognize the authority of the *Gītā* and the *Brahmasūtra*, which are definitely not regarded as a part of the Vedas by anybody. Equally, they give scant recognition to the authority of the non-Upaniṣadic portion of the Vedas. Thus, for Vedānta as well as for Mīmāṃsā, the term Veda is restricted not only to certain portions of the classical Vedic literature, but also to some of the their contents or subject-matter. The Vedas, in this way, enjoy only a very circumscribed authority, even for Mīmāṃsā and Vedānta.²⁴ No wonder if the Śramaṇa sects did not subscribe to the *apauruṣeyatva* of the Vedas.

The Buddhists as well as the Jainas have attacked the authoritativeness of the Vedas in many other ways. They argue that the Vedas refer to particular persons and places and hence could not be prior to these. They sometimes also preach obviously faulty doctrines and hence cannot be regarded as authoritative. The human authorship of the Vedas may be clearly deduced from the fact that they speak of passions, violence and falsehood. The argument that the Vedas have no author because none is remembered proves precisely nothing except the failure of the memory of the person giving this argument. If someone fails to remember something it does not follow that something did not exist. The Vedas themselves speak of their human authors. The various Vedic recensions are thus ascribed to different sages like Kaṇva etc. Obviously they are human compositions like other compositions.

The doctrine of the *apauruṣeyatva* of the Vedas rests on the assumption that they are texts revealed by God. But the Jainas and the Buddhists oppose the doctrine of theism as much as the authenticity of the Vedas. They not only argue for a personal authorship of the Vedas but also deny their authority. They seem to hold that "Religious faith requires an authentic revelation but that does not need to be identified with the Vedas. Nor is it necessary that the revelation should proceed from the creator of the universe. To be authentic the revelation should come from a person who is fully knowledgeable about spiritual matters and is free

from all motivation except that of compassion and helpfulness towards suffering humanity." The Buddhists and the Jainas thus accept omniscient human teachers as the source of their religious scriptures and do not feel the need of accepting the existence of God for that purpose. It is thus clear that the atheism of the Śramaṇa sects relates only to the idea of a personal creator of the world not to the idea of a religious saviour. The Buddha and the Jina are in one sense hardly to be distinguished from God. They are omniscient as also the saviours of mankind and are in this sense exactly like God in His aspect of grace. Therefore, it may be held that 'Śramaṇic atheism is not a variety of irreligion but of religion. It faces the evil and suffering of life squarely attributes it to human failings rather than to the mysterious design of an unknown being. It stresses the inexorableness of the moral law. No prayers and worship are of any avail against the force of *Karman*. It emphasizes self-reliance in the quest for salvation. Man needs to improve himself by a patient training of the will and the purification of feelings. Such purification leads to an inward illumination of which the power is innate in the soul or the mind. This is quite different from the Vedic view where illumination comes from outside, either from an eternally revealed word or from the grace of god. Śramaṇism represents a sterner variety of religion where the consolation of a personal god is replaced by the guidance of a spiritual teacher which must be practiced by the individual himself on the basis of his own resources."²⁵

References :

1. *Taittirīya Āraṇyaka*, 2.7 ('*Vātaraśana ha vā ṛṣayaḥ śramaṇi ūrdhvamanthino babhūvuḥ*').
2. *Bṛdāraṇyaka Upaniṣad*, 4.3.22.
3. *Gītā*, Śankara's Commentary, Gītā Press edition, p.1.
4. For references see Pande, G.C., *Śramaṇa Tradition : Its History and Contribution to Indian Culture*, Ahmedabad, 1978, pp.4-5.
5. Pande, G.C., *Studies in the Origins of Buddhism*. Allahabad. 1957, p.261.
6. Cf. Pathak, V.S., his Preface in S.R. Goyal's *A History of Indian Buddhism*, Meerut, 1987, pp.xiii-xxiii.
7. Even now after the recitation of a *kathā* gods are requested to retire to their respective abodes.
8. Pathak, *op. cit.*, p.xv.
9. Cf. Jain, Bhagchandra, 'Antiquity of Śramaṇa Cult', *World Buddhism*, XV, No. I, pp. 3 ff.; also 'Asceticism' in *ERE*, Vol. II.
10. Chakraborty, H., *Asceticism in Ancient India*, Calcutta, 1973, p.9, n. 18.
11. Pathak, *op. cit.*, p.xvii.
12. *Ibid.*, p.xvi.

13. Cf. Pande, G.C., *Origins*, p.331.
14. Mishra, G.S.P., *The Age of Vinaya*, New Delhi, 1972, p.40
15. Dandekar, R.N., *Rudra in the Veda*, Poona, 1953, pp.6-7
16. Cf. the description of the Indian ascetics as seen by Alexander's historians.
17. Rao, T.A.G., *Elements of Hindū Iconography*, II, i, Madras, 1914, p.571
18. Pathak, *op. cit.*, p.xx
19. Thapar, Romila, *Ancient Indian Social History*, Hyderabad, 1978, p.87
20. *Ibid.*, p.69
21. *Ibid*
22. Daya Krishna, *Indian Philosophy—A Counter Perspective*, Delhi, 1996, p.8.
23. *Ibid*, pp.8-9
24. *Ibid*
25. Pande, G.C., *Śramaṇa Tradition*, p.73



Megalithic Culture: A prelude to the subsequent economic growth in peninsular India and the Deccan

Dr. G.K. Lama *



he period from c. 1000 BC to 300 BC in South India and the Deccan was marked by the presence of Megalithic cultures.

The term 'megalithic' is derived from the Greek words *μέγας* (megas), i.e., huge and *λίθος* (lithos), i.e., stone. The Megaliths are thus structures built of large, undressed or roughly dressed stones erected normally in the memory of the dead and occur generally above the ground. These monuments have been discovered from various regions of the Indian subcontinent and reveal a great variation in their forms and structures, yet they represent, in the Indian context, a homogeneous culture dominated by two key elements:

- (a) Use of iron tools and weapons and,
- (b) Familiarity with a polished and well-fired pottery called black-and-red ware.

The food-grains and artifacts found at the Megalithic sites indicate that the people followed for their subsistence agro-pastoral and hunting activities. They also indulged in craft activities and were proficient in making objects of various metals which, besides iron, included gold, silver and copper/bronze. Though the origin, chronology and authorship of the Megalithic cultures are still being debated, their historical significance lies in the fact that they represent the earliest iron-using communities in south India. More significantly, they provide an important evidence of linkages between the southern Neolithic-Chalcolithic cultures on one hand and the early historical period, characterized by the Sātavāhana rule in the Deccan and the

Sangam literary traditions in Tamil Nadu, on the other. It may be noted that in south India there has been no Copper-Bronze Age but only the Iron Age that emerged straight from the Neolithic stage. One reason for it may be the paucity of copper as against the iron sources which occur in Hyderabad and Kurnool districts of Andhra Pradesh, Bellary and Dharwar districts of Karnataka, and Salem and Tiruchirappalli of Tamil Nadu.

Distribution of the Megalithic monuments and their structural forms

Since 1823 when Babington published for the first time an account of the Megalithic tombs in the Malabar region of Kerala, a number of new sites with a variety of Megalithic structures have been reported from all over India except the Indo-Gangetic plains, the Rajasthan desert and the parts of Gujarat. These are, however, largely concentrated in the region of peninsular India and the Deccan i.e. south of River Narmadā. Mūrti (1994: 4-5) who has recorded about 2000 Megalithic sites from south India alone points out that maximum of these are located in Karnataka which has 665 sites, followed by Tamil Nadu with 607 sites, Andhra Pradesh with 300 sites, Kerala with 270 sites and Maharashtra with 91 sites. Among the important Megalithic sites reference may be made to Adichanallur and Paiyampalli in Tamil Nadu; Porkalam in Kerala; Brahmagiri, Hallur, Maski, Saṃganakallu, Tekalakota and Banahalli, close to the Kolar mines, in Karnataka; Nagarjunakonda and Yelleshwaram in Andhra Pradesh; and Naikund, Mahurjhari, Junapani, Talakghat, Khapa, all around the town of Nagpur in Maharashtra. In northern India, these are found located in Allahabad-Mirzapur-Varanasi region of eastern Uttara Pradesh, Almora in

* Asst. Professor, Deptt. of A.I.H.C. & Archaeology, Banaras Hindu University

Uttaranchala, Gufkaral and Burzahom in Kashmir, and Leh in Ladakh. The Megalithic structures are also reported from the Baluchistan area in Pakistan. In north-east of India, i.e., Assam and Meghalaya, the Megaliths constitute a part of a tradition still living among the natives.

The Megalithic monuments distributed over a wide area reveal a great amount of regional variations in their structural forms and burial arrangements. Many burials contain only a few fragmentary bones whereas in some instances none is found. There is also evidence of multiple skeletons in one single burial. The structural forms of the Megalithic monuments have been classified by Krishnaswami, Allchin and others in different types. These include:

- (a) Cist-circles, i.e., burial chamber excavated in a rock or a box-like coffin of stone formed of slabs on sides and covered on the top by one or more horizontal slabs, surrounded by stones in the form of a circle;
- (b) Cairn-circle, i.e., pile of stones heaped up in the form of circle to mark a memorial or a tomb;
- (c) Menhirs, i.e., an upright stone standing alone or in alignment with others;
- (d) Dolmen, i.e., a tomb made by laying a large flat stone across several upright stones;
- (e) Sarcophagi, i.e., legged urns of pottery, decorated with animal heads, containing human bones. One such urn has been found at Paiyampalli in Tamil Nadu.

In Kerala, there are some typical forms of Megalithic monuments called *Topi-kal/kallu* and *Kudai-kal*. In *Topi-kal* a conical stone with wide circular base rests on four upright stones or pillars making a square below the balanced stone. *Kudai-kal* (lit. umbrella stone) on the other hand refers to a hood-stone which without any support rests directly on the ground to conceal the burial below it. In the Deccan, the most dominant form of Megalithic burial is the Cairn-circle. In Kashmir, Menhirs form a single form of megalithic monuments, whereas pits carved in rocks are more common in Mirzapur in eastern Uttar Pradesh.

The Megalithic monuments similar in forms and shapes to those found in India have also been

reported from other eastern and western parts of the world, but the inter-relationship between them, if any, is not clear. Some scholars such as Leshnik assign these similarities to the migration of people from foreign land to India (Leshnik.1974:84), but many scholars today favour the idea of an indigenous origin of the Megalithic structures of south India. K.A.R. Kennedy on the basis of skeletal studies rules out the possibility of any large scale migration of people into south India from outside during this period (Kennedy.1992:57). Parpola argues that the Indian Megaliths may have been Aryan in origin while Soundararajan attributes them to the local non-Aryan people (Soundararajan.1985:9-14). The debate on the origin of the Megaliths is still on.

Chronology

Chronologically, no definite time period can be assigned to this culture. A number of C14 dates available from Megalithic sites broadly fall between the range of late second millennium BC and the early centuries of the Christian era. McIntosh (1985: 469), on the basis of combined analysis of radiocarbon dates and the tool-types, dates this culture from 1100 BC to 100 BC. U.S. Murti (1994:5) assigns it to a period from c. 1200 BC to 300 BC, and adds that the Megalithic traditions continued to linger on up to the early centuries of the Christian era. He prefers to divide the whole Megalithic period into two broad phases – early phase up to 500 BC, and later phase from 500 BC onwards, and argues that it was only after the sixth century BC that the use of iron became more prominent in the economic activities, leading to agricultural and artisanal progress in southern India.

Material Culture

The material culture of the Megalithic people is reflected in their pottery types, metallic objects and the food-grains obtained from various sites in peninsular India and the Deccan. One of the chief features of the Megalithic Cultures is the use of black-and-red ware. It is made of fine paste and is wheel-turned and well-polished. It reflects advancement in ceramic technology, and includes such types of wares as bowls, lids and dishes. A significant aspect of the Megalithic pottery is the occurrence of graffiti marks on some of the pots. B.B. Lal once pointed out that these marks are very similar to the characters found on the Harappan

seals and therefore, there could be a close relationship between the Megalithic and the Harappan cultures. However, the process and the factors of this relationship are not clear. It has been argued that these could be just potter's marks.

Another distinctive element of the Megalithic culture of peninsular India is the plentiful use of tools and weapons made of iron. These include a wide range of artifacts for different purposes such as hoes, sickles and axes for agriculture; dishes and tripod-stands for domestic use; chisel and nails for artisanal activities; and, swords, daggers, spears and arrow-heads for war and hunting. The daggers had tangs (a long projecting point of a handle). Among other noteworthy finds reference may be made to head-ornaments of horses from Mahurjhari, near Nagpur in Deccan. These are made of copper sheets with iron-knobs.

The evidence of a furnace built of curved bricks from Naikund, near Nagpur, and of a large quantity of iron slag i.e., rough waste left after smelting iron, from Paiyampalli in Tamil Nadu suggests that iron smelting was a local activity in these areas. Mūrti (1994: 42) refers to no less than 68 iron smelting sites in south India. The high percentage of pure iron found in the iron artifacts from Deccan indicates a great professional skill on the part of the local ironsmiths (Deo. 1985: 22].

The culture of south Indian Megalithic people is sometimes described as the "Iron Culture of South India". The iron arrowheads and spearheads from Hallur (Distt. Dharwar, Karnataka) have been dated, on the basis of C14 dates, to around 1200 BC. The earlier assumption that the beginning of iron in India should be associated either with the coming of the Aryans from north-west or with the supposed dispersal of Hittite monopoly of iron technology from West Asia should now be discarded. Chakrabarti argues that, as iron artifacts found in southern and central India are of an earlier date than those recovered from north-western India; India may be accepted as a 'separate' and 'independent' center of iron technology during ancient times (Chakrabarti.1991:22).

Besides iron, the objects of gold, silver, copper/bronze, though found on a lesser scale, indicate that the Megalithic artisans were proficient in working out these metals as well. The items of

gold such as bangles, rings, earrings and beads have been recovered from various sites including Adichanallur (Tamilnadu), Maski (Karnataka), Nagarjunikonda (Andhra Pradesh), Mahurjhari and Junapani (Maharashtra). Studs and beads of silver have been reported from Junapani and Nagarjunikonda (Thapar. 1994:7). The copper objects such as bangles and dishes have also been found from many sites. Copper lids of dishes with finials (tops) in the form of perching birds have been recovered from Khapa, near Nagpur and Adichanallur. The Megalithic people also used beads of semi-precious stones such as carnelian and agate as ornaments. Beads of shell and horn have also been found at some sites.

Settlement Pattern

A close analysis of their settlement pattern would show that the Megalithic people preferred to choose areas which could offer them necessary resources required by them. Thus, their settlements are found located near either a hilly area which could provide them stone for their graves, or the mining area from where they could obtain iron, gold or other metals for their tools, weapons and ornaments, or a water-fed region which could offer them an opportunity for agricultural activities (Deo. 1985:94). The structural remains at Brahmagiri, Paiyampalli, Hallur, etc., indicate small patches of floor with post-holes. It suggests that the Megalithic people lived in modest forms of houses made of timber. The size of the settlements varied from one hectare to eight hectares. It may indicate some sort of hierarchy of settlements. Murti has identified 26 large settlements which, as he believes, could have served as regional centers of political or economic power (Murtri.1994:47). The habitational sites of the Megalithic people discovered so far are, however, much less in number than their burial sites. The reason for it is not clear. Leshnik (1974) takes it to indicate pastoral or semi-settled agriculturist way of life of the Megalithic people but others believe that it could be because of lack of intensive regional survey.

Socio-Economic Features

The subsistence economy of Megalithic people was based on mixed agro-pastoral activities and their diet included agricultural products as well as hunted animals. The evidence, though limited, suggests that while people in central India produced items like

wheat, barley and lentil those in farther south cultivated rice, millet, green gram, etc. The frequency of rice in southern sites may suggest that the Megalithic people in south India took more to rice eating than those in central India. Smaller floor area of the houses, limited quantity of food-grains and comparatively much smaller number of agricultural tools such as sickle and hoes in comparison to spears and arrowheads found at the Megalithic sites indicate that the people were basically pastoral people with limited or marginal agricultural activity (Deo.1985:90). But the available evidence suggests that the Megalithic society was composed of various social groups which, besides hunters and agriculturists, included specialized groups of artisans and craftsmen such as potters, ironsmiths and goldsmiths who could not have survived without some surplus production. The evidence of storage jars from certain sites also supports it. It seems the Megalithic people in the beginning followed a pastoral way of life but later, particularly after 500 BC, when they started using iron on a larger scale, there was a gradual progress in the field of agricultural and artisanal activities, particularly in the riverine tracts.

In archaeology, the visible material remains of the past are treated as an index to the invisible socio-economic life of the Pre-historic societies. Thus, the objects found at the Megalithic sites throw light not only on the technological skills and craft activities of the people, but also help us in gaining some insight into their social organization. For example, the presence of gold ornaments, distinctive iron daggers with copper hilt, embellished lids of copper dishes, arrowheads and horse ornaments in the graves clearly imply that the person buried was not only economically important but also enjoyed special political or social status, may be as a chief or a warrior, in comparison to the persons in other graves with minimal of funeral objects. While analysing of grave goods U.S. Murti argued that the Megalithic people of south India had probably a "ranked society" dominated by a "chief". He is also of the view that the high percentage of adult males in the graves may in all probability indicate a patriarchal nature of the society in which males occupied a special social status. However, in view of the lack of complete data, it is not possible to draw a full and final picture of the Megalithic society.

The question of economic or cultural

contacts among contemporary Megalithic societies or between Megalithic and non-Megalithic societies also remains unclear. But the presence of non-local goods in certain graves does suggest some economic alliance or gift-exchange between different local chiefs. It is possible that the Megalithic people with their mastery over metallurgy might have entered into some sort of exchange relationship with the non-Megalithic people to procure the semi-precious stones or other goods in return for iron tools and weapons. It is noteworthy that many of the Megalithic sites are situated on the ancient highways or trade routes, and it is likely that some of these may have served as centers of regional trade or exchange. In this context, the presence of a large number of minor rock-edicts of Aśoka in the region of south Indian Megaliths is quite significant as these may indicate an attempt on the part of the Mauryan king to collect and exploit the south Indian resources for the benefit of his empire.

The funerary goods placed systematically along with the dead bodies are indicative of people's faith in burial rituals and their belief in life after death. It is pointed out that ancestor worship is an important medium to claim and sustain the power of the succeeding chief and, therefore, it is possible that the megalithic graves represent the prevalence of ancestor worship among the people. But it is just a surmise.

Prominent Megalithic Sites in India Adichanallur

It is an urn burial site of the south Indian Megalithic Complex and is situated in Dist. Tirunelveli, Tamil Nadu. It was first excavated by Alexander Rea between 1885-1905 and later, in 2004 by the Archaeological Survey of India. It has brought to light a total of 157 urns out of which 57 are found intact. The complete body of a dead was put in the urn covered with another urn in a "twin-pot" system. The artifacts found along with the skeletons include pottery, particularly black-and-red ware, copper bangles and earrings, and iron spearheads. Urns were inserted after cutting the rocks in the form of a pit, obviously with the help of iron implements. The site is believed to have been an important industrial centre. It is evident from the presence of a large number of iron tools and weapons which include axes, hoes, spades, and swords having different forms of blades. The remains of a potter's kiln and a smith's workshop have also come to light. The gold ornaments found

in the graves include a diadem worn on the head. The evidence of gold diadem is intriguing as gold does not occur at Adichanallur nor at any nearby place, and must have been brought from outside as a result of exchange or trade contact. An important discovery is that of an urn having a graffiti or a short inscription in Tamil-Brahmi script dated to around 500 BC.

Brahmagiri

It is situated in the Chitradurga district of Karnataka, South India, where a set of Aśokan minor rock edicts (third century BC) were discovered. Excavated by Wheeler in 1947, it has revealed a sequence of three cultural periods:

Period I- Neolithic-Chalcolithic, (early 1st millennium to 2nd century BC);

Period. II- The Megalithic culture (2nd century BC to the first century CE);

Period. III- Āndhra-Sātavāhana, (middle of the 1st century CE to the 3rd century CE).

The Megalithic period is characterized by the use of iron implements and weapons such as sickle, knife, sword, spear and arrowheads. The pottery is well polished black-and-red ware. Graffiti are frequently noticed on the pottery. Rouletted ware is also reported in the debris. Among ornaments shell-bangles and beads of shell, terracotta and jasper have been found. An important feature of the Megalithic Culture is the disposal of the dead in stone cist *i.e.*, an excavated pit enclosed by a circle of stones, containing funeral goods in the form of iron implements, beads etc.

Burzahom

It is situated on an ancient lake-bed, locally known as *karewa*, about 2 km from the Dal Lake and 16 km north-east of Srinagar in Kashmir. It is primarily a Neolithic site but has also revealed the evidence of menhirs associated with the Megalithic Cultures. Burzahom, excavated in 1960s, is better known for its unique pit-dwellings, a developed bone tool industry and human-cum-animal burials. The earliest cultural phase at the site is dated to 2800 BC (calibrated). The people used to live in pits cut into the natural soil. These pits are circular or oval in plan, narrow at the top and wide at the base. Some of the deeper ones are provided with steps. Post-holes on their periphery suggest a thatched roof as a protective cover against the bad weather.

Cunningham and Sutherland who reviewed the so-called pit dwellings in Kashmir argue that these pits were meant for storing only. Among lithic components of the site mention may be made of chisels, pounders, mace-heads, and most importantly harvesters which are rectangular in shape with a crude cutting edge and two or more holes on either side. Bone tools are most prolific and form a diagnostic trait comprising harpoons for fishing; needles, daggers and arrowheads for hunting; and scrapers for treating hides. There is no direct evidence of the cereals grown, but a stone quern found in a pit does indicate the use of food grain in their diet. The remains of animal bones of cattle, sheep and goat, along with the presence of fishhooks indicate that hunting and fishing were an important source of subsistence.

The site has reported numerous human and animal burials. Humans were mostly buried in pits dug into the house floors. A hole in the skull of a skeleton suggests the ancient practice of trepanning, may be to draw out an excessive fluid. An interesting feature of human burials is that sometimes pet animals such as dogs are found buried along with the dead in the same pit. Some burials reveal animals placed in a planned manner. It may have an association with some ritual practice. The animals represented in the burials are antler deer, humped cattle, wolf, goat, sheep, etc. The horse is missing completely. Among other important finds, reference may be made to about 2000 carnelian and agate beads found in a pot. There has also been found a stone slab with an engraving depicting a hunting scene in which an antler deer is being pierced from behind with a long spear by a hunter while an arrow is being shot by another hunter from the front.

Hallur

It is situated on the left bank of the river Tungabhadra in Dharwar district of Karnataka. The site excavated by Nagaraja Rao in 1960s represents two cultural phases :

- a. Neolithic-Chalcolithic and
- b. Megalithic.

The first phase is marked by the use of polished stone axes, stone blades and copper fish-hooks whereas the Megalithic burials contain black-and-red ware together with arrowheads, spearheads,

knife-blades made of iron and also beads of bone, carnelian and gold. The vegetal remains of millet and the animal bones of cattle and sheep indicate a pastoral form of economy for the Megalithic people. A noteworthy feature of Hallur antiquities is the C14 dating of 1100 BC (1300 BC when calibrated) for the iron objects found here. It is taken as an indication of an early use of iron in south India. It was argued that early growth of iron industry in the south could be possible because of the fact that it has many iron sources whereas the supply of copper is greatly restricted (Korisettar.2002: 186).

Mahurjhari

It lies 150 km west of Nagpur in the state of Maharashtra. It along with Junapani, which lies close to it, marks an important Megalithic site where a number of stone-circled burials of different dimensions have been found. These burials normally contain one skeleton but in some cases more than one body is buried. These burials have also yielded black-and-red ware, objects of iron, copper and gold objects, etched and unetched beads of agate and carnelian. The iron tool-kit comprises flat rectangular axes, lances and spears. There have also been found horse face-masks (blinkers) of copper sheets with iron knobs riveted to it.

Maski

It is situated on a tributary of the River Tungabhadra in Raichur district of Karnataka. It has revealed a set of Aśokan Minor Rock Edicts which significantly mention the name of Aśoka as their author. Archaeologically, the site is important for the remains of the Neolithic-Chalcolithic and the Megalithic Cultures.

Neolithic Culture dated to latter half of the second millennium BC is dominated by microliths and ground stone implements. The raw material used for them includes chert, agate and carnelian. Copper has a restricted presence. The pottery is mostly plain though there are also some painted pieces. Animal remains include those of sheep, goat and cattle.

It is followed by the Megalithic culture which is represented by the introduction of black-and-red ware and iron. Iron is well represented in the burials as well as in the habitation deposits. The objects include lances, arrowheads and daggers. Among the beads of various materials, one of gold

has also been found. The Megalithic period is assigned to the 1st millennium BC.

Naikund

It lies 45 km north-east of Nagpur in the Vidarbha region of Maharashtra. It is a Megalithic habitation site and has yielded a number of stone-circle graves. The people lived in circular huts having wooden posts to support a thatched roof. The antiquities found here include iron daggers, spears, axes, black-and-red ware as well as the charred grains of wheat, common pea, lentil and black gram. The remains of horse and its copper ornaments have also been reported. The site offers an important evidence of iron-smelting. It is confirmed by the presence of the remains of a furnace built of curved bricks and a clay pipe for blowing in the air. Around the furnace is found iron slag and a fragmentary iron axe. S.B. Deo opines that the site came to be occupied first by the Megalithic people in around the 7th century BC.

Paiyampalli

It is situated in the north Arcot region of Tamil Nadu. The excavations conducted here in 1960s have revealed an overlap of Neolithic with Megalithic cultures. The lower levels have yielded Neolithic tools and implements whereas the upper levels contain Mesolithic black-and-red ware and the related antiquities. The tools of the Neolithic period consist of bone and stone implements, former being represented by points and scrapers, and the latter by stone blades, mace-heads and axes. Querns, pestles, pounders have also been found. No metal is reported in the Neolithic levels. In the Megalithic period, however, iron is used profusely for making sickles, knives, spearheads, arrowheads, etc. The use of gold ornaments by the Megalithic people is attested by the recovery of a stone mould of a goldsmith. The beads of semi-precious stones and shell have also come to light. The Megalithic people lived in circular or long houses of thatched roof supported by wooden posts. Their burials consisted of stone-circles, and these have revealed a deposit of iron weapons and black-and-red pottery. The subsistence economy of the people during both Neolithic and Mesolithic periods appears to be agriculture and cattle rearing, supplemented by hunting and fishing. The radiocarbon dates of Megalithic phase at the site range from 7th century BC to 4th century BC.

Piklihal

It is located in Raichur district, about 25 km west of Maski in Karnataka. It is an extensive site where Allchin noted the remains of an essentially Neolithic habitation with ash mound. The material remains related to the iron-using megalith people have also been reported. In the Neolithic period, which is divided into early and later phases, people domesticated cattle, sheep and goat and cultivated millet and pulses. They used hearths for cooking and saddle querns for grinding. There is also some evidence of the use of copper for bowls. Neolithic-Chalcolithic period overlaps with the Megalithic Culture which is marked by the use of black-and-red ware and iron object such as sickle, knife and arrowheads. The site has also revealed rock-paintings, bruising and engravings on the hillock. These paintings are mostly in red ochre and depict, besides animals, dancing human figures, and belong to Pre-historical as well as Historical periods.

Sanaganakallu

This site is situated 5 km north-east of the town of Bellary in Karnataka. Excavated in 1960s, it has brought to light a cultural sequence from the Palaeolithic to the Neolithic and has also yielded the Chalcolithic and Megalithic material remains. The hills of the area contain number of rock bruising or sketches depicting figures of men, animals and birds.

Palaeolithic period is represented by chopper-chopping and flake tools. It is followed by a microlithic industry of the Mesolithic phase marked by quartz flakes and lunates. The Neolithic phase reveals houses having circular floors with post-holes at the edge to support the roof above. The stone tools which belong to this phase are axes, chisel and blades, and these are made on chert and chalcedony. The beginning of the Neolithic is dated to c. 1600 BC.

The Megalithic evidence is found overlapping with the Neolithic culture and is marked by the use of black-and-red ware. Other important discovery of the site is the ash mounds containing heaps of burnt cattle dung. Robert Foote for the first time associated these ash mounds with the Neolithic culture. Later, Allchin suggested that these were cattle-camps of the Neolithic people. Recently, K. Paddayya has argued that these were habitation sites of the sedentary pastoral people. The debate on the nature and character of the ash mound

is still on.

Takalghata

It lies 32 km west of Nagpur in the state of Maharashtra. It, along with Khapa which lies close to it, marks an important Megalithic site of the Vidarbha region. Takalghata is a habitation site whereas Khapa is a burial site. The excavations have revealed the presence of typical Megalithic pottery i.e., black-and-red ware with graffiti. Its shapes include bowls, lids and dishes. There is also evidence of etched and unetched beads of carnelian and agate. The iron artifacts include flat axes and daggers. The animal bones encountered in the excavations have been identified as those of cattle, pig and horse. Copper dishes with lids with a top having motifs of perched birds have also been reported. The Megalithic burials at the nearby site of Khapa reveal that sometimes more than one person were buried in the same grave. Another interesting feature of the Khapa burials is that sometimes horse along with its face-mask (blinkers) and mounting gadgets was also buried by the side of the dead. The date assigned to the Megalithic Culture in central India is around 7th -6th century BC.

Tekkalakota

It is located in the Bellary district of Karnataka, south India. Excavated by Nagaraja Rao in 1960s, it is predominantly a Neolithic-Chalcolithic site with some remains of the Megalithic period. The Neolithic culture has been divided into two phases :

- (i) Early (1700 BC – 1600 BC) and
- (ii) Later (1600 BC – 1500 BC).

The later one has the evidence of the use of copper. The site has revealed not only well-preserved foundations of circular huts but also a large quantity of faunal remains including those of domestic cattle, sheep and deer. Charred bones indicate that meat was roasted. There is no evidence of cereals but the cultivation of horse gram is attested. The artifacts recovered in the excavations include copper implements and gold ear-ornaments, beads of steatite and semi-precious stones, besides microliths (lunates and trapezes) made on chert and chalcedony, and ground and polished axes. Bone tools consist of scrapers, points and borers. Antlers were also used as tool. The rock shelters near the site contain petroglyphs (rock-carvings) depicting bulls, dogs and humans. It is pointed out that

Neolithic-Chalcolithic Culture of the site exhibits some affinity with the Chalcolithic Cultures of central India and the Deccan.

Concluding Remarks

In short, the Megalithic Cultures, though marked by diversity in time and space, are significant because of the use of black-and-red pottery and the development in the field of metal technology, particularly that of iron. The people followed for their subsistence a mixed agro-pastoral economy. The presence of specialized groups of artisans such as blacksmiths, goldsmiths, potters, etc., suggests that the Megalithic people did produce some agricultural surplus to meet the needs of their professional artisans. The significance of the Megalithic cultures also lies in the fact that it forms a prelude to the subsequent economic growth in peninsular India and the Deccan during the early centuries of the Christian era.

References:

1. Chakrabarti, D.K. 1988. *Theoretical Issues in Indian Archaeology*. New Delhi.
2. Deo, S.B. 1985. 'The Megaliths: Their Culture, Ecology, Economy and Technology', in S.B. Deo and K. Paddayya (eds.), *Recent Advances in Indian Archaeology*, Pune.
3. Kennedy, K.A.R. et al .1992. *Human Skeletal Remains from Mahadaha, A Gangetic Mesolithic Site*, Cornell University.
4. Leshnik, L.S. 1974. *South Indian Megalithic Burials*. Wiesbaden.
5. Mc-Intosh, J.R. 1985. 'Dating of the South Indian Megaliths', in *South Indian Archaeology*, Naples.
6. Moorti, U.S. 1994. *The Megalithic Culture of South India: Socio-Economic Perspectives*. Varanasi.
7. Soundara Rajan, K.V. 1985. 'Middle Palaeolithic in India' in *Archaeological Perspective of India since Independence*. K.N. Dikshit (ed.). New Delhi.
8. Thapar, B.K. and A.K. Sharma (1994), '*Indian Megaliths in Asian Context*'. National Museum, New Delhi.



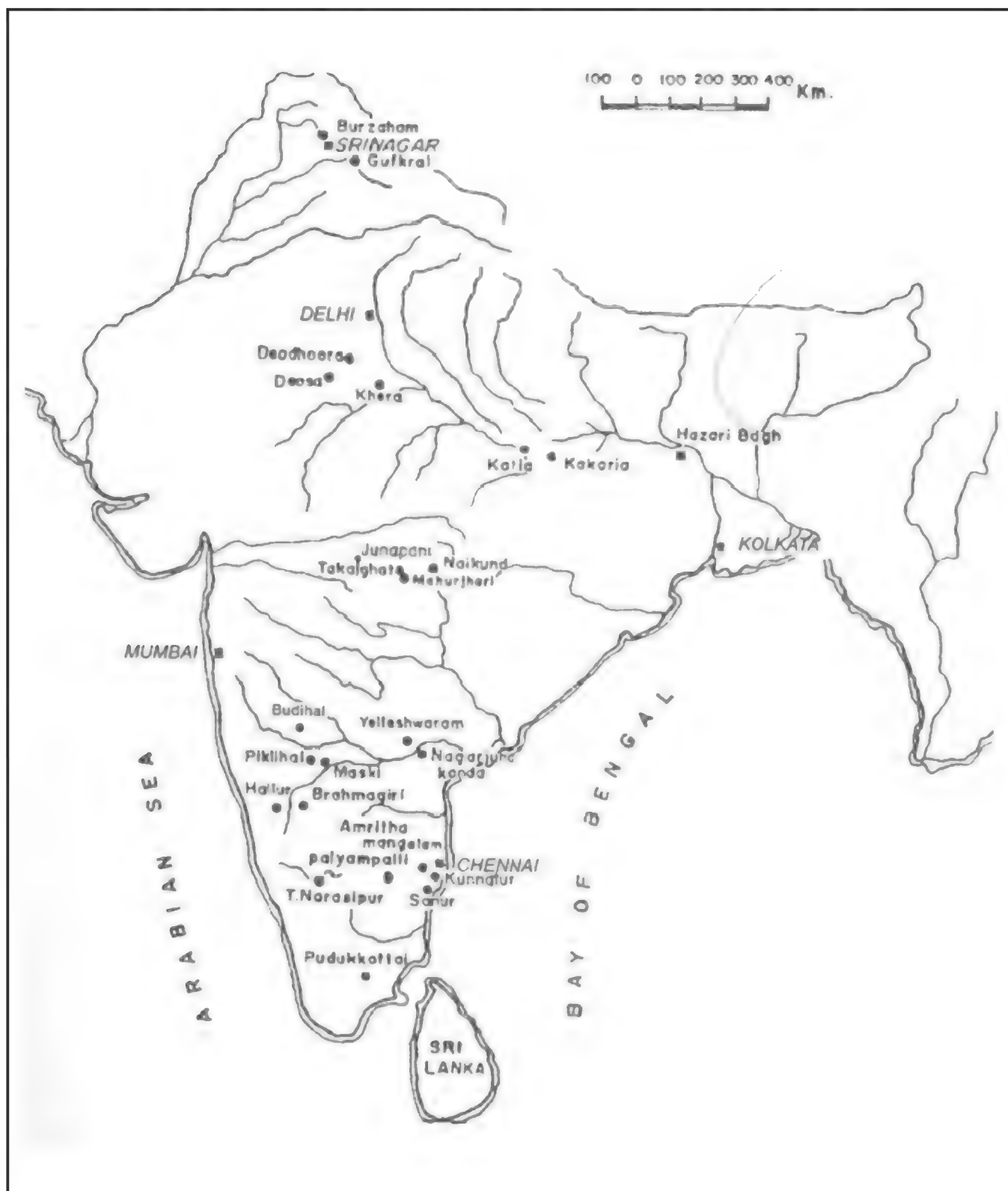


Fig. 1: Principal Megalithic sites of India

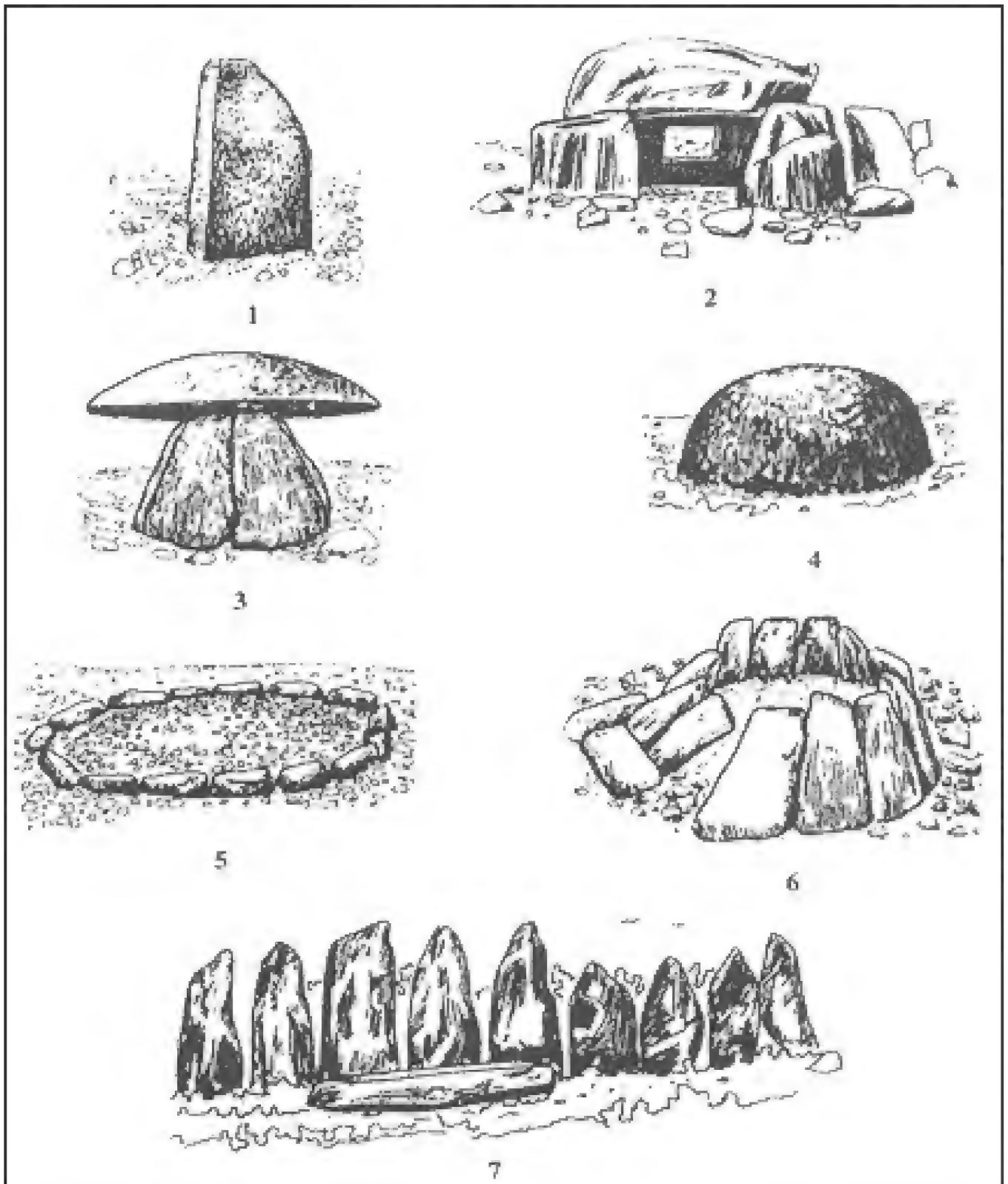


Fig. 2: Megalithic types: 1.Menhir 2.Dolmen 3.Topi-kal 4.Kudai-kal 5.Cairn-circle
6.Multiple hood-stone 7.Series of M

कुशद्वीप एवं मिस्र का वैदिक अतीत

प्रो० राजीव रंजन उपाध्याय *



राणों के अनुसार सप्तद्वीपीय पृथिवी का कुशद्वीप एक विशाल भू खण्ड है¹- जो आज अफ्रीका के नाम से जाना जाता है। इस द्वीप के उत्तर में लीबिया, मिस्र, मोरक्को, अल्जीरिया आदि देश हैं। भूमध्य सागर इस द्वीप के देशों को तुर्की और यूनान से अलग करता है। कुशद्वीप के उत्तर में स्थित देश समशीतोष्ण होते हुए विशाल मरुभूमिय क्षेत्र हैं। इसी मरुभूमि में इन देशों, विशेषकर मिस्र का अतीत दबा हुआ है।

सरिता नील मिस्र को दो भागों में विभक्त करती है— निम्नभूतलीय उत्तरी क्षेत्र एवं पर्वतीय ऊँचाई पर स्थित दक्षिणी क्षेत्र में। उत्तरी क्षेत्र के राजाओं की ध्वजा पर सर्प/नाग बना रहता था तथा दक्षिणी राजकुल का प्रतीक श्येन— बाज-पक्षी ‘होरेस’ था। कालान्तर में इन दोनों क्षेत्रों के एकीकृत हो जाने पर यह प्रतीक-चिह्न भी एकीकृत होकर बाज के चंगुल में पंजे में फँसे नाग-सर्प के रूप में स्थापित हुआ।²

श्येन अथवा गरुड़ के पंजे में दबे सर्प की कल्पना मिस्र में कैसे पहुँची, इसके विषय में उनका प्राचीन साहित्य मौन है। तथ्यतः यह कथा भारतीयों के साथ वहाँ गई होगी। कारण है कि विनता एवं कद्रु के वंशजों— गरुड़ और नागों की चर्चा *महाभारत* एवं *भागवतपुराण* में वर्णित है एवं इनकी चर्चा *तैत्तिरीयसंहिता* एवं *शतपथब्राह्मण* में भी विद्यमान है।³

महाभारत में गरुड़ द्वारा सर्पों के विनाश के उपरांत, उनका शालमली वृक्ष पर विश्राम करना, कुशद्वीप के सुमाली देश की ओर संकेत देता है। यह भी उल्लिखित है कि नागलोक में

सूर्योपासना ‘हयसिर’ के नाम से की जाती थी तथा कुण्डली मारे नाग, जो उत्तरी मिस्र के सम्राटों के मुकुट में अंकित रहता था, को ‘हेरसीसुस’ कहा जाता था। इन शब्दों में आश्चर्यजनक रूप से जो साम्य है— वही भारतीय-संस्कृति के प्रभाव का द्योतक है। इसी प्रकार सोपानयुक्त (stepped) पिरामिडों का निर्माण (2686-2613 ई०पू०) शुल्बसूत्रों की गणनाओं को आधार बनाकर किया गया था।⁴

मिस्री-वैदिक संस्कृति का सर्वप्रथम उच्छेद रोमनों, तदुपरांत, ईसाइयों ने और समूल नष्ट करने का कार्य इस्लाम ने किया। वास्तव में धर्म-परिवर्तन से आचार-विचार में परिवर्तन होता है, परन्तु उसका मूल स्वरूप बचा रहता है। कुशद्वीप अथवा अफ्रीका के साथ यही घटित हुआ। परन्तु उनकी पुराकालीन संस्कृति एक नवीन कलेवर धारणकर आज भी सतत है।

ईसाइयों की ही भाँति मुसलमानों ने इस महाद्वीप के वासियों को दास बनाकर रोमनों की भाँति विश्वभर में बेचा। कालान्तर में भारत में वे गुलाम मुसलमान बनने के बाद मलिक अंबर-जैसे वज़ीर बने और एक दूसरा भारत के कोंकण-क्षेत्र के जंजीरनगर का सुल्तान बन बैठा।^{5-अ}

पुराकाल से ही भारतीयजन आधुनिक ईरान, इराक, अरब, पलस्ताइन-इज़रायल, मिस्र तथा कुशद्वीप के अन्य भागों में वास करते थे। इन तथ्यों की ओर इंगित करते हुए एडवर्ड पोकोक ने अपनी पुस्तक *‘इण्डिया इन ग्रीस’* में लिखा है— ‘मिस्रवासी अपने को सूर्यवंशी मानते हैं, सूर्य की उपासना करते हैं और मनु को अपना आदिपुरुष मानते हैं। यही तथ्य उनके प्राचीन पत्रकों से भी स्पष्ट होता है।’^{6-अ}

थियोसोफिकल सोसायटी के संस्थापक कर्नल अल्काट के शब्दों में, ‘आठ हजार वर्ष पूर्व भारतीयों ने मिस्र में आकर भारतीय-सभ्यता का विस्तार किया था।’⁷ इसी तथ्य के प्रतिध्वनि

* पूर्व प्रोफेसर, कैंसर-शोध, तबरीज विश्वविद्यालय, तबरीज, ईरान; संपादक, ‘विज्ञान-कथा’, आवास : ‘विज्ञान’, परिसर कोठी काके बाबू, देवकाली मार्ग, फैज़ाबाद-224 001 (उ०प्र०); दूरभाष : 05278-240176; सचलभाष : 9838382420

वायुपुराण में भी विद्यमान है—

‘अंगद्वीपं यवद्वीपं मलयद्वीप मेव च ।

शंखद्वीपं कुशद्वीपं वराहद्वीप मेव च ॥’

ऐसी मान्यता है कि कुशद्वीप रामचन्द्रजी के पुत्र द्वारा शासित था।⁵ लंकापति रावण के संबंधियों— माली एवं सुमाली का भी इस द्वीप से संबंध था, क्योंकि आज भी अफ्रीका में ‘माली’ और ‘सुमाली’ के नाम से देश विद्यमान हैं—

‘जम्बुमालेः सुमालेश्च ददाह भवनं ततः ।’⁶

कुशद्वीप-स्थित मिस्र की संस्कृति के अध्ययताओं के अनुसार मिस्र का प्रथम राजवंश, जो 3100 ई० पू० में स्थापित हुआ था, के लोग मिन (मनु) को अपना पूर्वज मानते थे। इस राजवंश के नौ अथवा दस राजाओं की चर्चा है, जिनका अन्तिम सम्राट् ‘क’ नामधारी था।⁷ यह तथ्य भारतीय-मन्वन्तर की सत्यता को सिद्ध करता है, क्योंकि चाक्षुस मनु से छठवें मन्वन्तर का प्रारम्भ हुआ था। चाक्षुस इसके सर्वप्रथम प्रजापति थे तथा प्रजापति दक्ष अन्तिम। सम्भव है कि यह प्रजापति दक्ष मिस्री-उच्चारण में मात्रा ‘क’ शब्द द्वारा व्यक्त किया गया हो, क्योंकि वह ‘क’ ध्वनि दक्ष के उच्चार में मध्यस्थ है।⁸

थॉमस मोरिस ने अपने ग्रन्थ में भारत के कुशद्वीप के साथ संबंधों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उन्होंने लिखा है, ‘भगवान् परशुराम ने अपने पिता जमदग्नि की हत्या का प्रतिकार क्षत्रियों से लेने के लिए कुशद्वीप के नरभक्षी-नरेश क्रव्याधिपति का भी संहार किया था। लोहित सागर का निर्माण युद्ध में संहार किए गए क्षत्रियों के रक्त से हुआ था। क्रव्याधिपति के मित्र कैकय, जिसे यूनानी-इतिहासकार ‘ओरीयन्टेस’ (Orentes) के नाम से स्मरण करते हैं, ने भी परशुराम से युद्धकर मृत्यु का वरण किया था। इसके उपरान्त परशुराम ने कुटिल केशों के नृप महाश्याम एवं श्याममुख, जो अर्बदेश में रहते थे और संभवतः ब्लेमिस (Blemys) और आराकस के नामों से जाने जाते थे, भी दीर्घकाल तक युद्धकर परास्त होकर परशुराम के शरणागत हुए। परशुराम ने इन्हें सरिता काली-नील के समीपवर्ती क्षेत्र में वास करने का निर्देश दिया। यही कथा संक्षिप्त रूप में मिस्र के कवि नोनस (Nonnus) द्वारा वर्णित की गई है।⁹

आधुनिक अफ्रीका के इथोपिया नामक देश में भारतीयों के बसने की चर्चा करते हुए यूनानी-इतिहासकार इयूसेबियस ऑफ़ सीज़ेरिया (263-339) ने लिखा है कि ‘सिंधु नदी के तट के वासी भारतीय मिस्र के समीप इथोपिया में बसे थे।’¹⁰

भारतीयों के मिस्र में वास करने के सन्दर्भ में बेंग शवे

का कथन ध्यातव्य है, ‘अति प्राचीनकाल से भारतीय मिस्र की नील नदी के तटवर्ती क्षेत्रों में बसे थे। स्वतः मिस्रवासियों का अनुमान है कि उनके पूर्वज किसी अन्य अद्भुत देश से आए थे। यह हिंद महासागर के तट पर बसा पंत अथवा पंख्त देश था जो भारत के अतिरिक्त कोई अन्य देश नहीं हो सकता।’¹¹

भारत से मिस्र के पुराकालीन सम्पर्कों की चर्चा से सम्बद्ध है वहाँ का एक शिलालेख, जिसके अनुसार मिस्र के सम्राट् शंकराह (Shankarah) और उसकी रानी हापशे पुट (Hapshe Put) ने अपने राज्य के प्रजाजनों को नौकाओं पर बैठाकर जलमार्ग से पंत नामक देश-भारत-की यात्रा पर भेजा था। यह लोग महाभारत-वर्णित सिंधुसौवीर, ‘ओफिर’ (Ophir) नामक स्थल पर द्वाइ वर्षों तक रहने के पश्चात् अपने देश सोने-चाँदी, मयूर-पंख, विविध प्रकार के रंग और व्याघ्र-चर्म लेकर वापस गये। उनके मिस्र पहुँचने के पूर्व सम्राट् की मृत्यु हो चुकी थी। यह घटना 1800 ई०पू० की है।¹² [उल्लेखनीय है कि मयूर केवल भारत में ही पाया जाता है। —संपादक]

अफ्रीका के अन्य भूभागों की भाँति भारतीयों के संबंध आधुनिक जिम्बाब्वे-रोडे़शिया से भी प्राचीनकाल से थे। ऐसी मान्यता है कि ब्राह्मक्षत्रिय जन ‘झल्ल’ होकर अफ्रीका के रोडे़शिया-क्षेत्र में गए थे जिन्होंने जूलु-योद्धाओं को जन्म दिया। इस तथ्य के प्रमाण में श्री काशीनाथ तैलंग लेले ने ‘गुजराती’ नामक पत्रिका के अक्टूबर, 1922 की ‘दीपमलिका-अंक’ में लिखा है कि ऐतरेयब्राह्मण में वर्णित है—

‘पारिवृतांकृष्णाञ्जुक्लदतो मृगान्मण्णारे भरतोऽददाच्छतम्बद्वानि सप्त च भरतस्यैष दौषन्तेरग्नः साचीगुणे चितः...’¹³

इस मंत्र पर सायणाचार्य के भाष्य का अनुवाद निम्नवत् है—

‘दुष्यन्त के पुत्र राजा भरत ने मण्णार नामक देश में सुवर्ण अलंकारों से युक्त बड़े श्वेत दाँतवाले हाथियों के एक सौ वृन्द दान में दिये। इस महान् हस्तिदान से राजा भरत को महाकर्म की उपाधि मिली।’

जिस वर्णन में यह मंत्र आता है, वहाँ पर पाँच और मंत्र हैं और अन्तिम मंत्र की व्याख्या है—

‘महाकर्म भरतस्य न पूर्वे नापरे जनाः दिवम्मर्त्य इव हस्तभ्यां नोदापुः पञ्च मानवा... ।’

अर्थात्, ऐसा महाकर्म राजा भरत के न तो पूर्वजों ने किया था और न उनके बाद किसी अन्य ने।¹⁴ एक प्रश्न जो सहज ही मानस

को अन्दोलित करता है, कि यह हाथियों से युक्त विशाल सुवर्णयुक्त क्षेत्र मण्णार कहाँ है? 'मैनुएल ऑफ़ ज़ियोग्राफी' से ज्ञात होता है कि दक्षिण अफ्रीका में जिम्बाब्वे में 'मण्णा' नामक स्थान है जो अब 'मशोनालैण्ड' कहा जाता है, यहाँ पर पूर्वकाल की ही भाँति आज भी सुवर्ण-अयस्क प्रचुर मात्रा में विद्यमान है तथा उस क्षेत्र के भग्न भवनों के अवशेष प्राचीन सभ्यता का संकेत देते हैं। हाथियों के झुण्डों के लिए यह क्षेत्र चर्चित है।¹⁴

संस्कृत भाषा में 'र' शब्द के लोप हो जाने के परिणामस्वरूप यह स्थान मण्णार से परिवर्तित होकर क्रमशः 'मण्णा' और 'मशोना' और भूमि का वाचक 'लैण्ड' शब्द से संयुक्त होकर 'मशोनालैण्ड' बन गया।

इस क्षेत्र के प्राचीन वासियों के संबंध में भविष्यमहापुराण का कथन पठनीय है—

**‘रथाक्रान्ते नराः कृष्णा प्रायशोविकृतात्राः ।
आममांसभुजा सर्वेशूराः कुंचित मूर्द्धजाः ॥’**

अर्थात् यहाँ के मनुष्य (जूलु जन) काले, विकृत मुखवाले, कच्चा मांस खानेवाले, घुंघराले बालोंवाले वीर होते हैं।¹⁵

इस प्रकार संक्षेप में कुशद्वीप में भारतीयों की तीन स्पष्ट धाराएँ पहुँचीं। आदिकाल, झल्ल-काल, भरत-काल और उसके बाद की धाराओं के साथ, उस देश के वासियों से जो मिश्रण हुआ, वही इस देश के 'मिस्र' नाम का कारक बना।¹⁶

मिस्र के प्राचीन नामों, यथा— 'कमित' और 'हपि' का उद्भव भी कुमृत— काली मृदा— मिट्टी और हपि-अप् से है जो जल का सूचक है, से संबंध रखता है। ये दोनों शब्द परोक्ष में सरिता नील से जुड़े हुए हैं।¹⁷

सरिता नील का उद्गम :

मिस्र की सरिता नील भारत की सुरसरिता गंगा की ही भाँति पवित्र मानी जाती है। यह विश्व की प्रमुख नदियों में एक है। इस नदी का उद्गम यूरोपीय-शास्त्रज्ञों एवं अन्वेषकों के लिए एक समस्या थी। इसके उद्गम के विषय में अनेक अन्वेषकों द्वारा विभिन्न धारणाएँ प्रतिपादित की गई थीं। परन्तु वे नील नदी के उद्गम के विषय में सर्वस्वीकार्य न हो सकीं। अन्त में पद्मपुराण में इस नदी के उद्गम का जो विवरण दिया गया था, वही सत्य सिद्ध हुआ।

ब्रिटिश-अन्वेषक जॉन हैनिंग स्पेके (John Hanning Speke : 1827-1864) भारत की ईस्ट इण्डिया कम्पनी में कार्यरत थे। उन्हें कर्नल पिगडी ने जो सूचना दी थी, उसके साथ उन्होंने एक भू-मानचित्र, जो पद्मपुराण के विवरण के अनुसार

बनाया गया था, भी दिया।

उसमें वर्णित था कि चन्द्रगिरि पहाड़ियों से नील नदी प्रकट होती है। जॉन स्पेके ने इसी को आधार बनाकर अपने अन्वेषण के उद्देश्य को सफल बनाया तथा पुराकालीन भारतीय-अन्वेषकों के प्रयास की भूरि-भूरि प्रशंसा की।¹⁸ इसी सन्दर्भ में यह चर्चा समीचीन होगी कि भारतीय-जन पुराकाल से मिस्र को श्रीरामचन्द्र के पूर्वज महाराज अज के नाम से सम्बद्ध करते थे।³³

पुनः ध्यान योग्य तथ्य संस्कृत का शब्द 'नील' है जो नील वर्ण का द्योतक है। इस शब्द का नील नदी के लिए व्यवहृत होना ही इस तथ्य का सूचक है कि अरबी-भाषा अथवा प्राचीन मिस्री-भाषा में यह शब्द नहीं था; यह भारतीयों की देन है। वैसे भी भारत में प्राचीनकाल से नील के पौधों (Indigofera tinctoria) की कृषि नीला रंग बनाने हेतु की जाती थी। इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (आंग्ल विश्वकोश) भी 'नील' शब्द के संस्कृत से उद्भूत होने के तथ्य को स्वीकार करता है।¹⁶

मिस्र के प्रमुख देवों का उद्भव :

मिस्र के प्रमुख देवों का उद्भव भी वहाँ के वासियों द्वारा वैदिक जनों की भाँति खगोलीय पिण्डों के, ग्रह-नक्षत्रों के दीर्घकालिक निरीक्षण और उनकी गति से उत्पन्न परिवर्तनों का परिणाम है।¹⁷

भारतीय-ज्योतिष की सुदीर्घ परम्परानुसार मंगल, शुक्र, और सर्वोपरि सूर्य और चन्द्रमा महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि ये सभी प्रत्यक्ष देव हैं। प्राकृतिक दृश्य विषय हैं।¹⁸

मिस्र की भौगोलिक स्थिति के कारण वहाँ मंगल ग्रह तीव्रता से चमकता हुआ पन्द्रह वर्षों तक लगातार दिखता रहता है। यह अपनी दीर्घवृत्तीय कक्षा में गति करने के कारण पृथिवी के अन्तरिक्ष में इतने ही वर्षों के अन्तराल पर पुनः प्रकट होता है। शुक्र ग्रह भी इसी प्रकार मिस्र के नभमण्डल में दृष्टिगोचर होता है।

मंगल ग्रह के पृथिवी के समीप आ जाने के परिणामस्वरूप उसके गुरुत्वाकर्षण से पृथिवी की गति प्रभावित होकर 360 दिनों के वर्ष को जन्म देती है और उसके अपनी कक्षा में पृथिवी से दूर हो जाने के कारण पृथिवी के वर्ष में 5 दिनों की बढ़ोत्तरी हो जाती थी। इस प्रकार कभी वर्ष 360 तो कभी 365 दिनों का माना जाता था। तथ्यतः यह दोनों वर्ष मिस्र में पुराकाल से ही प्रचलित थे और वहाँ पर एकीकृत पंचाङ्ग 687 ई०पू० में ही स्वीकृत हुआ था।¹⁹

जल-प्लावन के उपरांत पृथिवी के जल से क्रमशः प्रकट

होने के विषय में जो अवधारणा वैदिक वाङ्मय में विद्यमान है²⁰ उसी प्रकार की अवधारणा प्राचीन मिस्र में भी प्रचलित थी। जल-तत्त्व को वे 'नुत' (Nut) कहते थे तथा धरा 'गेब' (Geb) थी। जो देव इस धरा को अन्तरिक्ष में स्थिरता प्रदान करता था, वह 'शु' (Shu) शब्द से सम्बोधित होता था। जल-प्लावन के उपरांत मंगल ग्रह मिस्र के नभमण्डल में काफ़ी स्पष्ट और समीप दृष्टिगोचर होता था। उसकी जो छाया दिन में पृथिवी से दिखती थी, वह 'दुआत' (Duat) कही जाती थी। मान्यता थी कि यह दुआत नुत के शरीर में वास करता है।

मंगल ग्रह पर अनेक पर्वत और मरुभूमिय क्षेत्र में विद्यमान विशालकाय विवर, मिस्रवासियों को मानव की आँख की भाँति दिखते थे। इसी कारण उनकी कल्पना के विस्तार ने क्षितिज (मंगल के सन्दर्भ में) पर स्थित 'होरेस आम अखेत' (Hores am Akhet) को जन्म दिया। यह देव होरेस मानव की आँख के रूप में चित्रित किया गया था। (देखें चित्र 1)

मंगल ग्रह का उत्तरी ध्रुव लगातार 15 वर्षों तक मिस्र की भूमि के सम्मुख रहता था। परिणामस्वरूप धरा के समुद्र में ज्वार की तरंगों ने समुद्री चट्टानों के छिद्रों को आघात द्वारा चौड़ा कर दिया होगा। इन अनेक छिद्रों से धरा के गर्भ में जल के प्रविष्ट हो जाने के परिणामतः जो विस्फोट द्वारा तप्त लावा समुद्र के ऊपर निकला होगा, उसको देखकर मिस्र के पुराकालीन उपासकों ने आस की, ओसीरिस (ग्रीक शब्द) की (Asar = k Osiris) कल्पना की होगी।

मिस्र का उनके प्राचीन नगर थीब्स का आदरणीय देवता 'अतेन' (Aten) अथवा 'आमुन' (Amun) वैदिक इन्द्र आदि के समकक्ष था। भारतीयों की भाँति ही मिस्रवासी पुनर्जन्म में पूर्ण आस्था रखते थे। मृत्यु के उपरांत परिवर्तित आत्मा को 'खनुम' (Khnum) नामक देवता का संरक्षण प्राप्त होता था। यह छाया में 'दुआत' (Duat) में वास करता था। यह मिस्री-चित्रों में भेड़ के सरयुक्त विशालकाय पुरुष के रूप में चित्रित किया गया था।

मिस्र के देव-परिवार में होरेस (Horus) श्येनरूपी देवता है, जो अन्तरिक्ष में व्याप्त रहता है तथा यह चन्द्रमा— ईसिस (Isis) का पुत्र माना जाता था।

ओसीरिस (Osiris) मिस्र का प्रमुख देवता था। इसकी माता नुत (Nut) थी। इसके जन्म के समय आकाशवाणी हुई थी कि विश्व का निर्माता उत्पन्न हो गया है जो कालान्तर में मिस्र का राजा होगा। इसने मिस्र में सभ्यता और शिल्पज्ञान का प्रचार करने के उपरांत विश्व के अन्य देशों को सुसंस्कृत बनाने का कार्य

प्रारम्भ किया। इस हेतु वह अनेक देशों में गया। उसकी अनुपस्थिति में उसकी पत्नी ईसिस (Isis) राज्य-कार्य देखती थी। अपनी 28-वर्षीय यात्रा के उपरांत मिस्र वापस आने पर सेत (Set) ने अपने 27 सहयोगियों को लेकर ओसिरिस की हत्याकर, उसके शरीर को एक संदूक में बन्दकर नील नदी में डुबो दिया।

अपने पति की हत्या की सूचना पाते ही ईसिस, उसकी लाश की खोज में निकल पड़ी। उसे पता चला कि वह संदूक सरिता नील से बहता हुआ बाइब्लोस (Byblos) नामक स्थान पर जा पहुँचा है जिसपर एक इमली का वृक्ष उग आया है। संदूक उस वृक्ष के तने के भीतर था। वहाँ जाने पर ईसिस को ज्ञात हुआ कि उस वृक्ष के तने को राजा ने अपने भवन में स्तम्भ के रूप में लगा लिया है। राजा से ईसिस की बहुत प्रार्थना के उपरांत उसे तने के मध्य स्थित संदूक प्राप्त हुआ।

उस संदूक में स्थित शव को लेकर मिस्र वापस आने पर ईसिस अपने पुत्र होरेस की खोज करने चली गयी। इसी मध्य सेत (Set) ने पुनः ओसिरिस के शव का चौदह टुकड़ों में काटकर समुद्र में बहा दिया। परन्तु ईसिस ने पेपाइरस (Papyrus) की नाव पर बैठकर उस समुद्र की यात्राकर ओसिरिस के शरीर के सभी अंगों को (मात्र उसके शिश्न को छोड़कर) प्राप्त कर लिया। ईसिस की समुद्र-यात्रा का उत्सव 5 मार्च को शरद ऋतु के अन्त होने पर आज भी मनाया जाता है। कालान्तर में होरेस ने अपने पितृहन्ता की हत्या कर दी। ओसिरिस का प्राचीनतम चित्र मिस्र के सम्राट् नारमेर (Narmer : 3300-4000 BCE) के काल का है जो पूर्णतः संरक्षित है।¹⁹

मिस्री-सभ्यता के अध्येयताओं का मानना है कि ओसीरिस के जन्म के समय हुई आकाशवाणी सम्भवतः बृहस्पति ग्रह पर हुए उल्कापिण्ड के आघात के कारण उत्पन्न हुए ब्रह्माण्डीय धूल-कणों की वर्षा से जुड़ी है, जिसकी चर्चा विश्व के प्रत्येक प्राचीन सभ्यता में है और इस घटना ने अनेक मिथकों को जन्म दिया था। एक अनुमान के अनुसार इस घटना के कारण तीन हजार वर्षों तक पृथिवी पर व्याप्त धूल-कणों ने ब्रह्माण्डीय सर्प-शेषनाग की कल्पना को भी जन्म दिया हो।¹⁹

ओसीरिस के अंगों को 14 खण्डों में काटकर समुद्र में विसर्जित करने की मिस्री-कथा भारतीय-सन्दर्भ में प्रजापति दक्ष के तिरस्कार से क्षुब्ध सती के प्राण-त्याग और इसके उपरान्त शिव द्वारा उनके शरीर को लेकर नर्तन तथा विष्णु द्वारा उनके शरीर को 21 भागों में कटकर पूरे भारत में बिखर जाने से अतीव साम्यता रखती है। असम्भव नहीं कि भारतीयों के साथ सती की कथा ने मिस्र में पहुँचकर परिवर्तित स्वरूप धारण कर लिया हो।²¹

प्राचीन मिस्र का देव-परिवार²¹ :

प्राचीन मिस्र के देवों और देवियों की विशेषता भारतीय देव-देवी परिवार की ही भाँति है। भारतीय-सन्दर्भ में अन्तर मात्र इतना है कि पशु और पक्षी, जो देव-देवी परिवार से जुड़े हैं, उनके वाहन हैं और एक-दो उदाहरणों को छोड़कर कोई भी भारतीय-देव अथवा देवी पशु-पक्षी मुण्डयुक्त नहीं हैं।

अमुन (Amun) : मिस्र की प्राचीन नगरी थीब्स का आराध्य-देवता। यह सूर्य से संयुक्त होने के उपरान्त 'अमुन-रा' कहा जाता था। प्रारम्भ में ब्रह्मा का एक रूप माना जाता था। कालान्तर में यह देव नीलवर्णी लेकर, मोर मुकुटधारी होकर कृष्ण का मिस्री-प्रतिरूप बन गया।



आनत (Anat) : सीरियायी उद्भव की ढाल और परशुधारी देवी। भारतीय-देवी दुर्गा की समकक्ष।

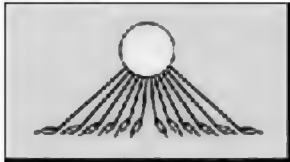
अनूबिस (Anubis) : यह अनपू (Anpu) नाम से भी स्मृत है। शृगालों, ममी संरक्षित करनेवालों तथा नर्क का देवता।



अनुकेत (Anuket) : 'आन क्वत' नाम से भी स्मृत, मिस्र के आसवान क्षेत्र के पक्षियों की मुकुटधारणी देवी।



आरसाफेस (Arsaphes) : इसे 'हेरीशेफ' (Heryshaf) भी कहा जाता था। यह भेड़-मेष के सरयुक्त देवता था।



आतेन (Aten) : सूर्य के पिण्ड का देवता जो आखेनातेन (Akhenaten) द्वारा पूजित था।

अतुम (Atum) : संक्षिप्त में तुन (Tun), हीलियोपोलिस का देवता जो सूर्य के समान था तथा यह पुरुष-स्वरूप में चित्रित किया जाता था।



बास्तेत (Bastet) : 'वास्त' (Bast) नाम से भी स्मृत मजीर-विल्लियों का देवता, जिसकी उपासना बुबासतिस क्षेत्र में होती थी।



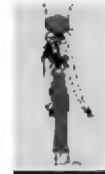
बेस (Bes) : सिंहस्वरूप का लघुकाय देवता जो सर्पों से रक्षा करता था। महिलाओं के प्रसव में सहायक।

ऐदजो (Edjo) : मिस्र के डेल्टा-क्षेत्र की नागदेवी। मुकुटधारी देवी जो राजा की रक्षा करती थी।

गेब (Geb) : भूमि का देवता ननु (Nut) का पति।



हापी (Hapy) : बाढ़ (जल-प्लवान) का देवता जो सर पर पेपाइरस लिए चित्रित रहता है।



हाथोर (Hathor) : गो-स्कन्धधारिणी, देवी, मिम्फिस, कूसेस, गेवेलीन आदि क्षेत्रों में पूज्य।



हातमेहित (Hatmehit) : मेन्डेस की मत्स्य देवी जो कभी-कभी मछली को सर पर लिए चित्रित की जाती है। यह देवी सुमेर में आकर मिस्र में स्वीकार्य हुई होगी तथा सम्भवतः यह चर्चित फिशमैन (मत्स्यावतार) के स्वरूप परिवर्तन का परिणाम हो।



हेकेत (Heqet) : दादुरों की देवी जो प्रसव-पीड़ा में स्त्रियों की सहायक होती थी।

ईसिस (Isis) : विश्वदेवी, ओसिरिस की बहन और पत्नी तथा होरस की माता। शवाधानों की रक्षिका मिस्र के 'फेली' नामक स्थान की प्रमुख उपास्य देवी। चन्द्रमा का प्रतिरूप। (देखें चित्र 9)

खनुम (Khnum) : पुनर्जन्म से संबंधित देव।



मात (Maat) : सत्य और कर्तव्यनिष्ठा की देवी जो सर पर शुतुर्मुर्ग के पंखों की धारण करती थी।



मोन्य (Month) : मिस्र के राजाओं का श्येन-सरयुक्त, युद्ध का देवता।

मुत (Mut) : आमुन के पत्नी, प्रारम्भ में गृद्धों की देवी, कालान्तर में स्त्री-रूप में चित्रित।

नेफेरतुम (Nefertum) : कमल का देवता, मोम्फेस में पातह के पुत्र के रूप में पूजित, भारतीय विष्णु के समकक्ष, कमलों का मुकुटधारी पुरुष रूप में चित्रित।



नेहेबकाऊ (Nehebkau) : सर्पों का देवता, मानव-रूप में होरस की आँखों सहित चित्रित।



नीथ (Neith) : 'नेत' नाम से भी सम्बोधित, प्राचीन साइस में पूज्य, लाल मुकुट-धारणी, ढाल और तीरों से सज्जित, शवों की रक्षिका देवी, जो यूनानियों की एथिना (Athena) देवी के रूप में स्वीकार की गयी।



नेफ़थिस (Nephthys) : 'नेवेतहेत' नाम से स्मृत ईसस की बहन मिस्र की चार संरक्षिका का देवियों में से एक, शवों की रक्षिका।



नून (Nun) : प्रारम्भिक विश्व का अशान्ति का देवता।

नुत (Nut) : आकाश की देवी, गेब की पत्नी, नग्न धनुषाकार अन्तरिक्षधारणी रूप में चित्रित।



ओनूरिस (Onuris) : नर्क का देवता, दैवी आखेटक।



ओसिरिस (Osiris) : मृत्यु और पुनर्जन्म का देवता, चित्रों में मृत राजा के रूप में दर्शाया जाता था।



पाथ (Path) : मेमफिस का जनक, देव-शिल्पियों का देवता, भारतीय प्रजापति विश्वकर्मा के समकक्ष।



क्वादेश (Qadesh) : सीरियाई-उद्भव की सिंह पर सवार देवी, भारतीय सिंहवाहिनी दुर्गा की समकक्ष।

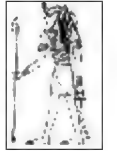


रे (Re) : रा के रूप में भी स्मृत सर्वेश्वर वैदिक सूर्य इन्द्र के समकक्ष।

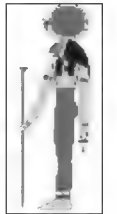


रेनेनूटे (Renenutet) : प्रजन्त एवं अन्न की देवी, जो सूर्य अथवा सर्पधारिणी स्त्री के रूप में चित्रित की जाती थीं

रेशेफ (Reshef) : सीरियाई-उद्भव का युद्ध का देवता।



साखमेत (Sakhmet) : पातेह की सिंह स्कन्धधारणी देवी जो रे के शत्रुओं का विनाश करती थी।



सेलकिस (Selkis) : सूर्य के दाहक ताप से सम्बद्ध वृश्चिक देवी। मिश्र की चार-संरक्षिका देवियों में एक, शवों की रक्षिका जिसे सिर पर वृश्चिक लिए दिखाया जाता था।



सेशात (Seshat) : विद्या तथा राजकीय अभिलेखों की देवी। सरस्वती के समकक्ष।



सेत (Set) : विनाश का देवता, शिव के समकक्ष।



शू (Shu) : वायु का देवता जिसके चित्र पृथिवी (गेब) को आकाश (नुत) से अलग करते हुए मिलते हैं, भारतीय वायु देव का समकक्ष।



सोबक (Sobek) : शिशुमार-घड़ियालों का समस्त प्राचीन मिस्र में पूजित देवता।



थोरिस (Thoreris) : दरियाई घोड़ों की देवी, रानियों में प्रसव सम्पन्न करानेवाली पूज्य देवी।



थोथ (Thoth) : बगुले के सर युक्त देवी-देवताओं की लेखन में सहायक और लेखन कर्म की जन्मदाता, भारतीय सरस्वती के समकक्ष।



इस देव-देवी परिवार की सूची में प्रमुख देवों की ही चर्चा संक्षिप्त में की गई है, अन्य गौण देवी-देवताओं की सूचना अंतर्जाल पर उपलब्ध है।

प्राचीन मिस्र के वैदिक पुरोहित :

प्राचीन सभ्यतावाले देशों ग्रीस, रोम, मेसोपोटामिया की भाँति मिस्र के पुरोहितगण मुण्डित सर रहते थे। वे मन्दिर में प्रतिदिन तीन बार स्नानकर शरीर पर चन्दन के अष्टनाम चिह्न (देखें चित्र 2) धारणकर धवल वस्त्र, पहनकर, धूप-सुगन्धि से मन्दिर को पवित्र करने के उपरान्त उसमें प्रवेश करते थे। मन्दिर प्रतिदिन सूर्योदय के समय खोल दिए जाते थे और पुरोहितजन यज्ञ की अग्नि को प्रज्वलितकर उसमें आहुति डालते थे। आचमन और प्रत्येक स्वच्छता-कर्म में नील के जल ही प्रयोग किया जाता था। विभिन्न श्रेणियों में कार्य को संपादन करने हेतु बँटे पुरोहितजन मूर्ति को वस्त्राभूषणों आदि से सज्जित करते थे। विशेष अवसरों पर मूर्तियाँ मन्दिर से बाहर लाई जाती थीं और उनके पीछे भक्तजन वाद्य-यंत्रों, यथा— बाँसुरी आदि बजाते, गाते हुए चलते थे।

मध्याह्न में मन्दिर के कपाट बन्द कर दिए जाते थे जो संध्या को पुनः भक्तजनों हेतु खुलते थे। यही प्रथा स्पेन के कडिज (Cadiz) नगर के ईसिस मन्दिर में भी प्रचलित थी। इस तथ्य का उल्लेख कडिज से प्राप्त शिलालेख में स्पष्ट रूप से किया गया है।^{33f}

अपने शरीर पर अष्टनाम चिह्न मिस्री-सम्राट् भी धारण करते थे (देखें चित्र 3)। पिरामिड का निर्माता, जिसका नाम देवेसर था, की संग्रहालय में रखी प्रतिमा में अष्टनाम चिह्न धारण किए हुए है।^{33f} (देखें चित्र 2) पुरोहितगण देवोपासना की अवधि में ब्रह्मचर्य-पालन करते थे।

मिस्र की धार्मिक प्रथाएँ :

विद्वानों का मानना है कि प्राचीन मिस्र और भारत की धार्मिक रीतियों में पर्याप्त समानता है तथा अनेक भारतीय-पौराणिक नाम मिस्री-दन्तकथाओं में सुरक्षित हैं। मिस्र-विजय करने के उपरान्त सिकन्दर (अलक्ष्येन्द्र) जिस प्रसिद्ध महादेव के मन्दिर में दर्शन करने गया था, वह स्थल आज 'अलेक्जेंड्रिया' कहा जाता है।²² इस स्थान पर इस्लाम स्वीकार करने के उपरान्त भी स्त्रियाँ पुत्र-प्राप्ति हेतु प्रार्थना करने जाती हैं।¹²

प्राचीन मिस्र की त्रिमूर्ति की कल्पना, पुनर्जन्म, बहुदेववाद, चतुर्वर्णी समाज भारत की ही भाँति था। राजा अधिकांशतः ब्राह्मण अथवा क्षत्रीय वर्ण-से होते थे। नील नदी का जल गंगा की ही भाँति पवित्र माना जाता था तथा इसी सरिता के तट पर आमोन का मन्दिर था। यह भी मान्यता है कि उत्तरी मिस्र के देवस्थान, दक्षिणी मिस्र के देवस्थानों से अधिक प्राचीन हैं तथा भारत की ही भाँति स्त्रियाँ समाज में सम्मानित थीं।¹²

भारत की ही भाँति महादेव के मन्दिर के सम्मुख नन्दी वृष की प्रतिमा होती थी (देखें चित्र 4), जिसे इस्लामी-आक्रान्ताओं के मिस्र के समस्त मन्दिरों के ध्वस्त करते समय नष्ट कर दिया।¹²

प्राचीन मिस्र में सर्प की अवधारणा :

नाग दैवीय शक्ति का प्रतीक है, इसी कारण यह मिस्र के सम्राटों के मुकुट पर चित्रित किया गया है (देखें चित्र 6)। एक अन्य चित्र में ओसोरिस एक सर्प के साथ धरा पर शयन करता दिखाया गया है (देखें चित्र 5), जो शेषनाग की शय्या पर लेटे विष्णु और उनकी नाभि-कमल पर विराजमान ब्रह्मा की कल्पना के समानान्तर है (देखें चित्र 7)। इतना ही नहीं, मिस्र में शेषनाग का एक विशाल मन्दिर भी विद्यमान था।^{19, 33f}

मिस्र के नौका-गमन का उत्सव :

प्राचीन मान्यतानुसार ईसिस अपने पति ओसिरिस के शरीर के समुद्र में बिखरे गए भागों को शरद ऋतु में 5 मार्च की, पोपाइरस की नाव पर बैठकर खोजने निकली थी, उसी की स्मृति के उपलक्ष्य में यह उत्सव मिस्र में मनाया जाता था। (देखें चित्र 9)

इस उत्सव में सभी चित्र-विचित्र सुन्दर वस्त्र धारणकर श्वेत वस्त्रधारी, मुण्डित केश पुरोहितों के साथ, वाद्यों को बजाते हुए चलते थे। पुरोहितों के हाथों में पशु-मुखवाली मूर्तियाँ होती थीं जो इस यात्रा की समाप्तिपर सरिता नील में प्रवाहित कर दी जाती थीं।^{33f}

कृष्णोपासना मिस्र से लेकर अरब, सीरिया,

मेसोपोटामिया आदि देशों में प्रचलित थी।¹² कालान्तर में कृष्ण का प्रत्यारोपण 'आमुन' में हो गया। वह नीलवर्णी, मोर मुकुटधारी होकर, इस नौका गमन उत्सव का मुख्य देव बन गया था।²² इसी सन्दर्भ में आधुनिक इराक़ द्वारा श्रीकृष्ण के प्रकाशित डाक-टिकट द्रष्टव्य है। प्राचीन मिस्र में भी श्रीकृष्ण के मन्दिर रहे होंगे, क्योंकि ऐसा वर्णित है कि फ्रेंच-युद्ध के समय ब्रिटिश-भारतीय सिपाहियों ने मिस्र में श्रीकृष्ण का मन्दिर देखकर उनकी पूजा की थी।²⁴ इसी सन्दर्भ में यह कहना समीचीन होगा कि बंगला भाषा में कृष्ण का 'कृष्टो' उच्चारण ही 'क्राइस्ट' और 'क्रिश्चियन' शब्दों का जनक है।¹² उनका 'ईसा' नाम भी ईश-प्रेरित लगता है।

मिस्र के 'राम' नामधारी सम्राट् :

श्रीराम के नाम का प्रचार वैश्विक था।²⁰ कुशद्वीप इस तथ्य से अछूता नहीं रहा था। राम का उच्चारण इथोपिया की भाषा में 'रहाम' किया जाता था। कुछ कालोपरान्त इस शब्द से 'र' का लोप होकर केवल 'हाम' रह गया। यह तथ्य इथोपिया की कक्षा 8 एवं 10 की पुस्तकों में उल्लिखित था कि इथोपिया के लोग कुशाइट हैं। कुश-राम-पुत्र कुश की प्रजा हैं। भारत के स्वामी कृष्णानन्द जी ने जब इथियोपिया के सम्राट् हेले सिलासी (Haile Selassie I : 1930-1974) से भेंटकर उन्हें 'यह एक अनोखी पुस्तक है' कहकर भेंटस्वरूप 'रामायण' उपहार में दी, तो उसे देखकर सम्राट् ने कहा था, 'हम इथियोपियाई लोगों के लिए राम की जानकारी कोई नयी बात नहीं है, क्योंकि हम लोग कुशाइट हैं।' ³⁷

राम की अमर गाथा के प्रभाव के कारण ही विश्व के अन्य अनेक देशों की भाँति मिस्र के प्राचीन सम्राटों के नाम राम से सम्बद्ध हैं, जिनकी सूची इस प्रकार है—

1. परमेश रामेशेस् I (Paremessu Ramesses I, Menpehtyre : 1295-1294 BCE)
2. रामेशेस् II (Ramesses II the Great, Usermaatre-setepenre : 1279-1213 BCE)
3. रामेशेस् III (Ramesses III, Usermaatremeryamun : 1184-1153 BCE)
4. रामेशेस् IV (Ramesses IV, Hekamaatresetepenamun : 1153-1147 BCE)
5. रामेशेस् V (Ramesses V, Usermaatresekheperenre : 1147-1143 BCE)
6. रामेशेस् VI (Ramesses VI, Nebmaatremeryamun : 1143-1136 BCE)
7. रामेशेस् VII (Ramesses VII, Usermaatresetepenre

: 1136-1129 BCE)

8. रामेशेस् VIII (Ramesses VIII, Usermaatrekhenamun : 1129-1126 BCE)
9. रामेशेस् IX (Ramesses IX, Neferkaresetepenre : 1126-1108 BCE)
10. रामेशेस् X (Ramesses X, Khepermaatresetenre : 1108-1099 BCE)
11. रामेशेस् XI (Ramesses XI, Menmaatresetenre : 1099-1069 BCE)
12. रामेशेस् (Ramesses : 1350 CE)

मिस्र की सिंघाई-व्यवस्था भारतमूलक थी²⁵ तथा पुराकाल से ही भारत से मसालों, हीरे, जवाहरात, रंग, लोहा, हाथीदाँत की वस्तुएँ, कछुए की हड्डी, चन्दन की लकड़ियाँ, सागौन आदि अन्य लकड़ियाँ मिस्र भेजी जाती थीं। इस सन्दर्भ में मात्र इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इजरायल (Israel) के सम्राट् सोलोमन (Solomon : 961-922/970-931 BCE) की जीवनोपयोगी वस्तुएँ—रत्न, सुवर्ण आभूषणादि सभी भारत से जाती थीं³⁷ तथा अफ्रीका महाद्वीप से भी अनेक प्रकार की लकड़ियाँ और अन्य वस्तुएँ भारत आती थीं। विश्व प्रसिद्ध सोमनाथ-मन्दिर की छत, जिसका निर्माण तत्कालीन नरेश कुमारपाल द्वारा कराया गया था, अफ्रीका से लाए गए काष्ठ-स्तम्भों पर टिकी थी।²⁶

नृसिंहावतार एवं शिंक्ख (shesheankh)-शीशीअंख :

भारतीय-वाङ्मय में वर्णित हिरण्यकशिपु ही मिस्र देश का निरंकुश और चर्चित शासक निमरोद था जिसको पुराणों ने 'निमर्याद' कहा है, जिसके अत्याचारों से वह समस्त क्षेत्र, जो आधुनिक इराक़ तक व्याप्त था, में त्राहि-त्राहि थी।⁹

इसी निमरोद ने सरिता कुमुदवती जो कालान्तर में इयूपरेट्स के नाम से विख्यात हुई, के तट पर बसे बाबेल नामक नगर में एक ऊँचे बहुखण्डीय गोलाकार भवन टावर का निर्माण नक्षत्रों के अध्ययन करने हेतु कराया था।¹² इसी टावर के विनाश की कथा से सम्बद्ध है नृसिंहावतार की कथा। थॉमस मेरिस⁹ की आवधारणा है कि सिंह राशि के सूर्य की दशा में चक्रवात और आकाशीय तड़ित के आघात के कारण इस बाबेल के टावर का विनाश हुआ होगा जो कालान्तर में नृसिंहावतार की कथा से जुड़ गया और समय के साथ मेसोपोटामिया से लेकर तुर्की, सीरिया, अरब आदि क्षेत्रों में प्रचलित हो गया।

भागवतपुराण के अनुसार हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद की विष्णुभक्ति से क्रोधित होकर उसके पिता ने अपने भवन के स्तम्भ को इंगित करते हुए कहा था कि क्या इसमें भी भगवान् हैं?

प्रह्लाद के सकारात्मक उत्तर ने उसके क्रोधानल को दीप्त कर दिया। क्रोधातिरेक में हिरण्यकशिपु के उस स्तम्भ पर मुष्टि-प्रहार करते ही-

**‘तदैव तस्मिन्निनदोऽतिभीषणो बभूव येनाण्डकटाहमस्फुटत् ।
यं वै स्वधिष्णयोपगतं त्वजादयः श्रुत्वा स्वाधामात्ययमङ्ग मेनिरे ॥’²⁷**

उस खम्भे में एक बड़ा भयंकर शब्द हुआ। ऐसा जान पड़ा कि मानो ब्रह्माण्ड ही फट गया हो। वह ध्वनि जब लोकपालों के लोक में पहुँची तब उसे सुनकर ब्रह्मादि को ऐसा जान पड़ा कि मानो उनके लोकों का प्रलय हो रहा हो। उस खम्भे से भगवान् नरसिंह प्रकट हो गए और उन्होंने हिरण्यकशिपु का पेट अपने नखों से फाड़कर मार डाला।

यह भारतीय-मनीषा के चिन्तन का परिणाम था कि जिसने जलप्लावन के उपरान्त निमरोद-निमर्याद-हिरण्यकशिपु के कुकृत्यों को उसके द्वारा निर्माण कराए गए विशाल स्तम्भ बावेल के टावर के ध्वंस की घटना को नृसिंह-रूपधारी विष्णु की कल्पना में पिरोकर मिस्र तक अन्य भारतीय-अवतारों के भाँति पहुँचा दिया, क्योंकि थॉमस मोरिस के अनुसार नृसिंह के पूर्ववर्ती अवतार यथा मत्स्य, वराह और कूर्मावतारों की छवि प्राचीन मिस्र के चित्रों में बिम्बित है।⁹ नृसिंह स्फिंक्स (Sfinks) के रूप में मिस्र के पिरामिडों के सम्मुख स्थापित है जिसे ‘शीशीअंख’ (Shesheankh) या जीवित आत्मा माना जाता है।

स्फिंक्स यूनानी-भाषा के ‘स्फिंगो’ (Sphingo) शब्द से उद्भूत है, जिसका अर्थ उमेठना, मरोड़ना अथवा दबाना भी होता है। यह शब्द नृसिंहरूपी विष्णु के द्वारा निमरोद हिरण्यकशिपु के शरीर को नखों से दबाकर, उमेठकर, अन्त कर देने की श्रुति को परोक्ष रूप से संकेत करता है।

स्फिंक्स-नृसिंह की प्रतिमा भारतीय-मन्दिरों से लेकर यूनान में, ईरान, इराक तथा रोम आदि देशों के प्राचीन शिल्प में किञ्चित् परिवर्तित रूप में विद्यमान है जो इस नृसिंहावतार की कथा को विस्तार देती है।

मिस्र के विशालकाय स्फिंक्स पिरामिडों के प्रहरी के समान हैं। विद्वानों की धारणा है कि पिरामिडों के निर्माण मिस्र के प्राचीन नरेशों के शवों को, उनके परिवार के प्रमुख सदस्यों के शवों को संरक्षित करने के उद्देश्य से, ममी-रूप में सुरक्षित करने की दृष्टि से निर्मित किए गए थे। परन्तु इस अवधारणा से सभी विद्वान् सहमत नहीं हैं, क्योंकि कोई विवेकवान् सम्राट् इतना अधिक धन मात्र अपने शव के संरक्षण हेतु व्यय नहीं कर सकता था।

एक अन्य अवधारणा इन पिरामिडों को राजकीय प्रासाद अथवा दुर्ग मानने की है, जिसमें किसी कारणवश मिस्र के सम्राटों के शव सुरक्षित रख दिए गए हों, क्योंकि प्रत्येक पिरामिड में सम्राटों के शव ममी-रूप में संरक्षित किए गए प्राप्त नहीं होते।¹² यह दूसरा दृष्टिकोण आधुनिक वैज्ञानिक-दृष्टि से पिरामिड-निर्माण के उद्देश्यों पर विचार करने के लिए, अधिक तथ्यपरक लगता है।

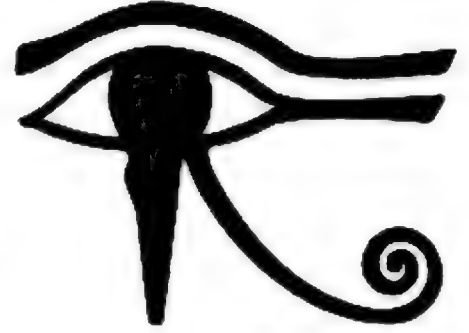
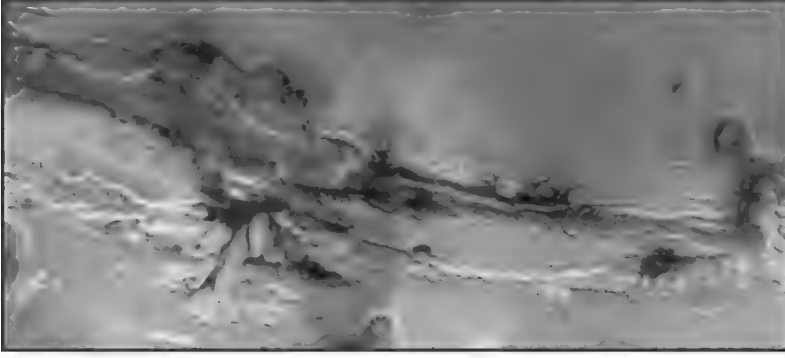
यह सर्वमान्य तथ्य है कि मंगल ग्रह का सूर्य की समीपस्थ कक्षा से दिन में पृथिवी के समीप आने के कारण उसके गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव के फलस्वरूप, भूमध्य सागर के जल का स्तर 5,000 फीट तक बढ़कर उत्तरी भारतीय-तटों तथा अफ्रीका के निम्नवर्ती क्षेत्रों में बाढ़ की स्थिति उत्पन्न कर देता था। उस समय ऐसा प्रतीत होता था जैसे प्रभावित क्षेत्र समुद्र में समाहित हो जायेगा। इसी दृष्टि से सभी समुद्र-तटवर्ती देश, जैसे—मेसोपोटामिया आदि ने समुद्र के किनारे मानव-सुरक्षा हेतु सुदृढ़ मोटी दीवारों, बाँध आदि का निर्माण किया था। पिरामिड जनजीवन की सुरक्षा के प्रबल आधार थे, क्योंकि वे जल के वेग से प्रवाहित नहीं हो सकते थे भूकम्प से अप्रभावित थे तथा जनसामान्य इनमें दीर्घकाल तक बाढ़ से सुरक्षित रह सकते थे। नील के जलस्तर के घटने के उपरान्त लोग पुनः इन पिरामिडों से बाहर आकर अपने कार्यों में पूर्व की भाँति लग जाते थे। जनसंख्या की वृद्धि के साथ पिरामिडों का निर्माण भी बढ़ता गया।¹⁹

सन्दर्भ-सूची :

1. *मत्स्यपुराण* : भूगोल का विस्तृत वर्णन, प्रकाशक : गीताप्रेस, गोरखपुर, वर्ष 58 संख्या 1, पृ० 377, 1984 ई०
2. कुमार, डॉ० अरुण : ‘*हिस्टोरिकल ट्रेडीशन ऑफ़ इण्डिया एण्ड आर्कियोलॉजी एन इंटिग्रेटेड स्टडी*’, प्रकाशक : ऋषि पब्लिकेशन, 3611/15 नवरंग कालोनी, त्रिनगर, दिल्ली-110 035, पृ० 7,9 एवं 30; 2012 ई०
3. (अ) ओक, पुरुषोत्तम नागेश : ‘*वैदिक विश्व-राष्ट्र का इतिहास*’, भाग-3, प्रकाशक : हिंदी साहित्य सदन, 2 बी०डी० चैम्बर्स 10/54 देशबन्धु गुप्ता रोड, करोलबाग, नयी दिल्ली-110 005 पृ० 273-274, 284, 288, 285, 278, 2012 ई०; ‘*प्रीस्ट्स ऑफ़ एनशियंट इजिप्ट*’ (अन्तरजाल)
- (आ) पोकोक, एडवर्ड : ‘*इण्डिया इन ग्रीस*’, प्रकाशक : जॉन जे ग्रीफिन एण्ड कम्पनी, लन्दन, पृ० 178, 222, 1852 ई०
4. कर्नल हेनरी स्टील अल्कोट : ‘*द थियोसोफिस्ट*’, मार्च 1881 ई०, पृ० 123
5. शर्मा, पं० रघुनन्दन : ‘*वैदिक सम्पत्ति*’, प्रकाशक : विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द, 4408 नयी सड़क, नयी दिल्ली-110 006,

- पृ० 349, 396-397, 2003 ई०
6. श्रीमद्वाल्मीकिरामायण, सुन्दरकाण्ड, 54.11, प्रकाशक : गीताप्रेस, गोरखपुर-273 005, वि०सं० 2063
[भारतीय-कालगणनानुसार श्रीराम का काल एक करोड़ एक्यासी लाख वर्ष पूर्व माना जाता है। डॉ० ठाकुर प्रसार वर्मा ने इसको महाद्वीपीय विचलन के सिद्धान्त से जोड़ा है, जिसके अनुसार किसी समय ऑस्ट्रेलिया, भारतीय-महाद्वीप, अफ्रीका तथा मेडागास्कर द्वीप परस्पर जुड़े हुए थे। आश्चर्य नहीं कि 'माली' और 'सुमाली' नाम उसी की स्मृति को संजोए हुए हैं।
—संपादक]
7. एमरी, डब्ल्यू०बी० : 'आर्किट इजिप्ट', प्रकाशक : पेंगुइन, पृ० 30-39, 45, 1963 ई०
8. सन्दर्भ 2, पृ० 10
9. मोरिस, थॉमस : 'द हिस्ट्री ऑफ हिंदुस्तान, इट्स आर्ट्स एण्ड इट्स सायंस' (1795 ई०), पुनर्मुद्रण : नवरंग बुक सेल्स एण्ड पब्लिशर्स, आर०बी० 6, इन्दरपुरी, नयी दिल्ली-110 012, भाग 2, पृ० 98-99, 25-29, 1982 ई०
—अग्रवाल, गुंजन : 'प्रागैस्लामी अरब में हिंदू-संस्कृति', 'इतिहास दर्पण', 15 (2), 42-68, 2010 ई०
10. देशपाण्डेय, गंगाधर राव, केशवराव (राव साहब) : 'भारत एस सीन एण्ड नोन बाई फॉरेनर्स', स्वाध्याय मण्डल, आनन्दाश्रम, सूरत, पृ० 20, 1950 ई०
11. 'द थियोसोफिस्ट' : पृ० 123, 1881 ई० एवं सन्दर्भ 12, पृ० 403
12. ओक, पुरुषोत्तम नागेश : 'वैदिक विश्व-राष्ट्र का इतिहास' भाग-2 पृ० 400-405, 270, 287, 399, 409, 2012 ई०
13. ऐतरेयब्राह्मण, 39.4.23
14. 'गोल्ड डिपाजिस्ट इन मशोनलैण्ड' : सेन्ट्रल जिम्बवावे (अन्तरजाल)
15. स्पेके, जान हॉपाकिंस : 'जर्नल ऑफ द डिस्कवरी ऑफ द सोर्स ऑफ रिवर नील', पृ० 3 तथा विलियम ब्लैकउड एण्ड सन्स, इडिनबरो एण्ड लन्दन 1863 ई०, इलेक्ट्रानिक एडीशन अन्तरजाल एवं सन्दर्भ 3
16. 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका', खण्ड-8, पृ० 205
17. उपाध्याय, डॉ० राजीव रंजन : 'ऋग्वैदिक ग्रह-नक्षत्रों से सम्बद्ध कुछ तथ्य एवं मिथक', 'इतिहास दर्पण' 7 (1), 4-9, 2012 ई०
18. सम्पूर्णानन्द, डॉ० : 'हिंदू देव-परिवार का विकास', प्रकाशक : मित्र प्रकशन प्राइवेट लि०, इलाहाबाद, पृ० 20, 1964 ई०
19. एकरमान, जॉन : 'माइथोलॉजी इजिप्टियन-फरमामेन्ट एण्ड काओस' (अन्तरजाल)
20. उपाध्याय, डॉ० राजीव रंजन : 'सेतु समुद्रम्', 'इतिहास दर्पण' 16 (1), 21 - 27, 2011 ई०
21. 'गॉर्ड्स एण्ड गॉर्ड्स ऑफ एशियेंट इजिप्ट' (अन्तरजाल)
22. वियोरन स्टीगरना मौगनस फ्रेडरिक फर्डिनेंड, काउन्ट : 'द थोगोनी ऑफ द हिंदूज विद देयर सिस्टम ऑफ फिलॉसोफी एण्ड कॉस्मोलॉजी', प्रकाशक : एन एसे पब्लिशड, बाई जॉन मुरे, लन्दन, पृ० 41, 1844 ई०
23. मिश्र, विभु : 'जगन्नाथ फ्रॉम इण्डिया टू इजिप्ट'; 'द अनरोल्ड सागा ऑफ कुशाइट्स' (अन्तरजाल)
24. हिंन्स, गॉडफ्रे : 'द केल्टिक ड्राइड्स', प्रथम प्रकाशन 1827 ई०, पुनर्प्रकाशन : केसिंजर पब्लिशिंग, पृ० 12, 1993 ई०
25. बक्ले रॉबर्ट बर्टन : 'द इरीगेशन वर्क्स ऑफ इण्डिया', ई एण्ड एफ एन स्पोन द्वारा प्रकाशित, पृ० 4, 1905 ई०
26. मुनि क्रान्ति सागरजी : 'भारतीय-शिल्प एवं चित्रकला में काष्ठ का उपयोग', 'कल्याण' वर्ष 24, संख्या 1, 1950 ई०, 'हिंदू-संस्कृति-अंक', प्रकाशक : गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ० 707
27. भागवतपुराण, 7.8.16





चित्र 1 : मंगल ग्रह की भूमि पर स्थित 3 ज्वालामुखी पर्वतों ने होरेस के नेत्र की कल्पना को जन्म दिया था। यह क्षेत्र आज भी मंगल की सतह पर स्पष्ट दिखते हैं तथा थारेसिस बल्ज की आकृति श्येन के चोंच की भाँति है।



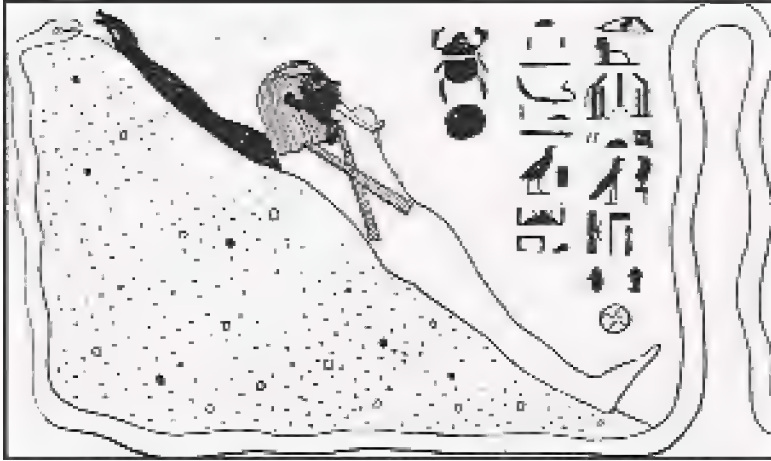
चित्र 2 : मिस्र के तीसरे राजवंश (2686-2613 ई.पू.) के समय निर्मित पिरामिड का मानचित्र बनानेवाले स्थपति देवसर (देवेश्वर) का चित्र। उसके शरीर पर भस्म तथा चन्दन का अष्टचिह्न स्पष्ट है।



चित्र 3 : चन्दन का अष्टचिह्नधारी मिस्र का एक प्राचीन फराजो



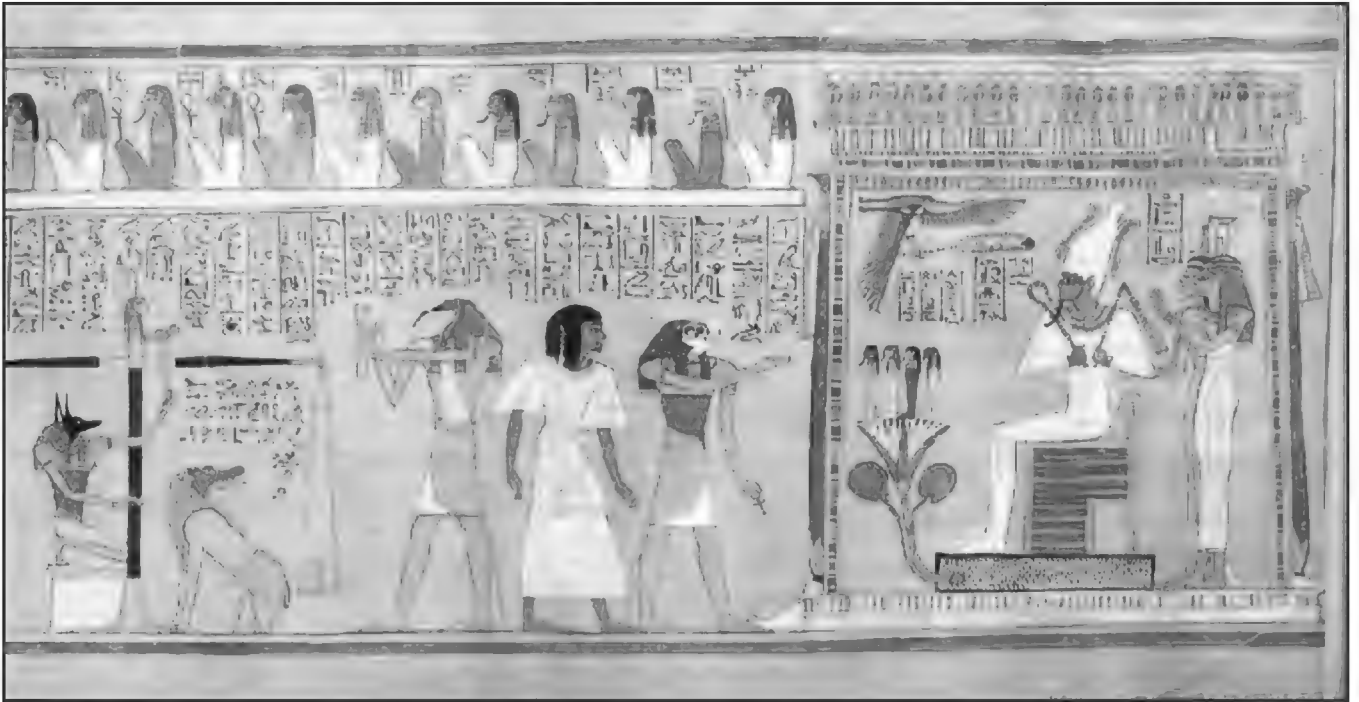
चित्र 4 : मिस्र से प्राप्त नन्दी की कांस्य प्रतिमा



चित्र 5 : सर्प के साथ ओसीरिस



चित्र 6 : परमेशू रामेशस II के मुकुट पर चित्रित नाग



चित्र 7 : झील में बेड़े पर बैठ ओसीरिस और जल से निकलता नीलोत्पल।

यह चित्र ब्रह्मा के कमल पर स्थित होने की कल्पना का उत्तरवर्ती है।¹⁸



चित्र 8 : इसिस की समुद्र-यात्रा



चित्र 9

THE ISIS OMNIA OF EGYPT

A majestic whole-length figure of ISIS OMNIA, or universal nature personified, the India Isa, and Grecian Ceres; it is exhibited in proof of the identity of the Indian, with the Egyptian and Grecian character. She bears on her head the lunar crescent; her robe, covered with stars, represents the firmament : she bears in one hand a sistrum, emblematical of the elements, and in the other a basket of grain, as the prolific parent of all things; and she stands with one foot on the ocean, the other on the earth; the whole depicted as she is described by Apuleius to have appeared, and been seen by himself, in the Eleusinian mysteries.

'The History of Hindostan: Its Arts, and Its Sciences, as Connected with the History of the Other Great Empires of Asia, During the Most Ancient Periods of the World', Vol. I, p.1, Published by W. Bulmer and Company, 1795; 'The Monthly review', by Ralph Griffiths, G. E. Griffiths, 1796

श्रीमद्भगवद्गीता एवं उसका प्रथम अध्याय (साहित्यिक रचना-प्रारूप : एक समालोचना)

प्रो० दीनबन्धु पाण्डेय *

श्रीमद्भगवद्गीता अभिधान-विमर्श



मद्भगवद्गीता उन 18 अध्यायों का समन्वित नामकरण है जो महाभारत के भीष्मपर्व से अभिहित 6ठें पर्व के अध्याय 25 से 42 अथवा अध्याय 23 से 40 तक (क्रमशः महाभारत के दो भिन्न पाठ-भेदों की परम्परा के आधार पर) प्राप्त है। मूल महाभारत में इन अध्यायों के समन्वित रूप को किसी अभिधान से सम्बोधित नहीं किया गया है। साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि जो भगवद्गीता अलग से लिखित अथवा प्रकाशित रूप में प्राप्त है, उसमें महाभारत के पर्व एवं अध्याय नहीं उल्लिखित होते।

भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में इसे 'ब्रह्मविद्या प्रस्तुत करनेवाला उपनिषद् ग्रन्थ' कहा गया है जिसमें योगशास्त्र के विभिन्न अध्याय कृष्णार्जुन-संवाद के अंग के रूप में उल्लिखित हुए हैं—

**‘श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽध्यायः १’**

महाभारत के भगवद्गीता-अंश का उपर्युक्त प्रकार का नामकरण एवं विभाजन कब हुए, यह प्रामाणिक तौर से कहना आसान नहीं है, किन्तु इसके संकेत माहात्म्य-कथन के कुछ श्लोकों में आभासित होते हैं।

माहात्म्य-कथन के निम्नलिखित श्लोक स्पष्ट ही गीता को महाभारत से अलग करके उसे ग्रन्थ रूप दिए जाने का संकेत करते हैं—

‘भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम् १’

महाभारत को ‘भारत’ नाम से जाना जाता है, यह महान् ग्रन्थ पहले ‘जय’, फिर ‘भारत’ और बाद में ‘महाभारत’ कहा गया। महाभारत के उपयुक्त 18 अध्यायों के अलग किए गए अंश को गीता नाम दिया गया। माहात्म्य-कथन के कई श्लोक इसे गीता के रूप में उल्लिखित करते हैं—

‘गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च १’

‘सुकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् १’

‘पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् १’

‘गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते १’

माहात्म्य-श्लोक गीता को ‘शास्त्र’ की संज्ञा भी देते हैं—

‘गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः १’

‘गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान् १’

‘एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव १’

गीता के समस्त 18 अध्यायों में जिस गूढ़ रहस्यमय ज्ञान का उपदेश है, कृष्ण ने उस अपने और अर्जुन के कथोपकथन को ‘धर्ममय संवाद’ कहा है—

‘अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः¹

और इस श्लोक के ‘आवयोः’ (हम दोनों) को स्पष्टता देते हुए संजय ने क्रमशः दो स्थानों पर ‘वासुदेव-पार्थ’ एवं ‘केशवार्जुन’ संवाद कहा है—

‘इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः १

संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥’²

‘राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् १

केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥’³

जो पर्याय शब्दों के प्रयोग से वस्तुतः ‘कृष्णार्जुनसंवाद’

90 ही है, जिसका प्रयोग गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में मिलता

* पूर्व विभागाध्यक्ष, कला, इतिहास एवं पर्यटन-प्रबन्ध, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी; द्वारा, प्रो० अम्बरीश पाण्डेय, मकान सं० डी-27, गुरु जम्भेश्वर यूनिवर्सिटी ऑफ़ सायंस एण्ड टेक्नोलॉजी, हिसार-125 001 (हरियाणा)

है।

माहात्म्य-श्लोकों के 'या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्मादिनिःसृता', 'विष्णोर्वक्त्रादिनिःसृता' तथा 'देवकीपुत्रगीतम्'—जैसे अंश गीता को भगवद्गीता के रूप में प्रस्तुत करते हैं जिसका आधार गीता के श्लोक 18.64 एवं 18.75 में प्राप्त क्रमशः 'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः' (सर्व गोपनीयों से अति गोपनीय परम रहस्ययुक्त मेरी वाणी सुनो) एवं 'योगं योगेश्वराकृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्' (योगेश्वर कृष्ण का योग-संबंधी कथन प्रत्यक्षतः सुनो) जैसे वाक्यांश जान पड़ते हैं। गीता के श्लोक 18.63, 64, 68 में 'कृष्णार्जुनसंवाद' को 'परमगुह्यरहस्यमयज्ञान' कहा गया है जिस ज्ञान का संबंध ब्रह्मविद्या और उसका संबंध उपनिषद्-ग्रन्थों से होता है, इसी कारण गीता के अध्यायों के अन्त में इसे 'ब्रह्मविद्या' और 'उपनिषद्' कहा गया है। गीता को 'योगशास्त्र' कहने का आधार भी 'योगं योगेश्वराकृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्' से मिला है।

किसी भी ग्रन्थ के अलग से लिखे गए माहात्म्य एवं प्रारूप प्रदान करनेवाले संबंधित ग्रन्थ के अंश परवर्ती लेखन होते हैं। अतः गीता के 'अथ' और 'इति' वाले अंश परवर्ती योगदान हैं। गीता-माहात्म्य पद्मपुराण का अंश है। पद्मपुराण श्लोकों के अतिरिक्त गीता के 18 अध्यायों के पाठ के फलप्राप्ति का विस्तार से वर्णन प्रत्येक अध्याय के साथ अलग-अलग कथाओं को जोड़कर वर्णित करता है। यह लोक में गीता के प्रति विकसित आदरभाव का सूचक है। महाभारत के भीष्मपर्व के 18 अध्यायों के समन्वित रूप को पद्मपुराण के आधार पर कोई अभिधान दिए जाने की बात समीचीन नहीं लगती। हाँ, 'श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्य' शीर्षक इस बात का स्पष्ट संकेत करता है कि गीता को 'भगवद्गीता' कहने से भी आगे बढ़कर 'श्रीमद्भगवद्गीता' कहा जाने लगा था।

महाभारत-युद्ध के प्रारम्भ में कृष्ण द्वारा दिया गया उपदेश महाभारत से निकलकर एक अलग स्वरूप प्राप्त कर चुका था— इस बात का आरम्भिक निर्देश भागवतपुराण के एक सन्दर्भ से मिलता है।

युद्धोपरान्त हस्तिनापुर से कृष्ण के साथ द्वारका गए अर्जुन के पुनः वापस आने पर कृष्ण के स्वधाम-गमन का विवरण युधिष्ठिर को सुनाते समय अर्जुन को महाभारत-युद्ध के आरम्भ में कृष्ण द्वारा दिया गया उपदेश स्मरण हो आया। भागवतपुराण के रचनाकार व्यास ने यह बात सूत के द्वारा कहलाई है। सूत ने कृष्ण के उपदेश को ज्ञान-गीत ('गीतं ज्ञानम्') की संज्ञा दी है—

'गीतं भगवता ज्ञानं यत्तत्संग्राममूर्धनि।'⁵

भागवत के इस सन्दर्भ से गीता-माहात्म्य के एक श्लोक का अंश 'एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्' का तालमेल बैठता है।

भागवत में आगे यह बात कही गई है कि कार्य-व्यस्तता के कारण प्रमादवश विस्मृत उस ज्ञान के स्मरण होने पर अर्जुन ब्रह्म-सम्पदा से युक्त हो गए, माया का आवरण भंग हुआ और गुणातीत अवस्था को प्राप्त हो द्वैत के संशय से मुक्त होकर उनका सूक्ष्म शरीर भंग हुआ और वे शोक एवं जन्म-मृत्यु के चक्र से सर्वथा मुक्त हो गये—

'कालकर्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमत्यभुः।'⁶

'विशोको ब्रह्मसम्पत्त्या संछिन्नद्वैतसंशयः।

लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः॥'⁷

इससे मिलता-जुलता कथन गीता-माहात्म्य के एक श्लोक का है—

'गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत्प्रयतः पुमान्।

विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः॥'

इस प्रकार भागवत से एक ऐसा प्रामाणिक सन्दर्भ मिलता है जहाँ महाभारत-युद्ध के प्रारम्भ के समय कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिए गए उपदेश को गीत (गीता) के रूप में स्मरण होने का उल्लेख है। यहाँ ब्रह्म-सम्पदा (ब्रह्मसम्पत्) की शब्दावली गीता के देवी-सम्पदा ('सम्पदं देवीम्') से मेल खाती है। भागवत में अर्जुन के ब्रह्म-सम्पदा (मोक्ष) की प्राप्ति की बात कही गई है जो 'मामेवैष्यत्यसंशयः'⁸ (भक्तों में गीता पाठ करनेवाला) निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा एवं 'शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्'¹⁰ (गीता श्रवण करनेवाला) उत्तम कर्म करनेवाले श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होगा— जैसे कथनों का आधार लिए हुए है।

भागवत के उपरिल्लिखित दो श्लोकों के सन्दर्भों के प्रकाश में यह कहना समीचीन होगा कि भागवत की रचना के समय तक गीता अलग से एक मोक्षप्रदायी धार्मिक ग्रन्थ के रूप में माना जाने लगा था। सम्भवतः भागवतपुराण की भाँति ही गीता को भी भगवत् गीता (भगवद्गीता) कहा जाने लगा और जिस प्रकार भागवत को 'श्रीमद्भागवत' कहते हैं, उसी प्रकार आदर और सम्मानपूर्वक गीता को भी 'श्रीमद्भगवद्गीता' कहते हैं।

पद्मपुराण में गीता के माहात्म्य की तरह भागवतपुराण का भी माहात्म्य वर्णित है। स्पष्ट ही भागवत की रचना पद्मपुराण की पूर्ववर्ती है। भागवत का रचनाकाल इतिहासकारों द्वारा 9वीं-10वीं शती ईसवी माना जाता है। भगवद्गीता का सर्वप्राचीन भाष्य आद्य शंकराचार्य का है। स्पष्ट ही आद्य शंकराचार्य, जिनका काल 8वीं शती ईसवी माना जाता है, उसके पहले ही भगवद्गीता

का ग्रन्थ-रूप अस्तित्व में आ चुका था जो साहित्यिक रचना के रूप में इतिहासकारों की दृष्टि में चतुर्थ-पञ्चम शती ई०पू० में रचे गए *महाभारत* ग्रन्थ का अंग है जिसका संस्कारित रूप गुप्तकाल (चतुर्थ-पञ्चम शती ईसवी) का है जो आज हमें प्राप्त है। इस प्रकार चतुर्थ-पञ्चम शती ईसवी से 7वीं शती ईसवी तक *भगवद्गीता* का स्वरूप निर्मित हो चुका था जो योगशास्त्र के रूप में ब्रह्मविद्या के संपादनार्थ उपनिषद् के समकक्ष थी।

भगवद्गीता के ग्रन्थ-रूप में अस्तित्व ग्रहण करने के काल के सन्दर्भ में एक बात और ध्यान देने की है कि *भागवतपुराण* का 'गीतं ज्ञानम्' का सन्दर्भ *महाभारत* ग्रन्थ के उस स्वरूप के बाद का है जब इसकी संज्ञा केवल भारत थी। *भागवत* में व्यास ने *भागवत* के पूर्वरचित अपने ग्रन्थ का नाम 'भारत' कहा है—

‘भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च प्रदर्शितः।

दृश्यते यत्र धर्मादि स्त्रीशूद्रादिभिरप्युत ॥’¹¹

‘जिज्ञासितं सुसम्पन्नमपि ते महद्भुतम्।

कृतवान्भारतं यस्त्वं सर्वार्थपरिबृंहितम् ॥’¹²

अतः *भागवत* वाली गीता ('गीतं ज्ञानम्') *महाभारत* के पूर्व के कलेवरवाले 'भारत' ग्रन्थ का अंग थी। इस आधार पर गीता के ग्रन्थ-रूप-विनिर्माण का समय 7वीं शती ईसवी के पहले माना जाना चाहिये।

महाभारत में भीष्मपर्व के 18 अध्यायोंवाले 'कृष्णार्जुनसंवाद' के अतिरिक्त कई उपदेशात्मक अंश हैं जिन्हें आज के *महाभारत* में 'गीता' अभिहित किया गया है। उदाहरणार्थ— 'अनुगीता', 'हंसगीता' इत्यादि। ऐसा लगता है कि *महाभारत* की अन्यान्य गीताओं की भाँति ही *भागवत* में सन्दर्भित 'कृष्णार्जुनसंवाद' वाली गीता को भी एक अभिधान देकर 'भगवद्गीता' कहा गया।

आज जो *भगवद्गीता* हमें प्राप्त है, उसकी कुल श्लोक-संख्या 700 है जिसपर आद्य शंकराचार्य ने भाष्य लिखा है, किन्तु कोलकाता के अद्वैत आश्रम के स्वामी गम्भीरानन्द (1889-1988) के अनुसार 'इस बात के प्रमाण हैं कि प्राचीन प्रतियों में श्लोक-संख्या 745 थी।'¹³ गोण्डल (महाराष्ट्र) के राजवैद्य जीवराम कालिदास शास्त्री (आचार्यश्री चरणतीर्थ महाराज : 1881-1978) ने 745 श्लोकोंवाली *भगवद्गीता* की भोजपत्र-पाण्डुलिपि सन् 1937 एवं 1966 में प्रकाशित की है,¹⁴ जिसकी एक प्रति कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में है।

भगवद्गीता के प्रथम अध्याय-संबंधी विमर्श

भगवद्गीता के प्रथम श्लोक की चर्चा *महाभारत* के भीष्मपर्व के युद्धारम्भ के पूर्व के वर्णनों-संबंधी अध्यायों के सन्दर्भ में साहित्य के रचना-प्रारूप का ध्यान रखते हुए किया जाना समीचीन होगा।

कुरुक्षेत्र में युद्ध करने हेतु कौरवों और पाण्डवों के आमने-सामने खड़े होने के पूर्व दोनों दलों के शूरवीरों एवं सैनिकों का विवरण संजय द्वारा भीष्मपर्व के कई अध्यायों में दिया गया है। अध्याय 19 के

आरम्भ में धृतराष्ट्र ने पूछा है कि कौरवों की 11 अक्षौहिणी व्यूहबद्ध सेना को देखकर युधिष्ठिर ने अल्प संख्यावाली पाण्डव-सेना का किस प्रकार प्रतिव्यूहन किया—

‘अक्षौहिण्यो दशैका च व्यूढा दृष्ट्वा युधिष्ठिरः।

कथमल्पेन सैन्येन प्रत्यव्यूहत पाण्डवाः ॥’¹⁵

इस प्रश्न से यह स्पष्ट है कि कौरव-सेना व्यूहबद्ध हो चुकी थी और पाण्डव-सेना अभी व्यूहबद्ध हो रही थी और यह समय सूर्योदय के पूर्व का रहा होगा क्योंकि अगले अध्याय में धृतराष्ट्र ने संजय से सूर्योदय के समय प्रश्न किया कि कौन-सा दल हर्षित या म्लानमुख है और प्रथम प्रहार किस ओर से किसने किया—

‘सूर्योदये संजय केनपूर्वं युयुत्सवो हृष्यमाणा इवासन्।

मामका वा भीष्मनेत्राः समीपे पाण्डवा वा भीमनेत्रस्तदानीम् ॥

केषां जघन्यौ सोमसूर्यौ सवायू केषां सेनां श्वापदाश्चभषन्त।

केषां यूनां मुखवर्णाः प्रसन्नाः सर्वे ह्येतद् ब्रूहि तत्त्वं यथावत् ॥’¹⁶

अब प्रश्न यह उठता है कि *भगवद्गीता* के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक का क्या औचित्य बनता है जिसमें युद्ध की इच्छावाले कौरवों और पाण्डवों ने क्या किया पूछा गया है। 19वें अध्याय में दोनों पक्षों के व्यूहबद्ध सेनाओं का उल्लेख हो चुका है और 20वें अध्याय में युद्ध के आरम्भ के दिन सूर्योदय के समय 'युयुत्सवो ... मामका वा पाण्डवा' भी उल्लिखित है।



भगवद्गीता के प्रथम अध्याय के प्रथम श्लोक के चतुर्थ पाद में 'किमकुर्वत' (क्या किया) इतना ही अधिक कहा गया है। इस 'क्या किया' का यदि विश्लेषण किया जाए, तो 'व्यूहबद्ध पाण्डवों को देखकर दुर्योधन का द्रोण को दोनों पक्षों के शूरवीरों का परिचय देना, शंखध्वनियाँ, अर्जुन का मोह होना और निवारण—ये तीन ही कृत्य हुए। इसके पिछले अध्याय में 'पाण्डवों की व्यूह-रचना' का सन्दर्भ भगवद्गीता के प्रथम अध्याय के द्वितीय श्लोक के 'व्यूहबद्ध पाण्डवों को देखकर दुर्योधन का द्रोण को दोनों पक्षों के शूरवीरों का परिचय देना' घटना-क्रम की दृष्टि से स्वयमेव जुड़ता है। इसके लिए धृतराष्ट्र के प्रश्न की आवश्यकता नहीं है और 'युयुत्सवो ... मामका वा पाण्डवा' जैसे पूर्व-प्रयुक्त शब्दों के साथ तो बिल्कुल ही नहीं। ऐसा भी नहीं है कि बिना प्रश्न के अध्याय शुरू नहीं होते। महाभारत में एक ही प्रश्न के उत्तर में कई-कई अध्याय आए हैं। इन विसंगतियों के आधार पर यह धारणा बनती है कि शायद भगवद्गीता के प्रथम अध्याय का प्रथम श्लोक उस समय जोड़ा गया जब भगवद्गीता अलग ग्रन्थ के रूप में प्रादुर्भूत की गयी।

जिस प्रकार भगवद्गीता के प्रथम अध्याय का प्रथम श्लोक कथा-धारा में अटपटा-सा है, उसी प्रकार उस प्रश्न का संजय द्वारा दिए गए उत्तर में 'हे, राजन्!' या 'महाराज!'—जैसे सम्बोधन का न होना तथा संजय के ही उत्तर में दुर्योधन के कथन का समावेश होना उचित नहीं लगता। श्लोक 2 के बाद 'दुर्योधन उवाच' होना चाहिए था। श्लोक 11 तक दुर्योधन का कथन चलता है अतः उसके बाद 12वें श्लोक के पहले 'संजय उवाच' होना चाहिए। 12वें श्लोक से 21वें के प्रथम पाद तक संजय का कथन है।

भगवद्गीता के श्लोक 3 में दुर्योधन पाण्डवों की सेना को बड़ी भारी सेना ('महती चमूम्') कहता है जबकि पाण्डवों की सेना 7 अक्षौहिणी और उसकी अपनी सेना 11 अक्षौहिणी की थी। इस बात का उल्लेख धृतराष्ट्र ने महाभारत में पहले ही कर दिया है कि उसकी सेना 'अक्षौहिण्यो दशैका'¹⁷ 11 अक्षौहिणी और पाण्डव-सेना 'अल्प'¹⁸ थी।

दुर्योधन द्वारा 7 अक्षौहिणीवाली पाण्डवों की 'अल्प' सेना को श्लोक 3 में बड़ी भारी सेना ('महती चमूम्') कहना और आगे चलकर श्लोक 10 में उसे पर्याप्त बल ('पर्याप्तं ... बलम्') कहना तथा 11 अक्षौहिणीवाली अपनी सेना को उसी श्लोक में ('अपर्याप्तं ... बलम्') कहना प्रश्न खड़े करता है। अनुवादकों ने 'अपर्याप्त' का अर्थ 'अजेय' और 'पर्याप्त' का अर्थ 'जीते जाने में सुगम' कहा है, किन्तु कई अध्येता इन शब्दों को क्रमशः 'कम'

और 'अधिक' का ही बोधक मानते हैं। 'पर्याप्त' का अर्थ 'जीते जाने में सुगम' ग्रहण करने में पाण्डवों की सेना को 'महती चमूम्' कहने का अर्थ स्पष्ट नहीं होता और पाण्डवों की सेना को 'महती चमू' कहते हुए कौरव-सेना को 'अजेय' कहना भी सही नहीं लगता। पाण्डव-पक्ष के वीरों को दुर्योधन ने शूर, विशाल धनुषवाले, महारथी, वीर्यवान् और नरपुंगव-जैसे विशेषणों से विभूषित करता है (इसके साथ ही संजय ने भीमकर्म करनेवाले और अपराजित-जैसे विशेषण भी उल्लिखित किया है¹⁹), किन्तु अपने पक्ष के वीरों को सामान्य विशेषण देते हुए शस्त्र-सज्जित युद्ध-विशारद शूरवीर मात्र कहता है जो उसके लिए अपने जीवन का त्याग किए हुए हैं।²⁰ श्लोक 1.11 में दुर्योधन अपने सभी वीरों को 'भीष्म की रक्षा' ('भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि') का निर्देश करता है। इस श्लोक का यह कथन स्पष्ट ही युद्ध के परिणाम के प्रति दुर्योधन का संशय प्रतिध्वनित करता है। यही कारण है कि उसे अपनी भीष्म द्वारा रक्षित 11 अक्षौहिणी की सेना 7 अक्षौहिणीवाली पाण्डवों की सेना से कम बलवती ('अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्'²¹) लगती है। श्लोक 3 से लेकर 10 तक दुर्योधन गुरु द्रोण से अपने पक्ष के महारथियों के परिचय एवं दोनों पक्षों के बल से संबंधित बातें कर रहा था, किन्तु श्लोक 11 में वह यकायक भीष्म की रक्षा के लिए समस्त वीरों को निर्देश देने लगता है।

वस्तुतः भीष्म के वृद्धत्व के कारण दुर्योधन का अपनी विजय के प्रति संशय है। श्लोक 12 के 'कुरुवृद्धः पितामहः' में कुरुवृद्ध का 'वृद्ध' शब्द दुर्योधन द्वारा विशेष प्रयोजन से ही प्रयुक्त किया गया है। दुर्योधन का संशय ही है जिसके कारण श्लोक 1. 19 में पाण्डवों के भेरी घोष ने धार्तराष्ट्रों के हृदय को विदीर्ण कर दिया ('स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्') ऐसा कहा गया है। यदि ऐसा समझा जाय कि दुर्योधन अपनी सेना के लोगों में सतर्कता और सन्नद्धता की अभिवृद्धि के उद्देश्य से अपनी सेना को अपर्याप्त कहता है तो भी इस विपरीत कथन का औचित्य नहीं लगता। भीष्म की वृद्धावस्था को लेकर महाभारत-युद्ध के प्रथम दिन पाण्डव-सेनापति श्वेत से लड़ते हुए उनकी सुरक्षा का सन्दर्भ तीन बार आया है। भीष्म की रक्षा के लिए युद्धारम्भ के समय ही दुर्योधन ने 5 महारथियों— दुर्मुख, कृतवर्मा, कृपाचार्य, शल्य एवं विविंसति को लगाया था—

‘दुर्मुखः कृतवर्मा च कृपः शल्यो विविंसतिः।

भीष्मं जुगुपुरासाद्य तव पुत्रेण चोदितः।

एतैरतिथैर्गुप्तः पञ्चभिर्भरतर्षभः ॥²²

अभिमन्यु²³ और श्वेत²⁴ ने भीष्म को भारी टक्कर दी थी।

श्वेत के भीषण युद्ध का अनुमान इस बात से लगता है कि उसने जब अपने भ्रातृहन्ता शल्य को मृत्यु के मुख में डाल रखा था—
‘मद्राजमभीप्सन्तो मृत्योर्द्रष्टान्तरं गतम्’²⁵ जिसे बचाने के लिए बृहद्वल, कोसल, जयत्सेन, रुक्मरथ, विन्द, अनुविन्द, सुदक्षिण और जयद्रथ-जैसे महारथियों को जाना पड़ा था—

‘तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य मत्तवारणविक्रमम् ।
तावकानां रथाः सप्त समन्तात् पर्यवारयन् ॥’²⁶

श्वेत से लड़ने के लिए दुर्योधन स्वयं भीष्म को साथ लेकर गया था। एक समय श्वेत के भयंकर युद्ध के कारण भीष्म अकेले पड़ गए थे, साथ के सभी योद्धा अपने बचाव के लिए सेना के पिछले भाग में चले गए थे और रक्षार्थ महारथियों में से भीष्म के पास में कोई नहीं था।²⁷ दुर्योधन ने भीष्म की रक्षा के लिए श्वेत को दूसरी तरफ आकर्षित किया था। श्वेत ने भीष्म को पीछे ढकेल दिया, इस अवसर पर दुर्योधन बहुत दुःखी हुआ था।²⁸ श्वेत ने भयंकर युद्धकर भीष्म को घायल किया।²⁹ श्वेत ने रथ का ध्वज काट गिराया था तब दुर्योधन ने समझा था कि भीष्म मारे गए,³⁰ किन्तु पास आकर दुर्योधन ने उनकी रक्षा की और भीष्म अग्रसर हो सके। पूरी कौरव-सेना भीष्म की रक्षा में लगी। आठ महारथियों का रक्षा-घेरा बनाया गया। कौरव-सेना तबाह थी। दुर्योधन दुःखी था। श्वेत ने पुनः भीष्म का रथ नष्ट कर दिया था और उसके प्रहारों के चलते महारथियों को दूसरी बार फिर यह लगा था कि भीष्म मारे गये।³¹ श्वेत के भीष्म पर भाला-प्रहार के समय कौरवों में हाहाकार मच गया था। श्वेत द्वारा भीष्म की रथ पर गदा-प्रहार के समय डर के मारे वे रथ से कूद गए थे। शल्य आदि सहायतार्थ आये। द्रोण, शल्य और कृपाचार्य उनकी रक्षा में रहे।³²

वयोवृद्ध पितामह के युद्ध का उपर्युक्त विवरण केवल इसलिए उपस्थित किया गया है कि सम्भवतः दुर्योधन को ऐसी परिस्थितियों का अनुमान युद्ध के पूर्व रहा होगा। दुर्योधन डरा-डरा सा जान पड़ता है और उसका संशय ही वृद्ध पितामह की तुलना में युवावस्थावाले बलशाली भीम द्वारा रक्षित पाण्डव सेना को पर्याप्त बलवती अर्थात् भारी पलड़ेवाली ‘महती’ सेना कहलवाता है।

एक बात और ध्यान देने की है कि दुर्योधन अपने पक्ष के मात्र 8 (और अन्य प्रतियों के पाठ-भेद के आधार पर यदि जयद्रथ को जोड़ लिया जाय तो 9) शूरवीरों के नाम गिनाता है (दुर्योधन को लेकर कुल 10 योद्धा), जबकि पाण्डव-सेना के 19 योद्धाओं का उल्लेख उसने किया है और शंखध्वनि के माध्यम से ज्ञात 7 योद्धाओं को जोड़ लिया जाए, तो कुल 26 योद्धागण

उसके सामने थे। महाभारत-युद्ध के आरम्भ के समय का यह चित्रण दुर्योधन की मनःस्थिति को बाध्य करता है और वह पाण्डव-सेना को महती और बलवती मानते हुए अपनी व्यथा का प्रकटीकरण गुरु द्रोण से करता है। ध्यान देने की बात है कि दुर्योधन पाण्डवों के गिनाए गए वीरों को ‘महारथी’ (‘सर्व एव महारथाः’³³) कहता है और अपने पक्ष के वीरों को उसके लिए जान देनेवाले शूर कहा है जो शस्त्र-सज्जित और युद्ध-कला के अच्छे जानकार (‘शूराः मदर्थे त्यक्तजीविताः । नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥’³⁴)

साहित्यिक वर्णनों में आगे आनेवाली घटनाओं अथवा होनेवाले परिणाम के संकेत सूचित करने की विधा होती है। दुर्योधन के संशय को इसी रूप में प्रस्तुत किया गया है। *भगवद्गीता* के 18वें अध्याय के श्लोक 78 में स्पष्ट कर दिया है कि जिस पक्ष में कृष्ण हैं, उसी की विजय होगी—

‘यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥’

यहीं नहीं, इस दूरगामी परिणाम को संजय ने *महाभारत* के भीष्मपर्व के 21वें अध्याय में ही संकेतित किया है—

‘यतस्कृष्णः ततो जयः’³⁵

भगवद्गीता में शूरवीरों के उल्लेख की दृष्टि से यह विसंगति भी उल्लेख्य है कि दुर्योधन ने पाण्डव-सेना के प्रमुख शूरवीरों के विवरण (श्लोक 3 प्रथम पाद से 6 तक) में कृष्ण, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, शिखण्डी, सात्यकि एवं विराट के पुत्रों को नहीं गिनाया है। कृष्ण, युधिष्ठिर, शिखण्डी, सात्यकि, नकुल और सहदेव का उल्लेख संजय द्वारा पाण्डव पक्ष के शंखध्वनि करनेवाले प्रमुख वीरों के नामोल्लेख के समय आता है (श्लोक 15 से 17), किन्तु श्वेत के उल्लेख का ध्यान उन्हें भी नहीं आता जबकि विराट के तीन पुत्रों में से श्वेत ने महाभारत-युद्ध के प्रथम दिन के सेनापति के रूप में नेतृत्व किया था और उस दिन के युद्ध का वह दुर्धर्ष योद्धा था।

सन्दर्भ :

1. *भगवद्गीता*, 18.70
2. *वही*, १८.७४
3. *वही*, १८.७६
4. *वही*, 18.75
5. *भागवतपुराण*, 1.15.30
6. *वही*, 1.15.30
7. *वही*, 1.15.31
8. *भगवद्गीता*, 16.3

9. वही, 18.68
10. वही, 18.71
11. भागवतपुराण, 1.4.29
12. वही, 1.5.3
13. 'Bhagavad Gītā with the commentary of Śaṅkarācārya, Published by Advaita Ashrama, Calcutta, p.XVII, 1997
14. 'Śrī Bhagavad Gītā: 745 verses, bhojapatrī Gītā, with introduction, complete English translation, and various readings', Published by Shri Bhuvaneshwari Pith and Shri Bhuvaneshwari Prakashan, The Gondal Rasashala Aushadhashram, Gondal-360311, Gujrat, 1990, 328 pages
15. महाभारत, भीष्मपर्व, 19.1
16. वही, भीष्मपर्व, 20.1-2
17. वही, भीष्मपर्व, 19.1
18. वही, भीष्मपर्व, 19.1
19. भगवद्गीता, 1.15,17
20. वही, 1.9
21. वही, 1.10
22. महाभारत, भीष्मपर्व, 47.2-3
23. वही, भीष्मपर्व, 47.7 एवं आगे
24. वही, भीष्मपर्व, 47.43 एवं आगे
25. वही, भीष्मपर्व, 47.47
26. वही, भीष्मपर्व, 47.46
27. वही, भीष्मपर्व, 48.28-29
28. वही, भीष्मपर्व, 48.41
29. वही, भीष्मपर्व, 48.46
30. वही, भीष्मपर्व, 48.53
31. वही, भीष्मपर्व, 48.55-65
32. वही, भीष्मपर्व, 48.77, 84, 86, 89, 96
33. भगवद्गीता, 1.6
34. वही, 1.9
35. महाभारत, भीष्मपर्व, 21.12,14



जैन-आगम 'नायाधम्मकहाओ' में पौराणिक एवं ऐतिहासिक सन्दर्भ

छगनलाल बोहरा *



रातीय-संस्कृति में मनुष्य को श्रेष्ठतम बनाने के लिए अत्यन्त प्राचीनकाल से दो आध्यात्मिक परम्पराएँ— श्रमण-परम्परा और ब्राह्मण-परम्परा साथ-साथ विकसित, पल्लवित-पुष्पित होती चली आई हैं तथा दोनों ने एक-दूसरे को प्रभावित ही नहीं किया वरन् एक-दूसरे में घुल-मिलकर भारतवर्ष की संस्कृति और ज्ञान-सम्पदा को शत-सहस्र गुणितकर सारे विश्व में फैलाया है। भारतीय-वाङ्मय के सभी श्रेष्ठ ग्रन्थ श्रमण और ब्राह्मण-परम्परा के महान् पुरुषों, ऋषियों, अर्हतों के महान् कार्यों, उद्देश्यों और जीवन-चरित्रों से भरे पड़े हैं। श्रमण-परम्परा के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ को ब्राह्मण-परम्परा में विष्णु के 24 अवतारों में स्थान प्राप्त है। ऋषभ-पुत्र भरत को प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् और उन्हीं के नाम पर इस राष्ट्र का 'भारतवर्ष' नाम सर्वमान्य है। इसी प्रकार मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम, महावीर हनुमान, वासुदेव कृष्ण, महामुनि नारदजी, व्यास जी, शुकदेव जी आदि अनेक श्रेष्ठ महापुरुषों का चरित्र-चित्रण जैन-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर किया गया है। यह भारतीय-संस्कृति की महान् विशेषता है कि यहाँ ज्ञान के श्रेष्ठ स्रोतों और परम्पराओं का आदर किया गया है जिससे यह देश शान्ति, समृद्धि और मानव-कल्याण का मार्ग दिखानेवाला विश्वगुरु-पद को प्राप्त एकमात्र देश था। 'हमारा धर्मग्रन्थ ही सत्य है, इसे माननेवाले बन्दे ही जीवित रहने योग्य हैं, अन्य सभी मत कुफ्र व अन्य मतावलम्बी काफिर और नष्ट कर दिए जाने योग्य हैं— ऐसी एकांगी, कट्टर धर्माध मान्यतावाले समाज और राष्ट्र जिस प्रकार सारे विश्व के लिए ख़तरे का कारण बनते जा रहे हैं, ऐसे में भारतीय-संस्कृति के सभी धर्म-दर्शन सौहार्द्र और प्रेम का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जैन-आगम 'इसीभासीयाई' में

18 वैदिक ऋषियों के उपदेश संकलित हैं। प्रस्तुत आलेख में जैन-आगम 'नायाधम्मकहाओ' के 19 अध्ययनों में से कई अध्ययनों के पौराणिक एवं ऐतिहासिक महापुरुषों के प्राप्त सन्दर्भों का उल्लेख किया जा रहा है। 'नायाधम्मकहाओ' के 'अवरकंका' नामक 16वें अध्ययन में (महर्षि) नारद का वर्णन प्राप्त होता है। पौराणिक ग्रन्थों, *रामायण*, *महाभारत* (हरिवंशपर्व, 54.7-12) तथा लोकमुख की अनेक कथाओं में नारद का जैसा वर्णन आता है, वैसी ही विशेषताओं, वैसी ही वेशभूषा, आकाशगामिनी विद्या, वीणावादन, यहाँ की बात वहाँ और वहाँ की बात यहाँ मिर्च-मसाला लगाकर नारदविद्या का यथातथ्य वर्णन *नायाधम्मकहाओ* के 16वें अध्याय 'अवरकंका' की 175वीं गाथा में किया गया है—

‘इम च णंकच्छुन्नारए-दंसणेण अइभइए विणीए अंतो-अंतो य
कलुसहियए मज्झत्य-उवत्थिए य अलीण-सोमपियदंसणे सुरूवे
अमइल-सगल परिहिए कालमियचम्मेउत्तरासंग रइयवच्छे
दण्ड-कमण्डलु-हत्थे जइमउड-दितसिए जन्नोवइय
गणेत्तिय-मुंजमेहला-वागलधरे हत्थकय-कच्छभीए पियगंधवे
धरणिगोयरप्पहाणे संवरणावरणी ओवयणुप्पयणि-त्तेसणीसु य
संकामणि-आभिओगि-पण्णति-गमणि थंभिणीसु य बहूसु विज्जाहरीसु
विज्जासु विस्सुयजसे इठ्ठे रामस्स य केसवस्स। तं भगवई पक्कमणिं
गगण-गमणदच्छं उप्पइओ गगणंभिलंघंयतो-गामागार-नगर
खेइ-कब्बइ-मडंब-द्रोणमुख-पट्टण-संबाह-सहस्समंडियं थिमियमेइणीयं
निब्भर जणपदं वसुहं ओलोइंते रम्मं हत्थिणउरे उवागए
पंडुरायभणांसि इतिवेगेण समोवइए।’

अर्थात्, 'उसी समय कच्छुल नारद पाण्डवराजा के भवन में पूर्ण वेग के साथ उतरे। वे देखने में अति भद्र और विनीत थे, लेकिन कभी-कभी कलुष-हृदय हो जाते थे। वह माध्यस्थ-व्रत को उपलब्ध और आश्रितों को सौम्य, प्रियदर्शन और सुरूप थे। अमलिन, 96 अखण्ड वस्त्र पहने हुए थे। उनका हृदय कृष्णमृग के चर्म से

* 'बोहरा-निकेत', बोहरा गणेश मार्ग, उदयपुर-313 001 (राजस्थान);
सचलभाष : 09414164970

सुशोभित था। हाथ में दण्ड, कमण्डलु और मस्तक जटा-मुकुट से दीपित था। वह यज्ञोपवीत, गणेत्रिका, मुंज-मेखला और वृक्षों की छाल पहने हुए थे। हाथ में कच्छभि वीणा थी, वह संगीतप्रिय, भूमिचर प्राणियों में प्रधान, संवरणी, आवरणी, अवपतनी, उत्पनी और श्लेष्णी तथा संक्रमणी, अभियोगिनी, प्रज्ञप्ति, गमनी और स्तम्भिनी— इन विद्याओं से विश्रुत यशवाले तथा राम और केशव के इष्ट थे, वह गगन-गमन में दक्ष, भगवती प्रक्रमणी विद्या को आमन्त्रितकर आकाश में उड़े, गगन को लाँघते हुए हजारों ग्राम, नगर, खेट, कर्बट, द्रोणमुख, पत्तन आदि से परिमण्डित मेदिनीतल एवं जनपदों से संकुल वसुधा का अवलोकन करते हुए हस्तिनापुर पहुँचे।¹

पाण्डवों ने माता कुन्ती सहित कच्छुल नारद का स्वागत उनके सामने जाकर किया, वन्दनाकर अर्घ्य, पाद्य और आसन पर विराजमान किया, कुन्ती व पाण्डव नारद जी की बात पर ध्यान दे रहे थे, उनकी पर्युपासनाकर अभ्युत्थान कर रहे थे, परन्तु द्रौपदी ने उन्हें असंयत-अविरत-अप्रतिहत, अप्रत्याख्यात-पापकर्मा जानकर नारद जी को न आदर दिया, न उनकी बात पर ध्यान दिया और न ही पर्युपासना की।

**‘तए णं सा दोवई देवी कच्छुल नारायं अस्संजयं अविरयं
अप्पडिहयपच्चक्खायपावमंति कट्टु नो आढाई नो परियाणइ नो
अब्भुट्ठेई नो पज्जुवासई।’¹**

तब कच्छुल नारद के मन में इस प्रकार का आन्तरिक, चिन्तित, अभिलषित मनोगत संकल्प उत्पन्न हुआ— ‘ओह! यह द्रौपदी देवी रूप-लावण्य, यौवन तथा पाँचों पाण्डवों के कारण गर्वित हो रही है, इसलिये न मुझे आदर देती है, न मेरी बात पर ध्यान देती है, न पर्युपासना करती है, अतः यह उचित होगा कि मैं द्रौपदी का कुछ अनिष्ट विप्रिय करूँ!’ ऐसी संप्रेक्षाकर नारदजी ने पाण्डवों से जाने के लिये पूछा व उत्पतनी विद्या का आह्वानकर उत्कृष्ट, त्वरित, चपल, चण्ड, शीघ्र, उद्धत, वेगपूर्ण, निपुण विद्याधर गति से लवणसमुद्र के बीचोबीच होते हुए पूर्व की ओर मुँहकर उड़ने लगे—

**‘तए णं तस्स कच्छुल नारयस इमेयारूवे अज्झत्थिए चित्तिए पत्थिए
मणोगए संकप्पे समुप्पज्जित्था-अहो णं दोवई देवी रूवेण य
जोव्वणेण य लावण्णेणय पंचहिं पंडवेहिंअवत्थद्धा समाणी ममं नो
आढाई नो परियाणइ नो अब्भुट्ठइ नो पज्जवासइ। तं सेयं खलु मम
दोवईए देवीए विप्पियं करेंतए ति कट्टु एवं संपेहेइ संपेहेत्ता पंडुरायं
आपुच्छुइ, आपुच्छित्ता उप्पयणि विज्जं आवाहेइ अवाहेत्ता ताए
उक्किट्ठाए तुरियाए चवलाए चण्डाए सिग्घाए उड्डयाए जाइणाए छेयाए
विज्जहरगाई लवणसमुद्धं मज्झं मज्जेणं पुरत्थाभिमुहे वीईवइउं पयत्ते**

यावि होत्था।’²

इस गाथा में नारदजी के बारे में जो प्रसिद्ध है कि वे अपना अनादर करनेवाले का अनिष्ट किए बिना नहीं छोड़ते, एक बात को मिर्च-मसाला लगाकर दूसरे स्थान पर पहुँचाने, झगड़ा करवाने में, सारे लोक में कहीं भी जाने हेतु आकाशगामिनी विद्या के ज्ञाता थे। इसी प्रकार का चित्रण *रामायण*, *महाभारत*, *पुराणादि* में प्राप्त होता है। प्राचीन भारत में ऋषि-महर्षि सभी राजाओं को उनके कर्तव्यों के प्रति सजग रहने कि प्रेरणा देते रहते थे। नारदजी जब हस्तिनापुर में पाण्डवों से तथा धातकीखण्ड में अवरकंका पहुँचते हैं, तब राजा पद्मनाभ से उसके राज्य, राष्ट्र, कोष, कोष्ठागार, बल, सेना, जनता, नगर और अंतःपुर के विषय में जानकारी प्राप्त करते हैं। उन्हें जहाँ भी जो सुधार अपेक्षित होता है, उस कमी के विषय में राजा को सावधान करते हैं। राजा के स्वभाव, व्यवहार में कोई न्यूनता हो, तो उसके प्रति भी उसे उपदेश करते हैं। अवरकंका-नरेश पद्मनाभ को अपने अंतःपुर की रानियों के सौन्दर्य और अपने वैभव पर बड़ा अभिमान था। वह नारदजी से कहता है कि “आप सारे लोक में अनेक द्वीपों, नगरों और अनेक राजाओं के अन्तःपुर में जाते हैं, क्या आपने मेरे-जैसा अंतःपुर कहीं देखा है?” तो नारदजी उसका घमण्ड दूर करते हुए कहते हैं, “पद्मनाभ ! तू तो कूपमण्डूक के समान है”—

‘सरिसे णं तुमं पडमनाभा! तस्सजगइदहुरस्स।’

इस प्रकार वे पद्मनाभ को द्रौपदी के अद्भुत रूप-लावण्य की जानकारी दे उसके मन में आसक्ति जगा द्रौपदी का अपहरण करवाकर अपने अनादर का बदला ले लेते हैं। पाण्डवों एवं श्रीकृष्ण द्वारा द्रौपदी की गवेषणा के दौरान वे श्रीकृष्ण को द्रौपदी की जानकारी भी बड़े उपेक्षा भाव से देते हैं कि धातकीखण्ड में राजा पद्मनाभ के अंतःपुर में मैंने द्रौपदी-जैसी स्त्री देखी है। श्रीकृष्ण तुरन्त कह उठते हैं कि “लगता है यह सब आपका ही किया-धरा है”—

**‘तए णं कण्हे वासुदेवे कच्छुल्लानारयं एवं वयासी-तुब्भं चैव णं
देवाणुप्पिया! एयं पुव्वकम्मं’³**

इस प्रकार *नायाधम्मकहाओ* में वर्णित घटनाओं में कुछ भिन्नता होने के बावजूद ऐतिहासिक पात्रों के गुणवर्णन में अन्य शास्त्रों से समानता प्राप्त होती है। इसी प्रकार व्यास जी के पुत्र शुकदेवजी का उल्लेख भी *नायाधम्मकहाओ* के ‘शैलक’ नामक पाँचवें अध्ययन में प्राप्त होता है। इसमें शुकदेवजी का महान् परिव्राजक के रूप में वर्णन किया गया है और उनकी तीर्थंकर अरिष्टनेमी के शिष्य शैलक मुनि के साथ धर्मचर्चा का उल्लेख

प्राप्त होता है—

‘तेणं कालेणं तेणं समएणं सुए नामं परिव्वायए
होत्थारिउव्वेयं-जजुव्वेयं-सामवेयं अथव्वणवेयं सड्डितंत कुसले
संखसमए लड्डुद्धे पंचजम पंचनियमजुत्तं सोयमूलयं दसप्पयारं
परिव्वायगधम्मं, दाणधम्मं, च सोयधम्मं, च तित्थाभिसेयं च
आघवेमाणे पण्णवेमाणे,
घाउरत्त-वत्थ-पवर-परिहिए-तिदंड-कुंडिय-छत्त-छन्नालय-अंकुस-केसरी-
हत्थगए परिव्वायगसहस्सेणं सड्डिं संपरिवड्डे जेणेव सोगधिया तेणेव
उवागच्छइ ।’⁴

अर्थात्, उस समय और उस काल में शुक नामक परिव्राजक हुए, जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और षष्ठितंत्र में कुशल, सांख्यदर्शन के मर्मज्ञ, पाँच यम, पाँच नियम से युक्त, दानधर्म, शौचधर्म, तीर्थाभिषेक, दस प्रकार के परिव्राजक-धर्म की प्ररूपणा करते हुए, गेरुए वस्त्र, त्रिदण्ड, कमण्डल, छत्र, त्रिकाष्टिका, ताम्बे की अंगूठी और एक वस्त्र-खण्ड धारण किए एक हज़ार परिव्राजकों के साथ सौगंधिका नगरी में आये।

बाइसवें तीर्थकर भगवान् अरिष्टनेमी व वासुदेव श्रीकृष्ण चचेरे भाई थे। अरिष्टनेमी के पिता समुद्रविजयजी एवं श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव जी सगे भाई थे। भारतीय-परिवारों में कितनी धार्मिक स्वतन्त्रता एवं सहिष्णुता थी, इसका यह ज्वलन्त उदाहरण है कि एक ही परिवार के अरिष्टनेमी जैन-तीर्थकर बने और भगवान् श्रीकृष्ण सनातन परम्परा में विष्णु के आठवें अवतार। ‘नायाधम्मकहाओ’ के पाँचवें अध्याय ‘शैलक’ में गाथा 2 से 6 तक द्वारका नगरी, रेवतक पर्वत और श्रीकृष्ण के राजपरिवार का सुन्दर वर्णन है। वासुदेव श्रीकृष्ण का राज्य उत्तर में वैताद्वयगिरि से लेकर दक्षिण सागरपर्यंत सम्पूर्ण दक्षिणार्द्ध भारत में था। कुबेर द्वारा निर्मित द्वारका उनकी राजधानी थी जो नौ योजन चौड़ी, बारह योजन लम्बी साक्षात् स्वर्गतुल्य थी। द्वारका के ईशान कोण में रेवतक पर्वत था जो अरिष्टनेमी भगवान् का विहार-स्थल था—

‘तेणं कालेणं तेणं समएणं बारवती नामं नयरी होत्था
पाइणपडिणायया उदीणदाहिणवित्ठिणा नवजोयणवित्थिणा
दुवालसजोयणायामा, धणवइ-मइ-निम्भिया चामीयर-पवर-पागारा
नानामणि-पंचवण्णकविसीसगे सोहिया अलकापुरी संकासा
पमुइय-पक्कीलिया पच्चक्खं देवलोगभूया ॥ तीसे णं बारवईए नयरीए
बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाएरेवतगे नामं पव्वए होत्था ॥’⁵
‘तत्थ णं बारवईए नयरीए कण्हे नामं वासुदेवे राया परिवसई। से
णं तत्थसमुद्धविजयप्पामोक्खाणां दसण्हं, दसाराणं
बलदेवपामोक्खाणां पंचण्हं महावीराणां, उग्गसेणप्पामोक्खाणां

सोलस्सहं राईसाहस्सीणं पज्जुनपामोक्खाणां अद्धुठ्ठाणं कुमारकोडीणं
सांबप्पामोक्खाणां सठ्ठीए दुदंत साहस्सीणं, वीरसेणपामोक्खाणां
एक्कवीसाए वीरसाहस्सीणं महासेणप्पामोक्खाणां छप्पाणाए
बलबगसाहस्सीणं, रूपिणिप्पामोक्खाणं बत्तीसाए महिलासाहस्सीणं,
अणंगसेणाएप्पामोक्खाणं, अणेगाणं गणियासाहस्सीणं, अण्णेसी
बहूणं ईसर, तलवर माडबिंय कोडुबिंय इब्भ, सेट्ठि सेणावइ
सत्थवाहपभिईणं, वेयड्डगिरि, सागर पेरेतस य दाहिणड्ड-भारहस्स
बारवईए नयरीए आहेवच्चं पोरेवच्चं सामितं, यड्डितं, महतरमतं,
आणा-ईसर सेणावच्चंकारेमाणे पालेमाणे विहरई ।’⁶

अर्थात्, उस द्वारावती नगरी में वासुदेव कृष्ण निवास करते थे, वे वहाँ समुद्रविजय-प्रमुख दशदशार्हो, बलदेव-प्रमुख पाँच महावीरों, उग्रसेन-प्रमुख सोलह हज़ार राजाओं, प्रद्युम्न-प्रमुख साढ़े तीन करोड़ कुमारों, शाम्ब-प्रमुख साठ हज़ार दुर्दांत योद्धाओं, वीरसेन-प्रमुख इक्कीस हज़ार वीरों, महासेन-प्रमुख छप्पन हज़ार बलवानों, रुक्मिणी-प्रमुख बत्तीस हज़ार महिलाओं, अनंगसेना-प्रमुख हज़ारों गणिकाओं और अन्य बहुत-से ईश्वर, तलवर, माडबिंक, कोडबिंक, ईभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह आदि का वैताद्वयगिरि से समुद्रपर्यंत दक्षिणार्द्ध भारत और द्वारावती नगरी का आधिपत्य, पोरपत्य, स्वामित्व, भर्तृत्व, महतरत्व, आज्ञा, ऐश्वर्य और सेनापतित्व करते हुए विहार करते थे।

प्राचीन भारतीय-संस्कृति में सभी विचारधाराओं, धार्मिक मान्यताओं के लिए कितना पारस्परिक सौहार्द रहता था, इसका उदाहरण स्वयं वासुदेव श्रीकृष्ण थे। द्वारका नगरी की एक धनाढ्य महिला ‘थावच्चा’ का पुत्र बाइसवें तीर्थकर भगवान् अरिष्टनेमी के पास दीक्षित होना चाहता था। दीक्षा-समारोह के आयोजन के लिए थावच्चा ने वासुदेव श्रीकृष्ण के पास निवेदन किया कि मेरे इकलौते पुत्र के दीक्षा अभिनिष्क्रमण-समारोह में आप उसे छत्र, मुकुट और चँवर प्रदान करें। तब श्रीकृष्ण ने उससे कहा—

‘अच्छाही णं तुमं देवाणुप्पिए! सुनिव्वुतविसत्था अहण्णं सयमेव
थावच्चापुत्तस्स दारगस्स, निक्खमणसक्कारं करिस्सामि ।’

अर्थात्, हे देवानुप्रिये! तुम आश्वस्त रहो। मैं स्वयं आपके बालक का अभिनिष्क्रमण-संस्कार करूँगा।

इसके बाद श्रीकृष्ण ने नगर में यह घोषणा करवाते हैं कि थावच्चा-पुत्र के साथ जो भी दीक्षित होना चाहता हो, उसके परिवार के भरण-पोषण एवं योगक्षेम की जिम्मेदारी मेरी होगी।

इसी अध्याय में शुकदेवजी और अरिष्टनेमी के शिष्य आर्य थावच्चा पुत्र की धार्मिक चर्चा का रोचक वर्णन है। एक-दूसरे के दार्शनिक-विचारों पर चर्चा और उन्हें समझते हुए

परस्पर आदर-सम्मान देने का रोचक एवं तथ्यपूर्ण वर्णन है।

इसी प्रकार 16वें अध्ययन 'अवरकंका' में श्रीकृष्ण और पाण्डवों का वर्णन प्राप्त होता है। द्रौपदी के पूर्वजन्मों का वर्णन, कांपिल्यपुर में द्रौपदी के स्वयंवर का वर्णन, हस्तिनापुर की राजसभा एवं वहाँ निमन्त्रण भेजने का वर्णन, विराटनगर में कीचक का वर्णन, स्वयंवर में आए हुए अनेक राजाओं के आवास भोजनादि की व्यवस्था, द्रौपदी के स्वयंवर में जाने हेतु तैयार होकर जिन-मन्दिर में जाकर दर्शन, पूजा एवं पाण्डवों के साथ विवाह का वर्णन उपलब्ध होता है। श्रीकृष्ण का नृसिंह-रूप धारण करने का वर्णन, लवण समुद्र एवं उसे लाँघनं तथा पाण्डवों द्वारा पाण्डु मथुरा नगरी का निर्माण आदि का रोचक वर्णन इस अध्याय में प्राप्त होता है।

इसी प्रकार 'मल्ली' नामक अध्ययन में तीर्थंकर मल्लिनाथ का जीवनवृत्त तथा 'उक्कीतणाए' नामक अध्ययन में राजगृहनगर, श्रेणिक राजा, उनके पुत्र मंत्री अभयकुमार का वर्णन **'तस्सणं सेणियस्स पुत्ते नंदाए देविए अत्तए अभय नामं कुमारं होत्था ।'** मगध के पार्श्व में ही अंग देश की राजधानी चम्पानगरी एवं वहाँ के राजा कौणिक का वर्णन— **'तत्थणं चम्पाए नयरीए कोणिए नामं राया होत्था ।'** मगध राज्य की वैभवपूर्ण जीवन-शैली एवं सुव्यवस्थित राज्य-व्यवस्था का वर्णन प्राप्त होता है जो ऐतिहासिक रूप से इस काल के बारे में जानने का एक बहुत बड़ा माध्यम है। आवश्यकता इसके अन्वेषण एवं शोध-खोज की है, जिससे घटनाओं तत्कालीन महापुरुषों और समाज-जीवन का व्यवस्थित तारतम्यतापूर्ण चित्रण सामने आ सके।

सन्दर्भ :

1. नायाधम्मकहाओ, गाथा 189
2. वही, गाथा 190
3. वही, गाथा 231
4. वही, पाँचवाँ अध्ययन, गाथा 52
5. वही, पाँचवाँ अध्ययन, गाथा 3
6. वही, पाँचवाँ अध्ययन, गाथा 6



‘महावस्तुअवदान’ में बोधिसत्त्व का जीवन-दर्शन और महायानी-बौद्धों के विशिष्ट दार्शनिक-सिद्धान्त

डॉ० कृष्णकान्त त्रिवेदी *



थागत बुद्ध के सत्कर्म को रोचक कथाओं के माध्यम से अभिव्यक्त करने का जो साहित्यिक कौशल है, उसे हम ‘अवदान’ के नाम से जानते हैं। बौद्धों की हीनयानी एवं महायानी— दोनों ही परम्पराओं से जुड़े हुए अवदान पाए जाते हैं। यह स्थापना भी गढ़ी जाती रही है कि ‘अवदान’ अथवा संस्कृत का ‘अपदान’ शब्द वास्तव में समीचीन, शिक्षात्मक, वीरतापूर्ण कार्य एवं सत्कर्म का भान करा देता है। अवदानों में पारम्परिक भेद भले ही लक्षित हो रहे हों, पर इन्हें सीधे बुद्धवचन की श्रेणी में नहीं रखा जाता। इतिहासकारों की खोज यही है कि इस तरह के विपुल साहित्य के होने से भारत जैसे देश की बौद्धिक चेतना में एक विशेष तरह का परिवर्तन दिखाई देने लगा था। यह संकेत भी मिलता है कि इस तरह की साहित्यिक सम्पदा किंवा विरासत को संरक्षित रखने में उन मातृकाओं का बहुत बड़ा योगदान था जिन्हें कुछ-कुछ अन्तराल पर कई जगहों से संकलित किया गया था। यह सम्भावना भी बनी हुई है कि अवदानों का संकलन करके उन्हें लेखबद्ध करने में जिन लोगों की रुचि होती थी, उन्हें ‘अवदरनार्थ कोविद’ अथवा ‘अवदानिक’ कहा जाता था।¹

महायानी-पंथ के अवदानों में सर्वाधिक ख्याति ‘बोधिसत्त्वावदान’ अर्थात् ‘अवदानकल्पलता’ की रही है। काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने बोधिसत्त्व के पावन चरित को 108 अवदानों में विभाजित करके उसे पूरी साज-सज्जा के साथ प्रस्तुत किया था। महायानियों के दार्शनिक-चिन्तन की खूबी यह है कि प्राणियों को दुःखों से मुक्त करने के निमित्त ही बोधिसत्त्व बार-बार जन्म लेते हैं। उन्हें अपने निर्वाण की चिन्ता नहीं होती, क्योंकि वे जन-जन

के निर्वाण के प्रति समर्पित होते हैं। इनके महान् कार्य ही अवदान के प्रतिपाद्य कहे जाते हैं। महायानियों ने बुद्ध को लोकोत्तरवादी कभी नहीं माना था। जन-जन के त्राता के रूप में उन्हीं का बोधिसत्त्व के रूप में अवतरण हुआ था— इस सिद्धान्त के प्रति महायानियों की अटूट श्रद्धा दिखती है।

अपदान प्रकृत्या दो परस्पर विरोधी खेमे में बँटा हुआ है। ‘अवदानशतक’ हीनयानी-पंथ का महिमामण्डन करता है तो ‘दिव्यावदान’ में संक्रमण-काल की धार्मिक मान्यताओं का निरूपण हुआ है। क्षेमेन्द्र की ‘अवदानकल्पलता’ और ‘महावस्तु’ पूरी तरह से महायानी-पंथ के उच्चादर्शों से प्रभावित होनेवाले अवदान माने जाते हैं। बौद्ध-विधानुरागी जनों द्वारा दोनों ही पंथ से जुड़े हुए अवदानों के ऐतिहासिक विकास-क्रम को कई प्रमाणों के आधार पर विवेचित करने का प्रयास हुआ है।²

महायानी-पंथ के कतिपय विशिष्ट दार्शनिक-सिद्धान्तों का विवेचन ‘महावस्तु’ अवदान में पूरी समग्रता से किया गया है। महाकाश्यप और महाकात्यान के बीच जो लम्बा संलाप हुआ था, उसमें बोधिसत्त्व की दस भूमियों के स्वरूप और उसके दार्शनिक-आधार को केन्द्र में रखा गया था। महाकाश्यप की चिन्ता बुद्ध-वचन की मौलिकता को बनाए रखने को लेकर कहीं ज्यादा परिलक्षित हो रही थी। वे उन उपायों के अनुसन्धान में लगे थे जिनके द्वारा धम्म और संघ के क्षरण को प्रभावी ढंग से रोका जा सकता था। अतएव धर्म-साम्राज्य के अधिष्ठाता बुद्ध के चरित का बखान करते रहना प्रासंगिक हो गया था। महाकात्यान ने प्रश्नोत्तर-शैली में दशभूमि और उससे जुड़े हुए दार्शनिक-सिद्धान्तों की जो व्याख्या की है वह अपने-आपमें अद्भुत और चमत्कार से परिपूर्ण कही जा सकती है। हमें इसका बोध होना चाहिए कि दशभूमियों की चर्चा का सीधा संबंध बोधिसत्त्व की विविध अवस्थाओं और उनके सांसारिक अस्तित्व

* सेवानिवृत्त प्राध्यापक, प्राचीन भारतीय-इतिहास विभाग, मिथिला
रिसर्च इंस्टीट्यूट, दरभंगा; निवास : कबडाघाट, पो०: लालबाग-846
004 (बिहार)

को महिमामण्डित करने के सिवाय किसी और से नहीं है। बोधिसत्त्व ने अपने पूरे जीवन में एक-एक करके जिस उत्कर्ष को प्राप्त किया था, उसी का मानमण्डन दशभूमियों के माध्यम से किया गया है। महायानियों ने इसका गम्भीर चिन्तन करके यही निष्कर्ष निकाला था कि एक चरण को पूरा करने के बाद ही बोधिसत्त्व ने दूसरे चरण में प्रवेश किया था। उनकी यही प्रधान चर्या थी। अभिप्राय यह कि दश तरह की भूमियों की उपलब्धि को पाने के बाद ही बोधिसत्त्व सांसारिक प्राणियों के मुक्तिदाता के रूप में स्वयं को स्थापित करने में सफल हुए थे। ‘महावस्तु’ अवदान एक से लेकर दशभूमि तक के स्वरूप और उसकी उपलब्धियों को अनोखे अंदाज़ में प्रस्तुत करता है।^१

महायानियों की इस सिद्धान्त के प्रति अटूट श्रद्धा रही है कि बोधिसत्त्व की भूमि का कोई निश्चित काल-निर्धारण नहीं किया जा सकता। और यह कल्पान्त तक अपने स्वरूप को ग्रहण करती है। इस संसार में हमें जो कुछ दिखाई दे रहा है, वह उनकी काल्पनिक अर्थात् खण्डित छवि के अतिरिक्त कुछ और नहीं है। परन्तु सांसारिक दृष्टि से समझने का जो आधार हमारे पास चाहिए, वही भूमि के रूप में वर्गीकृत होकर प्रकट होती रहती है। फिर भी इसकी प्रामाणिकता को लेकर हम आश्वस्त नहीं हो सकते। यही कारण है कि महायान-पंथ में बोधिसत्त्व की भूमि को ‘अपरिमित’ कहा गया है। वे स्वयं अपने ही विवेक से इसकी सीमाएँ निश्चित करते हैं। शेष बची हुई जो वस्तु है, वह संसार के सामने प्रकट नहीं होती। तात्पर्य यह कि इसका ज्यादा-से-ज्यादा भाग प्रच्छन्न ही रहता है। हमारे पास मात्र यही एक हलका-सा संकेत है जिसके सहारे भूमि से बोधिसत्त्व के संबंध को जोड़कर उनका मानवर्द्धन करते रहते हैं।^१ महायान इस आदर्श को सामने रखता है कि बोधिसत्त्व का पूरा जीवन ही त्याग की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ था। भौतिक जगत् को उन्होंने चन्द्र-सूर्य की तरह उद्भासित किया था।^१ अवदानों में दस तरह की भूमियों का जिस शैली में चित्रण है, उसी से बोधिसत्त्व की भिन्न-भिन्न चित्तवृत्तियों का हमें परिज्ञान हो जाता है। प्रथम भूमि वह थी जिसमें त्याग, करुणा, अपरिच्छेद, अमान, सर्वशास्त्राध्यायिता, विक्रम, लोकानुज्ञा और धृति-जैसे गुणों का विकास हुआ था। दूसरी भूमि पुनर्जन्म की सम्भावनाओं का त्याग करा देती है। बोधिसत्त्व की यह भूमि कुछ विशेष तरह के कारणों को लेकर महत्त्वपूर्ण हो जाती है। काम, राग से पूर्ण विमुक्ति के भाव का उदय होता है। धन कमाने से लेकर लाभ कमाने तक की इच्छा का लोप हो जाता है। कोई भी कामना चित्त को विचलित नहीं कर पाती। बोधिसत्त्व का अनित्य वस्तु से कोई संबंध (राग) नहीं रह पाता। आघात सहने

की क्षमता से संपन्न वे दृढ़ बुद्धिवाले होते हैं। त्याग में अतुलनीय होते हैं। लोक-व्यवहार में भी उनकी गहरी रुचि देखी जाती है। चित्त में सम्यक् सम्बुद्ध होने के भाव का उदय होता है। बोधिसत्त्व महायानियों ने यह भी प्रचारित किया है कि चारों ही द्वीपों में बोधि बनने की प्रेरणा स्वतःस्फूर्त हुआ करती थी। बोधिसत्त्व में लोकहित की अदम्य लालसा थी। परहित के लिए वे ‘अवीचि’ नामक नरक में भी जा सकते थे। प्राणी चाहे जैसा भी हो, उसके दुःख एवं वेदना की उपेक्षा करके आगे बढ़ जाना— यह उनके जीवन का लक्ष्य नहीं था। वे सबके लिए थे। अपने-पराये का भेद उनके मन में नहीं था। जाति, जरा, मरण और शोक— इन्हें सांसारिक भय कहा जाता है। पूरी दृढ़ता के साथ इनका सामना करते हुए ही आगे बढ़ना है। बोधिसत्त्व किसी दूसरे के निमित्त ही इनका सामना करते हुए देखे जाते हैं। यही उनका विक्रम और बल है। इसी से वे ‘पुरुष सिंह’ के नाम से जाने जाते हैं।^१ महायान-पंथ इस विश्वास से बँधा हुआ है कि प्रथम भूमि में बोधिसत्त्व दुष्कर कार्य को पूरा करने के लिए सांसारिक संबंधों की उपेक्षा कर देते हैं। उनके मन में अपनी भार्या और पुत्र के प्रति भी व्यामोह नहीं रह जाता। दुःखी और आर्त प्राणी ही उनके लिए साध्य हो जाता है। सर्वस्व अर्पण कर देने के बाद भी उनमें दैन्य भाव नहीं देखा जाता।^१ अब यह मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि बोधिसत्त्व का पूरा जीवन ही परम त्याग और अथक पराक्रम का पर्याय बन गया था। उन्हें कोई प्रताड़ित करता रहे या उनपर क्रोध— वे मैत्री भाव का लोप नहीं कर सकते थे। याचक को देखते ही उनका मन प्रसन्न हो जाता था।^१

द्वितीय भूमि में प्रवेश करने के बाद बोधिसत्त्व प्राणि-कल्याण के लिए सन्नद्ध हुए थे। उनमें जीवों के प्रति कोमल और हितकारी भावना का भी विकास हुआ था। कर्म में जुझारूपन आया था। सदा असाधारण और उन्नत क्रियाओं में लीन रहते थे। मन में न तो संकोच और न ही पाखण्ड का भाव उदित हुआ था। चूँकि बोधिसत्त्व में कर्म की शुद्धता थी, अतः स्वभाव भी चंचल नहीं था। उन्हें हर पल तृप्ति का एहसास होता ही रहता था। उनके लिए प्राणी-सुख से बढ़कर कुछ दूसरा साध्य नहीं था।^१ चित्त की अवस्था सदा एक-जैसी नहीं रहती। इसी से सांसारिक भूमिका में विविधता और नयापन परिलक्षित होता है। महायानी इस विश्वास के कायल रहे हैं कि बुद्ध, धम्म, और संघ में विचलन की स्थिति बोधिसत्त्व के लिए सद्य नहीं होती थी। प्राणियों के उद्धार के लिए इन्हीं तीनों के प्रति निष्ठा उन्हें निरन्तर प्रेरित करती रहती थी। शरीर का एक-एक अंग भले ही छिद जाए, पर तब भी उनका मन विचलित नहीं हुआ था। यही चित्त और संयम की

पराकाष्ठा थी। महायानियों का अनूठा दर्शन कर्म के वास्तविक स्वरूप पर ही आधारित था। इसके प्रति समर्पित होने से मन को सच्चा आनन्द मिला करता था। बोधिसत्त्व किसी एक के कभी नहीं थे। वे 'सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय' को लेकर चलनेवाले थे। उनमें दम्भ और मात्सर्य से पूरी तरह अलग होकर दान देने की प्रवृत्ति थी। अदत्त दान उनके मन को भाता नहीं था। किसी के प्रति दुर्भावना व्यक्त नहीं करते थे। इस तरह बोधिसत्त्व का मन सदा प्राणियों के सुख के लिए बेचैन रहता था। दूसरे के धार्मिक विश्वास के प्रति भी उनके मन में किसी तरह की अवज्ञा का भाव नहीं था।¹⁰ बोधिसत्त्व ने आचरण की मर्यादा को कायम रखने के लिए काम गुण का सर्वथा त्याग कर दिया था। सांसारिक जीवन में जितनी तरह के दूषित भाव हैं, उनसे अपने को अलग करके बुद्धत्व को प्राप्त करना कोई साधारण काम नहीं है। प्रत्येक बुद्ध के साथ बोधिसत्त्व की कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं थी। जीवन में लाभ या सत्कार की इच्छा का नहीं रह जाना ही बुद्धत्व का वास्तविक गुण था। परमार्थ के चिन्तन को छोड़ किसी और में उनका मन रमता ही नहीं था। तात्पर्य यह कि बोधिसत्त्व के भीतर जिस तरह का वीर्य अर्थात् पराक्रम का तेज छुपा था, वह किसी और के लिए नहीं, बल्कि धर्मोत्थान के लिए हितकारी सिद्ध हुआ था। तृष्णा और उद्वेगकारी काम से उनका मन स्वलित नहीं होता था। बोधिसत्त्व से बढ़कर कोई दूसरा सर्वदर्शी नहीं हो सकता था। किसके मन में क्या चल रहा है, इसका परिज्ञान उन्हें आसानी से हो जाता था। किसी के पास अनन्त भोग इकट्ठा भी हो जाए, तब भी मन डगमगाता नहीं था। सकल भोग का दान देकर वे पूरी तरह से निर्लिप्त हो जाते थे।¹¹

तीसरी भूमि बोधिसत्त्व की परम त्यागवाली भूमि बन जाती है। उनका मन किसी और जगह नहीं भटकता। जगत् के जितने भी प्राणी हैं, उनको सुख पहुँचे— यही उनकी एकमात्र अभिलाषा रहती है। महायानी इस चिन्तन को महत्त्व देते हैं कि घास और काठ एक जगह पर इकट्ठा हो तो अग्नि शान्त कैसे हो सकती है? इसी तरह अपने चारों ओर भोग-सामग्री बिखरी हो तो फिर काम या तृष्णा से छुटकारा कैसे मिल सकता है?¹² प्रज्ञावान् व्यक्ति अपने पास लोभ को फटकने नहीं देता। समस्त दोषों का उपशमन ज्ञान के सहारे किया जा सकता है। ऐसा होने के बाद मन पवित्र हो जाता है और तब ऐसी ही स्थिति में व्यक्ति लोगों के लिए पथ-प्रदर्शक का उच्च स्थान हासिल कर लेता है।¹³ महायानियों के अनुसार एक-एक करके चौदह ऐसी भूमियाँ थीं, जिनपर चलते हुए बोधिसत्त्व चौथी भूमि में प्रवेश करते थे। ये सारे-के-सारे आचार एक तरह से नैतिकता के बोधक हुआ करते

थे। भारतीय-संस्कृति में आचार की जिस पवित्रता को महत्त्व दिया जाता रहा है, उसके पीछे कुछ विशेष कारण होते थे। बोधिसत्त्व किसी के लिए पराये नहीं थे। उनके कदम पापियों के उद्धार के लिए ही आगे बढ़े थे। महायानी अपने इस कथन पर भी कायम हैं कि किसी की भलाई कर देने के बाद जब मन प्रसन्न हो जाए, तो समझना यही चाहिये कि हम बोधिमार्ग से अधिक दूर नहीं रह गए हैं। बोधिसत्त्व को लेकर जिस तरह की स्थापना गढ़ी गई है, उसे महायानियों के गम्भीर दार्शनिक-चिन्तन का प्रतिफल कहना चाहिये। बोधिसत्त्व की सदाशयता से औंधे मुँह नरक में गिरे हुए लोगों को सुख पहुँचा था। यही कारण है कि स्वर्ण-जैसे दमकने और सूर्य की तरह उद्भासित होनेवाले इस महामानव की देवताओं ने स्तुति की थी। 32 लक्षणों से युक्त पूर्ण पुरुष केवल बोधिसत्त्व को छोड़ कोई दूसरा नहीं था। वे इन्द्रियों के अधीन नहीं थे और स्वभाव में स्मृति तथा विनय का अद्भुत मेल था।¹⁴

महावस्तु में पाँच से लेकर दस भूमि तक की कथाओं का जो विस्तार मिलता है, उसमें बोधिसत्त्व के श्रेष्ठ कर्म एवं उनके गौरवशाली व्यक्तित्व का ही विशेष रूप से बखाना हुआ है। पूरा-का-पूरा बौद्ध-समुदाय इस प्रसंग से आह्लादित होता रहा है कि बोधिसत्त्व ने उस माता के गर्भ से जन्म लिया था जिसमें रूप और गुण का अनोखा मेल था। महायानी इस विश्वास से भी बँधे हैं कि माता की कोख में बोधिसत्त्व का जो अंश पल रहा था, उसका आश्रय योनि न होकर पीठ हुआ करता था। उसकी उदर से भी दूरी थी। बोधिसत्त्व के गर्भस्थ होने के बाद माता की चर्याएँ बाधित नहीं होती थीं। अप्सराएँ उनकी पूजा के लिए इस धरा पर उतरती थीं। मनोहर वाद्य बजने लगते थे। इस अवस्था में भी बोधिसत्त्व निर्विकार भाव में रहा करते थे। उनकी माता अहिंसा और ब्रह्मचर्य-व्रत के पालन में लीन रहती थीं। मद्य का सेवन नहीं करती थी और न कभी मुँह से कठोर वचन ही निःसृत होता था। अदित्र से दूर रहती थीं। चुगली और मिथ्या वचन से दूर रहती हुई वह निर्लिप्त जीवन व्यतीत करती थीं।¹⁵ बोधिसत्त्व की माता के मन में ईर्ष्या या द्वेष का भाव नहीं था। प्राणियों के प्रति दया एवं मैत्री के भाव को बनाए रखने में ही उन्होंने अपनी सद्गति देखी थी। जीवनचर्या में मिथ्यादृष्टि के लिए कोई स्थान नहीं था।¹⁶

बौद्धों के उभय पंथ में प्रत्येक बुद्ध के सिद्धान्त का निरूपण हुआ है। यह उन गृहत्यागी-संन्यासियों के समूह का बोध कराता है जो आत्मकेन्द्रित होने के साथ साथ अपनी सम्बोधि के रहस्य को गोपन बनाए रखने में सफल हुए थे। बौद्धों की यह धारणा बार-बार व्यक्त होती रही है कि प्रत्येक बुद्धों ने केवल

अपने से ही सम्बोधि के मार्ग का अनुसन्धान किया था। इस निमित्त वे किसी शास्ता के पास नहीं गए थे। उन्होंने कभी यह नहीं चाहा कि कोई उन्हीं की तरह की चर्या का अनुकरण करते रहने में अपरा पूरा जीवन खपा दे। स्वयं में प्रबुद्ध प्रत्येक बुद्धों की कल्पना की कोई सीमा नहीं थी। बताया यही गया है कि ये मूक भाव में रहते थे और साथ ही अतुल बल से भरे होते थे। निर्जन स्थान में इनका भ्रमण गैण्डे की तरह होता था। पूर्ण सम्बोधि के प्राप्त होने तक से संसार का त्याग नहीं करते थे। परन्तु बुद्ध की तरह ये पाँच तरह के चक्षुओं से संपन्न नहीं होते थे। बौद्ध-दर्शन में इसका विचार है कि पाँच तरह के चक्षु ही किसी को प्रज्ञावान् बनाने में सहायक सिद्ध होते हैं।¹⁷ महावस्तु में यह प्रसंग किञ्चित् विस्तार से लेखबद्ध हुआ है कि प्रत्येक बुद्धों के प्रति लोगों की गहरी आस्था देखी जा रही थी। इनके अवशेषों पर स्तूपों का निर्माण कराकर लोग अपने-आपको धन्य समझ रहे थे।¹⁸ महावस्तुअवदान के अवलोकितसूत्र में बुद्ध की मार-विजय से संबंधित उद्धरणों की भरमार देखी जा सकती है। बुद्ध ने जिस ‘प्रतीत्यसमुत्पाद’ और ‘मध्यमप्रतिपद’-जैसे विशिष्ट दार्शनिक-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, उसका बीजमंत्र इसी सूत्र में अंतर्लीन दिखाई देता है। बौद्ध-सुत्तों के अवलोकन से भी यही स्पष्ट होता है कि मार-विजय के बाद ही बुद्ध ने इस अनूठे सिद्धान्त को प्रचारित करना शुरू किया था। सृष्टि और जीवन की वस्तुनिष्ठ समीक्षा के लिए बुद्ध द्वारा उपदिष्ट चार तरह के आर्यसत्य ही प्रतीत्यसमुत्पाद का मूलाधार कहे जाते हैं। दुःख समुदय, दुःखनिरोध और दुःखनिरोधगामिनीप्रतिपद— ये चार आर्यसत्य दार्शनिक-विवेचन के केन्द्र-बिन्दु माने जाते हैं। इस जीवन की बात ही क्या, यह पूरा-का-पूरा संसार ही दुःखमय है। जन्म, जीवन और मृत्यु— ये एक-एक करके दुःख के कारण ही हैं। दूसरी ओर क्षीणता, राग, वृद्धावस्था, प्रिय-वियोग, अप्रिय का साथ, इच्छा की पूर्ति का होना या नहीं होना— इन सबके मूल में केवल तृष्णा न हो तो दुःख भी क्षणभंगुर है। इच्छाएँ अर्थात् तृष्णा न हो तो दुःख भी उत्पन्न नहीं होगा। इसके कारण की खोज करें तो कारण से कार्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद को समझना कठिन नहीं होगा।¹⁹ बोधिसत्त्व ने यही कहा था कि मनुष्य के जीवन में जिस तरह के उथल-पुथल मची है, उसका कारण और कुछ नहीं बल्कि अविद्या है। यह नहीं होती तो संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन और स्पर्श इत्यादि का प्रादुर्भाव भी नहीं होता। स्पर्श ही वेदना को उत्पन्न करता है और अंततः यही जीवन के भौतिक उपादानों से मनुष्य को बाँध देता है। कुल मिलाकर उपादान के कारण से ही एक जन्म का नहीं, बल्कि अनेक जन्मों का अंतहीन चक्र शुरू हो जाता है और फिर

इससे कभी मुक्ति नहीं मिलती। मनुष्य की जाति का निर्धारण भी इसी से होता है। जरा, व्याधि, मरण के अतिरिक्त किसी को कुछ नहीं मिलता। अनन्त दुःख, क्रन्दन और अवरोध ही इसकी नियति है।²⁰

बौद्धागमों में प्रतिपादित दार्शनिक-सिद्धान्त का निचोड़ यही है कि दुःख में ही जीवन की उत्पत्ति और इसके अंत की कहानी छुपी है जिसे ‘प्रतीत्यसमुत्पाद’ के नाम से जाना जाता है। यह प्रतीत्यसमुत्पाद जिसे ‘हेतुवाद’ भी कहा जाता है, एक ऐसा विरल बौद्ध-दार्शनिक सिद्धान्त है जिसके द्वारा कारण से कार्य-परम्परा का सूत्र खोजा जा सकता है। यह सिद्धान्त इस यथार्थ को सामने रखता है कि एक वस्तु की उत्पत्ति दूसरे पर निर्भर करती है। तात्पर्य यह कि एक कारण के आधार पर एक कार्य का जन्म होता है और फिर यही कार्य-कारण मिलकर एक भिन्न प्रकृतिवाले अगले कार्य की उत्पत्ति का सहायक बन जाता है। यह आपस में कार्य-कारण का जैसा संबंध है, वह तो स्वयं में परिवर्तनशील अथवा परिणतिशील है।²¹ संयुक्तनिकाय में बुद्ध-वचन का यही सार संक्षेप प्रस्तुत किया गया है कि पहाड़ के ऊपर मूसलाधार वर्षा के जारी रहने पर जल नीचे बहकर कन्दरा में चला जाता है या अन्य गहरों को भर देता है। इनके भर जाने के बाद नाले बह निकलते हैं और फिर एक-एक करके द्रोड़ियों या छोटी-छोटी नदियों का प्रवाह शुरू हो जाता है। ये छोटी-छोटी नदियाँ बड़ी नदियों को भरती हैं और इन्हीं का प्रवाह सागर में जाकर लीन हो जाता है। यही स्थिति कार्य-कारण के साथ है।²²

बौद्ध मानते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद जैसा विशिष्ट सिद्धान्त समस्त मानव-जाति के लिए परमकल्याणकारी है। समझने की बात यह कि उत्पत्ति न स्वतः होती है और न बिना किसी हेतुओं के, बल्कि यह प्रत्ययों का आश्रय या उनका साथ पाकर ही अपने शीर्ष का स्पर्श कर लेती है। प्रतीत्यसमुत्पाद-जैसे दार्शनिक-सिद्धान्त का यही प्रस्थान-बिन्दु है। प्रत्यय, हेतु कारण, निदान, समुदाय और उद्भव आदि शब्द एक तरह से समान अर्थ में ही प्रयुक्त होते रहे हैं।²³

बौद्ध-सुत्तों के कई ऐसे सन्दर्भ हैं जिनमें कारण और कार्य-सिद्धान्त की विस्तृत विवेचना हुई है। पूर्व, वर्तमान और भावी जीवन में जहाँ जैसी विसंगतियाँ हैं, उनकी व्याख्या करते हुए बुद्ध ने भिक्षुओं से यही कहा था कि अविद्या के प्रत्यय से संस्कार होते हैं, संस्कार-प्रत्यय से विज्ञान (अपने विषय की चेतना), विज्ञान के प्रत्यय से नाम-रूप (मन एवं शरीर), नाम रूप के प्रत्यय से षडायतन (षडेन्द्रियाँ), षडायतन के प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा (उत्कट अभिलाषा),

तृष्णा के प्रत्यय से उपादान (आसक्ति), उपादान के प्रत्यय से भव (अस्तित्व), भव के प्रत्यय से जाति (पुनर्जन्म), जाति के प्रत्यय से जरा, मरण, शोक एवं दुःख उत्पन्न होते हैं। इस पूरे वृत्तांत का यही निहितार्थ है कि प्रत्ययवाद (हेतुवाद) के आधार पर ही दुःख स्कन्ध का समुदाय होता है। इसे ही हम 'प्रतीत्यवाद-सिद्धान्त' का नाम देते हैं।

स्पष्टतः प्रतीत्यवाद का मौलिक सिद्धान्त बुद्ध द्वारा उपदिष्ट चार आर्यसत्य से ही सम्पुष्ट हुआ था। इनमें से प्रथम और द्वितीय (अविद्या और संस्कार) पूर्वजन्म से संबंध रखनेवाले वर्तमान जन्म के कार्यों के कारण हैं और दुःख समुदाय के स्वरूप हैं। थोड़ी गहराई के साथ विचार करके देखें तो जाति और जरा-मरण— ये वर्तमान जीवन से जुड़े होने पर भी भविष्य के जीवन के कारण बन जाते हैं। महसूस करने की बात तो यही है कि सम्पूर्ण चक्र में कोई भी पूर्व-कार्य के लिए कारण कहा जा सकता है। कार्य-कारण का यह संबंध इस संसार में सतत प्रवहमान बना रहता है। दार्शनिक-भाषा में यही भवचक्र है। इसे कुछ अधिक स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि अविद्या और संस्कार— ये दोनों मिलकर हमारे पूर्वजन्म की रचनात्मक शक्तियों (काम-भाव) का ताना-बाना बुना करते हैं और पुनः यही क्रम वर्तमान जन्म (उत्पत्ति भव) के लिए भी दुहराया जाता है। यह स्वीकार किए जाने में किसी तरह का विरोध नहीं होना चाहिए कि हमारे वर्तमान जीवन के विज्ञान, नाम-रूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना— ये सब उसी के विपाक स्वरूप हैं। इसके बाद हमारे वर्तमान जीवन की कड़ियाँ तृष्णा, उपादान और भव के रूप में उत्पन्न होती हैं और तब ये स्वयं ही कर्मभाव का स्थान ग्रहण कर लेती हैं। घुमा-फिराकर इन्हीं का विपाक भविष्य में पुनर्जन्म का कारण बनता है। भवचक्र का यह सिलसिला कभी नहीं रुकता। इसी कारण से बार-बार जन्म और मरण होता है। भारत के अन्य दर्शन जीव-आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने की बात करते हैं। आखिर यह आत्मा है क्या? प्रत्येक धर्म अपनी विशिष्ट दार्शनिक-शैली के साथ इसकी व्याख्या भले ही करता रहे; पर बौद्ध-दर्शन केवल अनात्मवाद के अतिरिक्त कुछ और पारिभाषित करने की मनःस्थिति में नहीं दिखता।

बुद्ध ने चार आर्यसत्य के अतिरिक्त मध्यमप्रतिपदा के स्वरूप पर भी गहन विचार किया था। इसे दर्शन की महनीय और विशिष्ट परम्परा का बोधक कहा जाना चाहिये। महावस्तु में यह प्रसंग एक बार फिर से पुनरावृत्त हुआ है कि तथागत पुरुषदम्पसारथी होकर सम्यक् सम्बोधि के लिए चित्त की एकाग्रता पर अधिक बल दे रहे थे। प्रज्ञावान् होने के बाद ही चार

आर्यसत्य को ठीक से समझा जा सकता है। दुःख और दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपत् को मन के भीतर बैठा लिया जाए तो कारणों को जानना कठिन नहीं रह जाता। तृष्णा समूल नष्ट हो जाए, तो फिर किसी तरह का दुःख हमारे जीवन के लिए अवरोधक नहीं बन सकता।²⁴ जिन लोगों का पराक्रम अच्छा नहीं, केवल दूषित कार्य में लगे हैं वे दुःख और इसके उपशमन के मार्ग को कदापि समझ नहीं पायेंगे। पुण्यवान् की समाधि ही फलदायी होती है। उसी की प्रज्ञा जीवन के मूल तत्त्व का भेदन करने में सक्षम हो सकती है। चूंकि बुद्ध प्रज्ञावान् और वीर्ययुक्त थे, इसीलिए वे दुःखों से मुक्त हो गए थे।²⁵ सारनाथ के इसी पतन मिगदाय में धर्मचक्र का प्रवर्तन करते समय बुद्ध ने धम्म विनय की स्थापना के लिए मध्यमप्रतिपदा की ही उपयोगिता सर्वमान्य घोषित की थी। इसके आलम्बन से विराग का भाव पैदा होता है जो अन्ततः दुःख-निरोध का कारण बन जाता है। वस्तुतः मध्यमप्रतिपदा और कुछ नहीं बल्कि बुद्ध द्वारा भाषित आठ तरह के मार्गों से ही सम्पुष्ट होनेवाली स्थिति का नाम है।²⁶

सन्दर्भ :

1. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, अवदानशतक पर लिखी डॉ० पी०एल० वैद्य की भूमिका, मिथिला रिसर्च इंस्टीट्यूट, दरभंगा द्वारा प्रकाशित, द्वितीय संस्करण, 2002 ई०
2. द्रष्टव्य, शत्रुघ्न प्रसाद मिश्र, 'महावस्तुअवदान में प्रतिबिम्बित प्राचीन भारत' (शोध-प्रबन्ध), दरभंगा, 2009, भूमिका, पृ० और आगे
3. महावस्तुअवदान I, पृ० 88, श्लोक 16-17
4. 'भूमिस्तथा अपरिमिता प्रजानता प्रकाशिता स्वयं अनिवृत्तबुद्धिना। प्रवर्तते तथ परिशेषभूमिषु सामान्यसंकेतानां निरूपणं ॥'
—महावस्तुअवदान, 1.78
5. 'त्यागेन त्याग सम्पन्ना बोधिसत्त्वा महायशाः। लोकां च अभिरोचन्ते चन्द्रभानुरिव अंशुमान् ॥'
—वही, 1.78
6. 'येनान्तरेण परमार्थविर्दुभावामि तं अन्तरं यदि अवीचिगतो वसामि। तं अभ्युपेमि न च तं प्रतिसंहरामि सर्वज्ञताये प्रणिधिं इति निश्चयो मे ॥'
—वही, 1.82
7. 'भार्या प्रियां हृदिसुखांश्च सुतां शिरांसि नेत्राणि चाभरणवाहनविस्तारंश्च। दत्त्वा न विश्रमं उपेन्त्यथ दैन्यतां वा ॥'
—वही, 1.83

8. वही, श्लोक 2
9. वही, I, पृ० 90
10. वही, श्लोक 07-16
11. वही, पृ० 101, श्लोक 16-24
12. ‘न जातु तृणकाष्ठेहि ज्वलनः शाम्यते ज्वलन् ।
न जातु उपभोगेभ्यः तृष्णा कामेषु शाम्यति ॥’
—वही, 1.93
13. ‘भाति लोकगुरुः सतां अनुगतोऽनिक्षिप्तमारो शुचिः इति ॥’
—वही, 1.95
14. वही, पृ० 114, श्लोक 01
15. ‘एशा समादियामि प्राणेहि अहिंसं ब्रह्मचर्यं च ।
विरमामि चाप्यदित्रा मद्यादनिबद्धवचनाच्च ॥
परुषवचनाच्च नरवरप्रतिविरमामि तथैवं पैशुन्या ।
अनृतवचनाच्च नरपति विरमामि अयं मम छन्दो ॥’
—वही, 1.145
16. ‘परकामेषु च ईर्ष्यां न संजनेष्यं नापि अभिद्रोहं
भूतेषु मैत्रचित्ता मिथ्यादृष्टिं च विजहामि ॥’
—वही, 1.145
17. ‘बुद्धानां चानुत्पादाय प्रत्येकबुद्धा लोके उत्पद्यन्ति बुद्धानां दक्षिणेया
तूष्णीकशोभना एकचरा खड्गविषाणकल्पा एकं आत्मानं दमेन्ति
परिनिर्वारयन्ति... ॥’
—वही, 3.414
18. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, शत्रुघ्न प्रसाद मिश्र, पूर्वनिर्दिष्ट,
पृ० 43-404
19. ‘इदं च दुःखं अयं च समुदयः
तथा निरोधो अथ मार्गश्चेष्टो ।
इमस्मिं सन्ते प्रादुर्भोति
इमस्मिं नष्टे इदं अस्तं एति ॥’
—महावस्तुअवदान, 2.345
20. वही II, पृ० 223, श्लोक 163-164
21. डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, ‘भारतीय-दर्शन’ (प्रथम भाग), पृ०
341
22. संयुक्तनिकाय (मूल), उपरिस्ससुत्त, 12.23
23. भरत सिंह उपाध्याय, ‘बौद्ध-दर्शन तथा अन्य दर्शन’, पृ० 375
24. महावस्तुअवदान II, पृ० 185
25. वही
26. ‘इमौ भिक्षवः द्वौः प्रव्रजितस्य अन्तौ एते च भिक्षवो उभौ
अन्तावनुपगम्य तथागतस्यार्यस्मिं धर्मविनये मध्यमा प्रतिपदा
प्रतिमदा अनुसंबुद्धा चक्षुकरणीया उपसमाये संवर्तनिका निर्विदाये
विरागाये निरोधाये श्रामण्याये संबोधाये निर्वाणाये संवर्तति ॥’
—वही, 3.331



प्राचीन भारत में स्त्रीधन-विमर्श और उसके प्रभेद

बबीता कुमारी *



-धन के विषय में मूर्धन्य शास्त्रकारों के बीच पूरी तरह से सहमति का भाव नहीं है। नवव्याहताओं के साथ घरेलू उपयोग में आनेवाली वस्तुओं की खेप वर के घर भेजे जाने का प्रचलन इस देश में सदियों से रहा है।

सायण के अनुसार वैदिक सन्दर्भों में प्रयुक्त होनेवाला 'वहतुः' शब्द उसी का भान कराता है। परन्तु लेन्मैन इसे एक तरह के विवाहरथ के रूप में पारिभाषित करते हैं। थोड़ी गहराई के साथ सोचें तो सायण का अर्थ ही ठीक लगता है क्योंकि इसकी सम्पुष्टि अन्य साक्ष्यों से भी हुआ करती है। मनु द्वारा भी यही संकेतित है कि वधू को घर-बार चलाने जिन सामग्रियों की खेप उसका पिता पहुँचाता था, उसे 'पारिणाह्य' कहा जाता था। नवव्याहताएँ इसकी देखभाल में प्रतिक्षण अपनी तत्परता दिखाती रहती थीं। टीकाकारों का भी यही कहना है कि इन तमाम सामग्रियों के उपयोग में वर-वधू साझीदार रहा करते थे। जैमिनी *तैत्तिरीयसंहिता* में दिए गए एक उद्धरण के आधार पर इस तथ्य को निरूपित करते हैं कि स्त्रियों के पास अपनी निजी सम्पत्ति हुआ करती थी। मेधातिथि ने मनु के आधार पर यही स्थापना गढ़ी है कि पत्नी द्वारा अर्जित जो कुछ भी है, वह पति का हो जाता है। इसका बिल्कुल ठीक-ठीक अर्थ निकाला जाए तो श्रुतिवाक्य झूठा सिद्ध हो जायेगा। मनु के कथन का सीधा अभिप्राय यही है कि स्त्रियाँ स्वामिनी तो हो सकती थीं, पर धन के व्यय में उनकी इच्छा-अनिच्छा का कोई मोल नहीं था। कई तरह के साक्ष्यों का यही निचोड़ है कि आरम्भिक काल में स्त्रियों के पास सम्पत्ति के नाम पर जो कुछ भी होता था, वह उन्हें विवाह के समय भेंट में अर्पित की गई वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ दूसरा नहीं था। इस दायरे में आभूषण और उत्तम कोटि का परिधान शामिल था। यह

बात भी अपनी जगह सही है कि घर के भीतर उपयोग में आनेवाली जितनी भी वस्तुएँ थीं, उनपर स्त्रियों का ही अधिकार हुआ करता था। कुछ समय बीतने पर स्मृतिकारों ने थोड़े-से परिवर्तन के साथ स्त्रियों के सम्पत्ति-अधिकार का समर्थन करना शुरू कर दिया। प्रारम्भिक धर्मसूत्रों में एक दूसरी ही बात सामने आती है। आपस्तम्ब पूर्वाचार्यों के मत से अलग जाकर इसी व्यवस्था को मान्य ठहराते हैं कि आभूषण हो या कोई दूसरी चीज, जिसे स्त्री के पिता या भाई द्वारा भेंट के तौर पर प्रदान की गई हो, तो उसपर उसी के अधिकार को छोड़ किसी और का मान्य नहीं हो सकता। बोधायन का मतव्य तो यह कि कन्याओं को अपनी माता का आभूषणादि प्राप्त तो होता ही है, इसके अतिरिक्त उन्हें पारम्परिक विधान के तहत कुछ और भी प्राप्त हो सकता है। वसिष्ठ का यह कहना है कि विवाह के समय माता को उसके परिजनों द्वारा जो कुछ भी अर्पित किया गया रहता है, वह सीधे पुत्रियों के अधिकार में चला जाता है। शंख की इस घोषणा से स्पष्ट हो जाता है कि विवाह के सभी प्रकारों में कन्याओं को आभूषण देकर विदा करने का नियम प्रभावी माना जाना चाहिये। मनु ने जिस पुरानी उक्ति को उद्धृत किया है, उसे ठीक-ठीक पारिभाषित करना कठिन है। परन्तु इसका अभिप्राय यही है कि धन के उपयोग एवं उसके व्यय को लेकर स्त्री सदा अपने पति पर ही निर्भर रहा करती थी।

कौटिल्य तक आते-आते स्त्री-धन का आधार पहले से कहीं अधिक व्यवस्थित होने लगा था। विवाहिताओं के गुजारे के निमित्त पति द्वारा देय धन पर उन्हीं का अधिकार होता था। यह बात भी अपने में विशेष महत्त्व रखती है कि आभूषण-जवाहरात इत्यादि के नाम पर स्त्री के पास जितना कुछ संचित रहता था, उसी से उसका स्वामित्व भी प्रकट हुआ करता था। कौटिल्य के कथन का सीधा अभिप्राय यही है कि स्त्रीधन वास्तव में दो तरह का होता था— 1. विवाह-काल में प्राप्त होनेवाला और 2. पुनः

* शोध-छात्रा, इतिहास-विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा (बिहार)

उसके बाद का दिया गया धन। महसूस करने की बात यह कि तथाकथित स्त्रीधन के भीतर मुख्य रूप से तीन विषय समाहित हैं— 1. स्त्रीधन क्या है, 2. स्त्रीधन पर स्त्री का अधिपत्य एवं 3. स्त्रीधन का उत्तराधिकार। इन तीनों ही विषय के बारे में भिन्न-भिन्न मत प्रकाश में आए हैं और सीधे तौर पर स्त्रीधन-संबंधी विवाद बड़ा ही उलझा है।

स्त्रीधन की इस परिभाषा के अतिरिक्त किसी अन्य धर्मशास्त्रकार ने कहीं कोई विस्तृत विचार नहीं दिया है। गौतम ने इससे संबंधित तीन सूत्रों का विधान भले ही किया हो, परन्तु इनकी विस्तृत विवेचना से वे सर्वथा अलग रहे हैं। कौटिल्य के कथन से हमारे निष्कर्ष कहीं अधिक स्पष्ट एवं तार्किक आधार को प्राप्त करते हैं। पत्नी को उसका पति गुजारे के नाम पर जितनी रकम अदा करता है, उसकी सीमा दो हजार पण से अधिक नहीं हो सकती। परन्तु आबध्य (आभूषणादि) के लिए कोई सीमा निर्धारित नहीं की जानी चाहिये। कात्यायन और व्यास की दृष्टि से एक स्त्री अपने माता-पिता, भाई एवं सगे-संबंधियों से स्त्री-धन के रूप में दो हजार पण तक का धन तो प्राप्त कर सकती है, मगर अचल सम्पत्ति का थोड़ा-सा भाग भी उसे नहीं दिया जा सकता। *स्मृतिचन्द्रिका* और *व्यवहारमयूख*-जैसे निबन्ध-ग्रन्थ इस व्यवस्था के हिमायती हैं कि स्त्री को दिए जानेवाले दो हजार पण की सीमा वार्षिक भेंट तक ही सीमित है। कदाचित् इसे एक ही बार चुका दिया जाए, तो फिर किसी तरह का प्रतिबन्ध लागू नहीं हो सकता और ऐसी स्थिति में स्त्री इससे भी अधिक रकम पाने की अधिकारिणी समझी जायेगी। उसे अचल सम्पत्ति का कुछ भाग भी दे दिया जाए, तो इसे अनुचित नहीं माना जा सकता।

चल-अचल सम्पत्ति पर स्त्री का अधिकार किन परिस्थितियों में मान्य हो सकता है, इसका कौटिल्य ने विशद विचार किया है। स्त्री-धन का वास्तविक अर्थ है स्त्री का सम्पत्ति। धर्मशास्त्रकारों ने इसका निहितार्थ उस धन से निकाला है जो विवाह के समय स्त्री को भिन्न-भिन्न तरीकों से प्राप्त हुआ करता था। धीरे-धीरे इसमें अपेक्षित विस्तार होते रहने की बातें भी कही गई हैं। स्त्री-धन की सबसे बड़ी विशेषता तो यही है कि गौतम से लेकर अब तक यह प्रथमतः उन्हीं में न्यस्त माना जाता रहा है। परन्तु सोचने की बात यही है कि स्त्री-धन की सर्वाधिक प्राचीन परिभाषा मनु के सिवाय किसी और की नहीं है। इस तरह विवाह के समय अग्नि को साक्षी मानकर दिया गया, विदाई के समय अर्पित और माता-पिता से प्राप्त— यही छः प्रकार का मुख्य स्त्री-धन है। मनु ने इसी सूची में एक और भी तरह का धन जोड़

दिया है जिसे 'अन्वाधेय' (बाद में मिलनेवाली भेंट) कहा जाता था। नारद, याज्ञवल्क्य और विष्णु की स्त्रीधन-संबंधी मान्यताएँ इसी से मेल खाती हैं।

स्मृतिकारों के बीच कात्यायन की पहचान एक ऐसे स्मृतिकार की रही है जिनका स्त्रीधन-संबंधी विचार सारगर्भित ही नहीं, बल्कि एक सीमा तक नारी-स्वातन्त्र्य का परिचायक भी कहा जा सकता है। मनु, याज्ञवल्क्य, नारद एवं विष्णु के कथन से असहमत न होते हुए भी कात्यायन ने स्त्री-धन के संबंध में अपनी निजी स्थापनाओं को गढ़ने का प्रयास किया है। संकेत इसी तरह के हैं कि विवाह के समय स्त्री को जितने तरह के भाण्ड (बरतन), भारवाही पशु, दुधारु गाय, आभूषण एवं दास-दासियों का अर्पण होता था, उन सबपर सीधा अधिकार उसे छोड़ किसी और का नहीं होता था। कात्यायन ने स्त्री-धन की जैसी परिभाषा गढ़ी है, वह निबन्धों और यहाँ तक कि दायभाग के लिए भी स्वीकार्य मानी गई है। *मिताक्षराभाष्य* अनुसार 'अध्यावहिनक' भेंट का वह प्रकार था जिसे कन्याओं को विदाई के समय अर्पित किया जाता था। परन्तु *दायभाग* एवं अन्य के विचार से इसके अंतर्गत उस भेंट की गणना होती थी जिसका अर्पण माता-पिता की ओर से होते रहने का रिवाज चला आ रहा था। चण्डेश्वर के *विवादरत्नाकर* से पता चलता है कि इस कोटि का धन वधू को उस समय प्राप्त होता था जब वह पिता के घर प्रस्थान कर रही होती थी। श्वसुर इस धन को उसे स्नेहवश प्रदान करता था। वाचस्पति के *विवादचिन्तामणि* से पता चलता है कि यह धन स्त्री को द्विरागमन के समय प्राप्त होता था। *दायभाग* में 'दोह्याभारण कर्मिणाम्' को दूसरे ढंग से समझाया गया है। गृह-निर्माताओं और स्वर्णकारों द्वारा स्त्री को धन इसलिए दिया जाता था कि वह अपने पति को नयी रचना के लिए प्रेरित करे। व्यास मानते हैं कि इस तरह का धन किसी स्त्री को इसलिए दिया जाता था कि पति के घर चले जाने के बाद उसकी अभिलाषाएँ पूरी हो जायें।

कौटिल्य के अतिरिक्त दूसरे स्मृतिकारों का भी यही कहना है कि वृत्ति (भरण-पोषण), आभूषण, शुल्क, ऋण-ब्याज ले-देकर स्त्री-धन ही कहा जाता था। स्त्री के पास इन तमाम चीजों के प्रच्छन्न भोग का अधिकार रहता था। कदाचित् पति के ऊपर कोई संकट खड़ा हो जाए, तो उसे भी इनके भोग की छूट दी जा सकती थी। स्त्री-धन के विषय में अबतक की यही धारणा है कि पति के उत्तराधिकारी भी उसका बँटवारा नहीं कर सकते। फिर भी यदि वे हठ पर उतारु हो जाएँ, तो इसे पापकृत्य से अलग कुछ और नहीं कहा जा सकता। कहीं-कहीं स्त्री-धन के लिए 'सौदायिक'— यह एक तरह का नवीन शब्द चल निकला था।

प्रकारान्तर से यह स्त्री-धन ही हुआ करता था। अधिकतर स्मृतिकारों का यही कहना है कि विवाहिता या अविवाहिता स्त्री को उसे पति, माता-पिता, एवं दूसरे संबंधियों से जो कुछ भी धन प्राप्त होता था, उसी के लिए यह शब्द प्रयुक्त किया जाता था। *दायभाग* की तरह अभिनव वाचस्पति के *विवादचिन्तामणि* में भी यही सिद्धान्त निरूपित हुआ है कि 'सौदायिक' के दायरे में यद्यपि अचल सम्पत्ति को सम्मिलित तो नहीं किया गया था; परन्तु इसके भीतर उन सभी तरह की सम्पत्तियों को अंतर्लून समझा जाता था जिन्हें स्त्री एक-एक करके अपने पति से प्राप्त करने में सफल होती थी। शास्त्रकारों की दृष्टि में यह व्यवस्था अपनी जगह से डिगी नहीं थी। पति के गुजर जाने के बाद स्त्री अचल सम्पत्ति का विघटन नहीं कर सकती थी।

कौटिल्य भारतीय-समाज के इस यथार्थ से हमें अवगत कराते हैं कि पति की मृत्यु के बाद जिस स्त्री में धर्मभाव से जीवन बिताने का संकल्प एक तरह का आकार ग्रहण कर ले, तो उसे पहले की रखी गई सम्पत्ति, आभूषण और दहेज के रूप में मिले हुए सामानों के भोग्याधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। स्त्री-स्वभाव का यथार्थपरक विवेचन करते हुए कौटिल्य ने यह ठीक ही कहा है कि संतान पाने की इच्छुक स्त्री यदि पुनर्विवाह कर लेती है, तो पहलेवाले पति के धन पर उसका अधिकार समाप्त माना जायेगा। परन्तु इसके लिए श्वसुर अर्थात् परिवार के मुखिया की सहमति को प्राप्त करना आवश्यक समझा गया था। संकेत यही है कि ऐसी स्त्रियाँ, जो श्वसुर की सहमति लिए बिना पुनर्विवाह कर लेती थीं, उन्हें पहले पति से प्राप्त धन को लौटाने के लिए बाध्य होना पड़ता था। कौटिल्य का यह सुझाव भी ठीक लगता है कि घरवालों की राय से स्त्री का विवाह कदाचित् अपने ही किसी सगे-संबंधी के साथ होता है, तो ऐसी स्थिति में उसे पहले पति का धन वापिस करने के लिए परिजन नियमतः बाध्य समझे जायेंगे। इस तरह दूसरे पति का वरण करनेवाली स्त्री (यदि सबकुछ विधान के अनुरूप हुआ हो) का धन उसके नये पति द्वारा सुरक्षित समझा जायेगा।

स्मृतियों में स्त्री-धन के संबंध में जिस तरह का विचार हुआ है, उसके मंथन से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आरम्भ में जहाँ इसके छः भेद थे, वे कुछ समय बाद नौ मान लिए गये थे। कात्यायन तक आते-आते स्त्री-धन के अंतर्गत चल-अचल— दोनों ही तरह की सम्पत्ति की गणना शुरू हो गई थी। इस तरह के धन को पारिभाषित करने के लिए टीकाकारों एवं निबन्धकारों ने लम्बा-चौड़ा वक्तव्य देने में किसी तरह की ढिलाई नहीं बरती है। *मिताक्षराभाष्य* के अनुसार किसी भी तरह

का धन स्त्री-धन हो सकता है। इसके स्रोत क्या रहे हैं, इसे लेकर कोई छानबीन नहीं की जा सकती। जीमूतवाहन के *दायभाग* में स्त्री-धन उसे कहा गया है जिसको दान में देने, विक्रय करने और साथ ही पति की रोकटोक से बाहर जाकर उसका प्रच्छन्न भोग करते रहने में स्त्री किसी के द्वारा बाधित नहीं की जाय। नारद की सटीक टिप्पणी तो यही है कि अचल सम्पत्ति को छोड़कर शेष जितने भी तरह के उद्यम हैं, उनसे प्राप्त होनेवाले धन-लाभ में स्त्री की हिस्सेदारी स्पष्ट दिखे तो इसे ही स्त्री-धन का दर्जा दिया जा सकता है। परन्तु इस पर भी गौर करने की आवश्यकता है कि उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होनेवाला धन, भेंट में दी गई वस्तु अथवा शिल्प-कर्म से उपार्जित धन में स्त्री का भाग किसी भी दृष्टि से जायज नहीं ठहराया जा सकता।

स्त्री-धन क्या है और इसपर स्त्री के अधिकार को किस नियम के तहत मान्य ठहराया जाए, यह इस बात पर निर्भर करता है कि सम्पत्ति का उद्गम अर्थात् उसका स्रोत क्या है? प्राप्ति के समय उसके (स्त्री) स्थिति क्या थी (वह कुमारी, सधवा या विधवा थी)? यह बात भी देखी जाती थी कि स्त्री के ऊपर किस तरह की परम्पराएँ और रीति-रिवाज हावी हैं। कात्यायन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सौदायिक धन पर केवल स्त्री का ही अधिकार बना रहता था। इसके दान-उपदान और विक्रय के संवैधानिक अधिकार से उसे वंचित नहीं किया जा सकता था। एक शब्द में कहें तो यह धन विपत्ति के निवारण से निमित्त ही स्त्री को उसी के सगे-संबंधियों द्वारा स्नेहवश दिया गया रहता था। इस कोटि के धन में चल-अचल सम्पत्ति समाविष्ट रहती थी। वैधव्य-जैसी दारुण विपत्ति को झेलनेवाली स्त्री अपनी मर्जी से इस धन का व्यय कर सकती थी।

कात्यायन ने यह बताया है कि पति पत्नी के धन के लिए प्रतिज्ञाबद्ध कुछ विशेष कारणों से हुआ करता था। वह मृत्यु को प्राप्त हो गई तो उसके द्वारा धारित ऋण को या तो पति और नहीं तो पुत्र चुकाने के लिए नैतिक दृष्टि से जिम्मेवार समझे जाते थे। परन्तु स्मृतिकारों की इस धारणा को लेकर भी हमें सोच-विचार करना होगा कि यह नियम उसी स्थिति में प्रभावी माना जाएगा जब विधवा पति के घर में ही शेष जीवन व्यतीत करने का संकल्प लेकर मायके की ओर रुख करने के अपने विचार का पूरी तरह से त्याग दे। *स्मृतिचन्द्रिका* और *व्यवहारप्रकाश*-जैसे निबन्धों का तो यहाँ तक कहना है कि पौत्रों एवं प्रपौत्रों को भी स्त्री-धन लौटाने के लिए आगे आना होगा। यह मामला भी बेहद संवेदनशील माना गया है कि स्त्री के चरित्र में विचल होने से स्त्री-धन का कोई दावा मान्य नहीं हो सकता।

विवादचिन्तामणि और व्यवहारप्रकाश में स्त्री के व्यभिचारिणी बन जाने पर उसे स्त्री-धन से वंचित कर देने में किसी तरह का दोष नहीं देखा गया है।

स्त्री-धन का उत्तराधिकार किसे प्राप्त हो, इसे लेकर वैचारिक मतभेद आज भी बना हुआ है। शास्त्रकारों का एक विशेष वर्ग यही मानता आया है कि स्त्री-धन का उत्तराधिकार सबसे पहले कन्याओं को मिल जाना चाहिये। इसका निहितार्थ यही निकालता है कि स्त्री-धन में पुत्रों की अपेक्षा पुत्रियों को अधिक प्राथमिकता दी जा रही थी। जैसे-जैसे समय बीता, वैसे-वैसे कतिपय लेखकों ने स्त्री-धन के कुछ प्रकारों में कन्याओं के साथ-साथ पुत्रों को भी सहभागी बनाने पर बल देना शुरू कर दिया था। इसका एक कारण तो स्त्रीधन में विस्तार है तो दूसरा यह कि कुछ लोगों के मन को यह नहीं भाया कि स्त्रियाँ विशाल सम्पत्ति की स्वामिनी बन उन्हें आँखें दिखायें। कहीं-कहीं लोकाचार एवं देशकाल का प्रभाव भी हावी होता हुआ नज़र आने लगा था। निबन्धों ने इसका खुलासा कर दिया है कि उनकी व्याख्याएँ लोकाचार से परे नहीं हैं।

कौटिल्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि दूसरे पति का वरण कर लेनेवाली स्त्री को न तो उसके पहले पति का धन मिला करता था और न उत्तराधिकार। इस तरह की वर्जना उसी स्त्री पर लागू थी जो बिना परिजनों की अनुमति के पुनर्विवाह करने का निर्णय लेती थी। अलबत्ता पुनर्विवाह से स्वयं को अलग रख देनेवाली स्त्री को सारे-के-सारे अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाते थे। समाज के भीतर यह नियम भी लागू था कि जिस स्त्री को पहले पति से पुत्र पैदा होने के बाद भी पुनर्विवाह करने का निर्णय लेने में किसी तरह का संकोच नहीं होता था, उसे स्त्री-धन से अलग कर दिया जाता था। परन्तु पहले पति से पैदा हुए पुत्र को सम्पत्ति-अधिकार से वंचित नहीं किए जाने का नियम प्रभावी समझा जाता था। कौटिल्य का यह कथन भी नियमानुकूल प्रतीत होता है कि एक से अधिक पुत्र के बाद भी स्त्री दूसरे पति का वरण करने से नहीं हिचके तो ऐसी स्थिति में उसके स्त्री-धन में अधिक वृद्धि की छूट दी जा सकती है। कुछ-कुछ संकेतित यही होता है कि इस तरह की व्यवस्था के जारी रहने से पुत्रियों की अपेक्षा पुत्रों को धन का अधिक भाग प्राप्त होने लगा था। शास्त्रकारों ने यह सुझाया है कि एक स्त्री कई पतियों का वरण कर सकती है। इसी कारण से उसके कई पुत्र भी हो सकते हैं। अब ऐसी स्थिति में उनके बीच जिस क्रम से पितृकर्म का बँटवारा हो, उसी के अनुसार स्त्रीधन का भी विभाजन किया जाना उचित कहा जा सकता है। कौटिल्य ने स्त्री को इतनी छूट अवश्य दी है

कि वह दूसरे पति का वरण करके भी चाहे तो अपने अधीन के स्त्री-धन को पुत्रों के बीच विभाजित कर सकती है। शास्त्रकारों ने यह कहने में किसी तरह की ढिलाई नहीं बरती है कि स्त्री को उसके पास उत्तराधिकारी के नाम पर न पुत्र हो और न पुत्री, तो पातिव्रत्य धर्म का पालन करके वह शेष जीवन किसी आश्रम में बिता सकती थी। ध्यान देने की बात यह है कि ऐसी स्थिति का सामना कर रही स्त्री को अपनी निजी सम्पत्ति से जीवन चलाने का अधिकार बना रहता था। एतदर्थ उसके विरुद्ध किसी तरह प्रतिबन्ध लागू नहीं किया जा सकता था। कौटिल्य ने अपनी मंशा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि सामान्य स्थिति में स्त्री के परिजन उसके धन का व्यय नहीं कर सकते थे। अलबत्ता परिवार के सामने जब कभी कोई गम्भीर संकट पैदा होता था, तभी स्त्रीधन का व्यय किया जा सकता था। मंतव्य यह कि स्त्री जो कुछ बचाकर अपने पास रखती थी, अंततः वही उसके जीवन का अवलम्ब बन करता था। यहाँ तक कि विपत्ति से परिजनों को उबारने में अंततः यही धन सहायक भी होता था। इस पूरे कथन का निचोड़ यही है कि स्त्री जबतक जीवित रहती, तबतक स्त्री-धन पर एकमात्र उसी का अधिकार होता था। उसकी मृत्यु के बाद ही दायद उसका अंश ग्रहण कर सकते थे। एक दूसरा विधान यह था कि पति के जीवित रहने पर स्त्री-धन उसके पुत्र-पुत्रियों के बीच विभाजित हो सकता था। कौटिल्य को देखने से यही लगता है कि स्त्री-धन के बँटवारे में पुत्रों को कहीं अधिक प्राथमिकता देने की बात उठाई जा रही थी। कदाचित् ये दोनों न हों तो स्त्री-धन पर केवल पति का अधिकार मान्य होगा— इस तरह की धारणा कौटिल्य ने व्यक्त की थी। किसी-किसी सन्दर्भ में यह विचार भी व्यक्त हुआ है कि पिता के घर जितना भी शुल्क स्त्री को प्राप्त हुआ है और इसके अतिरिक्त विवाह-काल में जितनी भी भेंट-सामग्रियाँ उसे हासिल हुई हैं, उन सबमें बान्धवों का अंश सुरक्षित रहा करता है।

स्त्री-धन में किसका कितना भाग मान्य होना चाहिये, इसे लेकर स्मृतिकारों का कोई एक तरह का विचार सामने नहीं आया है। यह प्रसंग अनेक सन्दर्भों में विवेचित होता रहा है कि स्त्री-धन में कुमारी कन्याओं को सर्वप्रथम और उसके बाद ऐसी विवाहिताओं को, जिनकी आर्थिक स्थिति ठीक-ठाक नहीं, उन्हें अधिक अंश दिया जा सकता है। मनु इस नियम का हवाला देते रहे हैं कि माता के नहीं रहने पर सहोदर भाइयों और बहनों के बीच आपस की मेल से धन का बँटवारा एक समान किया जा सकता है। स्नेहवश मातृधन का कुछ भाग पुत्रियों की पुत्री (दौहित्री) को भी दे दिया जाता है तो इसे अनुचित व्यवहार का

द्योतक नहीं का जा सकता। मनु ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि छः प्रकार का स्त्री-धन माता के मर जाने के बाद ही उसके पुत्र-पुत्रियों के बीच विभाजित होना चाहिये। टीकाकारों ने इसे कई तरह से पारिभाषित किया है। सर्वज्ञानारायण के अनुसार माता की सम्पत्ति का अर्थ है पारम्परिक आधार पर मान्य धन के अतिरिक्त कुछ दूसरे तरह की सम्पत्ति का बने रहना। बृहस्पति के मत से सहमत होते हुए यह कहा गया है कि सगे भाई और कुमारी बहनों को एकसाथ स्त्री-धन का उत्तराधिकार प्राप्त होता था जबकि विवाहिता बहनों केवल थोड़ा-सा भाग ही प्राप्त करने की अधिकारिणी समझी गयी थीं (कुल्लूक के मत से भाइयों का एक-चौथाई भाग)।⁴⁹ मनु द्वारा यह विधान भी अनुमोदित हुआ है कि ब्रह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य एवं गान्धर्व-वधि से व्याही जानेवाली स्त्री सन्तानहीन ही मर जाती है तो उसके पास स्त्री-धन के नाम पर जो कुछ भी है, उसपर माता-पिता का अधिकार मान्य हो जाता है।⁵⁰ याज्ञवल्क्य के अनुसार कन्याएँ माता का धन पाती हैं और उनके नहीं रहने पर ही पुत्रों का उसपर स्वत्व कायम हो सकता है। सामान्यतया स्त्री-धन पर पुत्रियों का ही अधिकार मान्य हुआ करता है; पर संततिविहीन की अवस्था में उसपर एकमात्र अधिकार पति को छोड़कर किसी और का नहीं हो सकता।⁵¹ नारद का मत कुछ लीक से हटकर है। वस्तुतः माता का धन तो पुत्रियों को ही मिलना चाहिये। कदाचित् ये बीच में ही मृत्यु को प्राप्त हो जाएँ, तो ये धन उन्हीं की सन्तान को दे दिया जाय तो यही व्यवहार ठीक माना जायेगा। शंख और लिखित का आह्वान यह है कि माता की सम्पत्ति सहोदर भाइयों एवं बहनों के बीच बराबर-बराबर विभाजित कर दिया जाना चाहिये। बृहस्पति स्त्री-धन के विभाजन में कुमारी कन्याओं को प्राथमिकता देने की बात करते हैं। विवाहिताएँ स्नेहवश ही कुछ पाने की अधिकारिणी समझी गई हैं। पराशर स्त्री-धन पर पहला अधिकार कुमारी कन्याओं का ही मानते हैं। परन्तु जहाँ ये नहीं हैं, ऐसे परिवार की विवाहिता कन्याओं और पुत्रों के बीच स्त्री-धन का एक बराबर हिस्सा बँट जाना चाहिए। देवल इस नियम के पक्ष में खड़े हैं कि स्त्री के मर जाने के बाद उसका स्त्री-धन पुत्र-पुत्रियों के बीच समान रूप से विभाजित किया जाए और इसमें किसी के भी नहीं रहने की स्थिति में ही क्रमशः पति, माता, भ्राता या पिता को प्रदान किया जा सकता है। स्त्री-धन के उत्तराधिकार के संबंध में कात्यायन का विचार अत्यन्त ही समीचीन कहा जायेगा। इसमें सधवा बहनों को भाइयों के साथ ही भाग मिलना चाहिये। स्त्री-धन के विभाजन में यह कानून विशेष रूप में प्रभावी कहा गया था। पुत्रियों के नहीं रहने पर ही पुत्र को स्त्री-धन का मालिक समझा जा सकता है। माता-पिता की रज़ामंदी से पुत्री को

चल-अचल सम्पत्ति का जितना भी भाग दिया जाता था, यदि वह सन्तानहीन होकर ही मर जाती थी तो उसपर किसी और का नहीं बल्कि भाई का अधिकार हुआ करता था।

धर्मशास्त्रों पर लिखी गई टीकाओं से इसी धारणा को बल मिलता है कि स्त्री-धन के कुछ विशेष तरह के प्रकारों में पुत्र की अपेक्षा पुत्रियों को ही अधिक महत्त्व दिया जा रहा था। पुरुष की सम्पत्ति एवं स्त्री के उत्तराधिकार के संबंध में जिस तरह का वैषम्य दिखता है, उसका कोई ठोस कारण हमें ज्ञात नहीं होता। अलबत्ता मिताक्षरा में इस यथार्थ का निरूपण हुआ है कि पुत्री में चूँकि माता का अंश अधिक रहता है, इसी नाते स्त्री-धन में उसे अधिक भाग पाने का अधिकार मान्य हो जाता है। इसका मूल कारण कदाचित् यह है कि पिता की सम्पत्ति में पुत्रों के रहते पुत्रियों को भाग पाने का अधिकार नहीं बनता था। ठीक इसी तरह माता के पास जो स्त्री-धन होता था उसमें पुत्रियों को छोड़ किसी और की हिस्सेदारी नहीं बनती थी।

कुमारी कन्या का अपनी माता की सम्पत्ति में जितना अधिकार बनता था, उसे लेकर मिताक्षरा एवं अन्य टीकाकारों-निबन्धकारों द्वारा प्रतिपादित मत में किसी तरह का विरोध नहीं है। बोधायन का अनुसरण करते हुए मिताक्षरा में इसका समर्थन किया गया है कि कन्या के मर जाने पर सबसे पहले उसी के सगे भाइयों को उसका धन मिला करता है, तत्पश्चात् माता और उसके बाद पिता एक-एक करके उसके मालिक बन पाते हैं। कहीं-कहीं पिता के नहीं रहने पर कन्या का धन उसी के निकटतम सपिण्ड को अर्पित कर देने की बातों का भी समर्थन किया जाता रहा है। याज्ञवल्क्य की दृष्टि में विवाह प्रतिश्रुत हो जाने के बाद यदि कन्या की मृत्यु हो जाए, तो उसके भाव वर को शुल्क या अन्य किस्म की भेंट को वापिस कर देने का नियम प्रभावी हो जाता है। किन्तु यह तभी मान्य होगा जब कन्या-कुल के व्यय एवं अपने व्यय को घटाकर जितनी राशि शेष बचती है, उसे ही आदान-प्रदान कर देने के लिए उभय पक्ष के बीच सहमति बन जाये।

मिताक्षरा में कुमारी कन्या का ही नहीं, अपितु बल्कि स्त्री-धन के और भी कई प्रकारों का कानून के दायरे में रहकर पूरे विस्तार के साथ विचार किया गया है। यह माना गया है कि विवाह के अनुमोदित ढंग से होने पर भी संतान के अभाव में स्त्री-धन क्रम से माता या पिता को प्राप्त हो सकता है। इन दोनों के नहीं रहने पर ही यह सपिण्डों को प्राप्त हो सकता था। अभिप्राय यह कि पिता के सपिण्डों के स्त्री के पति को तथा पति के अभाव में पति के सपिण्डों को यह धन प्राप्त हो सकता है।

भिन्न-भिन्न पुत्रियों से उत्पन्न पौत्रियाँ अपनी पितामही की सम्पत्ति सीधे रूप में पाती हैं तो उन्हें समवाय रूप में रिक्थ मिलता है। यह व्यवस्था भी मान्य रही है कि नीच जाति की स्त्री के संतानहीन मर जाने के बाद उसका स्त्री-धन उच्चतर जातिवाली सौत की पुत्री को प्राप्त हो सकता है। पुत्रियाँ न हों, तो ऐसी स्थिति में ही इसके पुत्रों का अधिकार मान्य समझा जायेगा।

धर्मशास्त्रों द्वारा की गई विस्तृत विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री-धन के उत्तराधिकार के संबंध में पुरुष-धन के उत्तराधिकार-संबंधी नियमों को लागू नहीं किया जा सकता था। कोई भी व्यक्ति सम्पत्ति छोड़कर मर जाए, तो उसी के पुत्र एवं पौत्र एकसाथ उत्तराधिकारी घोषित किए जाते हैं। यहाँ पुत्र ही अपने पिता का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु स्त्री-धन के साथ दूसरा ही नियम लागू होता है। स्त्री के मर जाने के बाद उसका एक ही पुत्र और एक ही पौत्र हो तो पुत्र को ही पूरा-का-पूरा स्त्री-धन मिला करता है जबकि पौत्र को नियमतः कुछ भी प्राप्त नहीं होता।

दायभाग व्यभिचारिणी पुत्री को किसी भी तरह का सम्पत्ति-संबंधी अधिकार सौंपे जाने का समर्थन नहीं करता। परन्तु मिताक्षरा को देखने से यही लगता है कि रखैल, वेश्या या व्यभिचारिणी घोषित कर दी गई पुत्री को भी उस स्थिति में उत्तराधिकार सौंपा जा सकता है जब उसके सिवाय संतान के नाम पर किसी दम्पति के पास न पुत्र है और न पुत्री।

सन्दर्भ :

1. हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज़, भाग-8, पृ० 753
2. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ० 937
3. मनुस्मृति, अध्याय 9, पृ० 11
4. मनुस्मृति 8.416 पर मेधातिथि का भाष्य
5. आपस्तम्बधर्मसूत्र, 2.06.14.9
6. बोधायनधर्मसूत्र, 2.2.3.43
7. वसिष्ठधर्मसूत्र, 17.46
8. संस्कारप्रकाश, पृ० 851
9. मनुस्मृति, 8.416
10. कौटिल्य अर्थशास्त्र (कौ०अ०), 3.2.14, रघुनाथ सिंह, कौटिल्य अर्थशास्त्र का हिंदी-अनुवाद, भाग-1, पृ० 583
11. 'इत्यतिगहनमुक्त प्रजः स्त्रीधनम्'— दायभाग, 4.3.42
12. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ० 938
13. कौ०अ०, 3.2.16-18
14. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ० 938
15. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, संजीव नयन झा, 'प्राचीन भारत में व्यवहार-निरूपण, अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, दरभंगा, 2002, पृ०

76-77

16. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ० 938
17. मनुस्मृति, 9.194
18. वही, 4.195
19. नारद-दायभाग, पृ० 8
20. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.143-144
21. विष्णुधर्मसूत्र 17.18
22. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ० 939
23. मनुस्मृति, 9.200
24. स्मृतिचन्द्रिका, 2, पृ० 282; विवादरत्नाकर, पृ० 511
25. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ० 940
26. कौ०अ०, 3.25
27. वही, 3.2.26-27
28. वही, 3.2.29
29. वही, 3.2.30
30. वही, 3.2.31
31. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ० 941
32. नारदस्मृति, 4.28; 13.8
33. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ० 942
34. कात्यायनस्मृति, 916
35. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ० 943
36. वही
37. कौ०अ०, 3.2.32-33
38. वही, 3.2.34-35
39. वही, 3.2.36
40. वही, 3.2.37
41. वही, 3.2.38
42. वही, 3.2.39
43. वही, 3.2.40
44. वही, 3.2.41
45. वही, 3.2.44
46. वही, 3.2.45
47. मनुस्मृति, 4.192-193
48. वही, 4.195
49. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ० 943
50. मनुस्मृति, 4.196-197
51. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.144-146
52. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ० 944
53. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.117
54. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ० 945
55. याज्ञवल्क्यस्मृति, 2.146
56. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-2, पृ० 945
57. वही
58. वही, पृ० 945-946



समुद्रगुप्त के इलाहाबाद-स्तम्भलेख में वर्णित नागदत्त की पहचान

डॉ० ओमप्रकाश लाल श्रीवास्तव *



समुद्रगुप्त के इलाहाबाद प्रस्तर स्तम्भलेख में आर्यावर्त की विजय के सन्दर्भ में वर्णित है कि उसने रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्रवर्मन, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत, नन्दिन, बलवर्मन आदि आर्यावर्त के अनेक शासकों का उन्मूलन कर दिया था—¹

**‘रुद्रदेवमतिलनागदत्तचन्द्रवर्मगणपतिनागनागसेनाच्युतनन्दि
बलवर्मा-घनेकार्यावर्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्त प्रभावमहतः ।’**

उल्लेखनीय है कि आर्यावर्त के शासकों के सन्दर्भ में उनके स्थान-विशेष के बारे में अभिलेख में कोई सूचना प्राप्त नहीं होती, जबकि दक्षिणापथ के शासकों के सन्दर्भ में उनके स्थानों का भी उल्लेख किया गया है—²

**‘कोसलकमहेन्द्र महाकान्तारक व्याघ्रराज कौरालकमण्टराज पैष्ठपुरक
महेन्द्रगिरि कौटूरक स्वाभिदत्तैरण्डपल्लकदमन काञ्चेयक-
विष्णुगोपावमुक्तकनीलराज वैङ्गेयकहस्तिवर्म पालकोग्रसेन
दैवराष्ट्रककुबेर कौस्थलपुरक धनञ्जय प्रभृति सर्वदक्षिणापथराज.. ।’**
(चित्र-1)।

अतः दक्षिणापथ के राजाओं के सन्दर्भ में उनकी भौगोलिक स्थिति का वर्णन होने के कारण उनकी पहचान अपेक्षाकृत अधिक सहज है, किन्तु आर्यावर्त के शासकों के सन्दर्भ में उनके राज्यों एवं उनकी भौगोलिक स्थिति का उल्लेख न होने के कारण प्रायः इतिहासकारों ने अनेक क्लिष्ट कल्पनाएँ की हैं। आर्यावर्त के शासकों द्वारा शासित भौगोलिक क्षेत्र की पहचान के लिए अन्य साधनों, यथा— सिक्के, मुद्रा, मुद्राङ्क अथवा साहित्यिक साक्ष्यों का सहारा लेना पड़ता है।

जहाँ तक आर्यावर्त के शासकों में ‘नागदत्त’ की पहचान की बात है, उल्लेख्य है कि कौशाम्बी से ‘नागदत्त’ नामांकित एक मृण्मुद्रा प्राप्त हुई है, जिसपर शंख और नाग का अंकन है तथा ब्राह्मी लिपि में लेख **‘नागदत्त’** दायें से बायें उत्कीर्ण है³ (चित्र-2)। मुद्रा-लेख की लिपि लगभग चौथी शताब्दी ई० की है और समुद्रगुप्त का अभिलेख भी इसी काल का है। अतः समुद्रगुप्त के अभिलेख में वर्णित ‘नागदत्त’ की पहचान कौशाम्बी से प्राप्त मृण्मुद्रा के नागदत्त से की जा सकती है। ऐसी स्थिति में मुद्रा-प्राप्तिस्थल के आधार पर ‘नागदत्त’ को कौशाम्बी का शासक स्वीकार किया जा सकता है।

इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि कौशाम्बी से **‘(श्री) रुद्र’** नामांकित एक ताम्र-सिका पाया गया है जो वर्तमान में राज्य संग्रहालय (लखनऊ) में सुरक्षित है। इसके पुरोभाग पर ब्राह्मी लिपि में **‘(श्री) रुद्र’** लेख है तथा पृष्ठभाग पर नन्दी के साथ शिव का अङ्कन है⁴ (चित्र-3)। इस सिक्के के **‘श्रीरुद्र’** की पहचान समुद्रगुप्त के अभिलेख में वर्णित ‘रुद्रदेव’ से की गई थी और सिक्के की प्राप्ति-स्थल के आधार पर रुद्रदेव को कौशाम्बी का शासक माना गया था।⁵

कौशाम्बी से प्राप्त एवं राज्य संग्रहालय (लखनऊ) में सुरक्षित **‘(श्री) रुद्र’** नामांकित इस सिक्के से समुद्रगुप्त के अभिलेख में वर्णित ‘रुद्रदेव’ की कौशाम्बी के शासक के रूप में पहचान किए जाने के सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि बनावट के आधार पर यह सिका कौशाम्बी का सिका प्रतीत नहीं होता। उसके पृष्ठभाग पर नन्दी के साथ शिव का जो अङ्कन है, वह हरियाणा में प्राप्त होनेवाले ‘कोत’ सिक्कों (चित्र-4) के पृष्ठभाग से मिलता-जुलता है। इसी प्रकार ‘श्रीरुद्र’ के सिक्के पर जो मणिमाला (dotted circle) प्रदर्शित है, वही कोत-सिक्कों पर भी प्राप्त होती है। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेख्य है कि सुनेत (लुधियाना,

* पूर्व रजिस्ट्रीकरण-अधिकारी, पुरावशेष एवं बहुमूल्यकलाकृति, 12-बी, पी.सी. बनर्जी मार्ग, एलनगंज, इलाहाबाद (उ०प्र०), सचलभाषा :

09389922362, ई-मेल : sgeography@gmail.com

पंजाब) से 'श्रीरुद्रस्य' नामांकित एक मृण्मुद्राङ्क (चित्र-5) प्राप्त हुआ है,⁶ जिसकी लिपि विवेच्य '(श्री)रुद्र' नामांकित सिक्के से पर्याप्त सादृश्य रखती है। इससे यह सम्भावना और अधिक प्रबल हो जाती है कि राज्य संग्रहालय (लखनऊ) में सुरक्षित '(श्री)रुद्र' लेखयुक्त सिक्का कौशाम्बी का न होकर पश्चिमी क्षेत्र अर्थात् हरियाणा-पंजाब से संबंधित है।

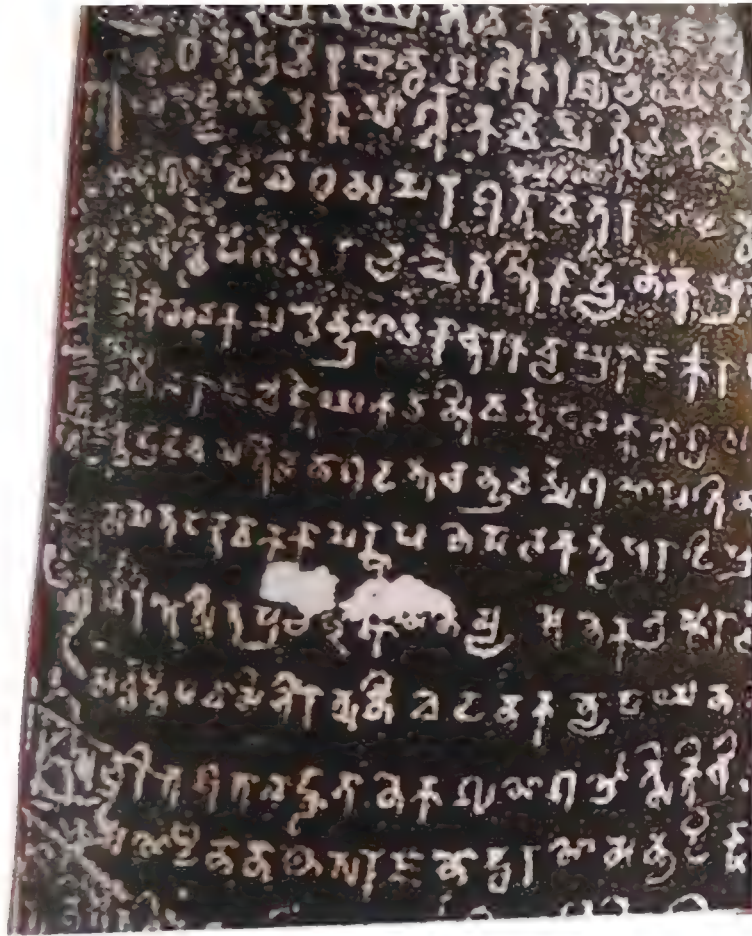
प्रो० के०डी० बाजपेयी ने झूँसी से 'रुद्रदेव' की मुद्रा के मिलने का उल्लेख किया है⁷, किन्तु उन्होंने मुद्रा पर उत्कीर्ण अक्षरों एवं उनकी निर्माण-शैली तथा प्रतीक-चिह्नों आदि के सन्दर्भ में कोई सूचना नहीं दी है। अतः रुद्रदेव के मुद्रा की सूचनामात्र के आधार पर किसी प्रकार का निष्कर्ष निकालना कल्पनाजन्य ही अधिक प्रतीत होता है।

सिक्कों एवं मुद्राङ्कों के सन्दर्भ में विचारणीय है कि ऐसे साक्ष्य व्यापार अथवा अन्य कारणों से दूर-दूर तक हस्तान्तरित होते रहते हैं, किन्तु मुद्रा सामान्यतया अपने मूल स्थान पर ही रहती है। इस आलोक में कौशाम्बी से नागदत्त शासक की मुद्रा-प्राप्ति के आधार पर यह अनुमान अधिक संभाव्य है कि 'नागदत्त' कौशाम्बी का ही शासक था।

सन्दर्भ :

1. सरकार, डी०सी०, : 'सलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स', ज़िल्द 1 (1942), पृ० 257.
2. वही, पृ० 257-258.
3. दैवकरणि, विरजानन्द : 'भारत के प्राचीन मुद्राङ्क', 2010, नं० 232
4. नागर, एम्०एम्० : 'सम् न्यू एण्ड रेयर क्वायन्स फ्रॉम कौशाम्बी (क्वायन ऑफ़ श्रीरुद्र)', ज़र्नल ऑफ़ न्यूमिस्मैटिक सोसायटी ऑफ़ इण्डिया, ज़िल्द 11, पृ० 13-14, फलक 3, 6
5. वही
6. सरस्वती, ओमानन्द; 'हरियाणे के प्राचीन मुद्राङ्क', झज्जर, संवत् 2031, नं० 145; शास्त्री, योगानन्द; 'प्राचीन भारत में यौधेय गणराज्य', नयी दिल्ली, 1999, पृ० 134-315, चित्र सं० 19
7. बाजपेयी, के०डी० : 'फ्रेश लाइट ऑन द पोस्ट अशोकन हिस्ट्री ऑफ़ कौशाम्बी', 'ज़र्नल ऑफ़ न्यूमिस्मैटिक सोसायटी ऑफ़ इण्डिया', ज़िल्द 26, पृ० 6

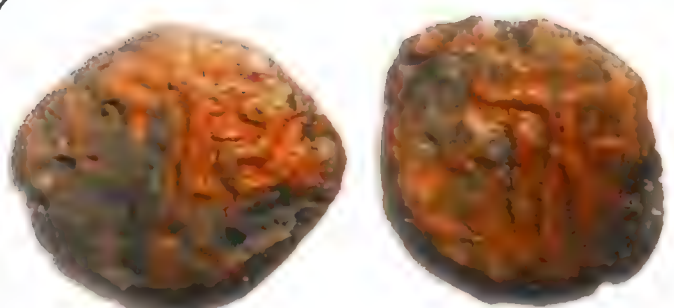




चित्र सं० 1



चित्र सं० 2



चित्र सं० 3



चित्र सं० 4



भृमर

चित्र सं० 5

Gwalior Jaina Inscriptions of the time of Kīrtisimha: V.S. 1525

Prof. Arvind Kumar Singh *



he inscriptions under discussion are engraved on the rocks and pedestals of Jaina images at Gwalior fort (26°13', 78°12'), which is famous for its impregnable condition, water management, art, culture, trade, military activities, and remains of numerous temples and sculptures as well inscriptional and literary references signify its importance as a *tirtha*. The rock cut Jaina reliefs, caves and sculptures distributed all around the hill of Gwalior eminently confirm the hallowed status of Gwalior. In general, they are divided in five groups: Urvāhī, south-western, north-western, north-eastern, and south-eastern.¹ In general, they are built or excavated during the Tomara rule, by and large from the time of Vikramadeva to the times of Kīrtisimha. It is not possible to discuss hundreds of Jaina inscriptions of fort here, so the concentration is on fifteen inscriptions of the particular year (VS 1525), of the time of Tomar ruler Kīrtisimha that are engraved in the south-eastern group of Jaina caves.

The south-eastern group occupies the eastern face of the cliff. The caves are locally identified as those belonging to '*Eka-patthara-kī-bāvaḍī*'. They are distributed along the whole face of the cliff covering a distance of a kilometre from the natural spring well (*Bāvaḍī*) on the south up to the northern end containing the Gaṁgūlā Tāla, on the top. The total number of caves with their religious characteristic feature of architecture and sculptures are pointed out as 26. Most of the inscriptions of this group are dated from VS 1525 to 1530 which indicates the intense speed by which the work was done.

Kīrtisimha (1459-1480 C.E.) was a famous Tomar ruler mentioned in inscriptions as *mahārājādhirāja* and his kingdom is referred to as *vijayarājya*, 'a victorious kingdom' which he had been able to establish (*pratiṣṭhāpaka*). Interestingly, in one of the inscription (no. IX) his title is mentioned *mahārājādhirāja Śrī Hindū Suratrāṇa* indicating investiture on him of the title of the "Sultāna". This is significant in view of the fact that this title was exclusive to the rulers of the major contemporary ruling houses of Delhi, Malwa, Jaunpur, etc. It seems that during his reign when rivalry and war ensured between Jaunpur and Delhi, Gwalior remained neutral. He was apparently in a position to launch on diplomatic moves because of his good standing with Jaunpur and Malawa which eventually had successfully reduced threat from Delhi. Thus, his reign was safe from attacks from all sides and this situation developed only after he had been successful in warding off the attack by Sultana Hussain Shah of Jaunpur in 1466-'67 CE²

The inscriptions under discussion are important as they record the family of worshippers and tradition of the *bhaṭṭārakas*³ who appreciably participated in the progress of Jainism. In the medieval period, *bhaṭṭāraka* tradition was associated with the Vaiḥārīka tradition of Jainism. Indranandī in his *Nītisāra* expresses the merit of *bhaṭṭāraka* as "*sarvaśāstra-kalābhijñā nānā-gachchhābhivar ddhakaḥ / mahāmanāḥ prabhābhāvi bhaṭṭāraka itīśyate //*". In fact the term *bhaṭṭāraka* was used for an absolute position in Vaiḥārīka tradition that was governed by teacher-disciple relationship. This tradition was universal in both the sects- Śvetāmbara and Digambara. The earliest references of the *bhaṭṭāraka* tradition go back to ninth century CE. It seems that in the beginning there was a Mūla-saṁgha

* Professor & head, Deptt. of Ancient Indian History, Culture and Archaeology, Jiwaji University, Gwalior-474 011 (M.P.); e-mail: aks_archju@yahoo.co.in

from which different *bhaṭṭāraka-piṭhas* were originated owing to the differences in due course of time. It is recorded in the *Nitisāra* that Śvetapaṭagaccha was emerged from Mūla-saṃgha in the beginning, and then Kāṣṭhā-saṃgha, Yāpanīya-saṃgha Sena-saṃgha, Nandī-saṃgha, Simha-saṃgha and Deva-saṃgha appeared correspondingly.⁴ It is also believed that the Gaṇadhara tradition of Tīrthāṅkara Mahāvīra played a vital role in the beginning of *bhaṭṭāraka* tradition of medieval period. Possibly, due to this reason the main *bhaṭṭāraka* tradition introduced itself with the word *gaṇa*, such as Balātkāra-gaṇa, Sena-gaṇa, Lāṭa-Bāgaḍa-gaṇa.

The life style of *bhaṭṭāraka* in Jaina society was entirely different from those of the *Śramaṇa-munis*. The *bhaṭṭārakas* were religious sovereign, called Rājaguru, constructed and lived in monasteries and temples, received lands in gifts, maintained agriculture, and administered a comfortable life like a king, used palanquin (*pālakī*), *Gādī*, umbrella (*chhatra*), whisk (*chāmara*) as well gold and silver in garments. Their *paṭṭābhīṣeka* ritual was celebrated superbly like *rājyābhīṣeka* ceremony. Moreover, they were managing different *tīrthas*, show miracles and carried out religious tour in different parts of the country. Relation between different *bhaṭṭāraka* traditions was convivial. Contemporary rulers were influenced by their knowledge and virtues and provided patronage them.

The significant work of the *bhaṭṭāraka* was to establish temple, inaugurate and install images and associated with the writing, copying and preserving the Jaina literature. The *bhaṭṭāraka* tradition played a significant role in the medieval history of Jainism, not only in the unification of Jaina community but also in the preservation and development of Jaina religion, art and culture. Gwalior region encounters the consequence of *bhaṭṭāraka* tradition from tenth century CE. Of the different *bhaṭṭāraka* traditions, Kāṣṭhā-saṃgha and Balātkāra-gaṇa were more influential in the region. In the inscriptional evidence Kāṣṭhā-saṃgha is found mention for the first time in the Dubkund stone inscription of VS 1152, which refers the installation of Carāṇa-pādukā of Mahācārya-varya Devasena.⁵ The earlier historical reference for Māthura-gaccha is found in the books of *ācārya* Amitagati (Saṃvat 1050-73). Their teacher-disciple relationship was in the form of Devasena-Amitagati-Nemiseṇa-Mādhavasena and Amitagati. Other ancient *ācārya* of this *gaccha* was Amarakīrti

(Saṃvat 1144-47). His tradition was in the form of Śāntiṣeṇa-Amarasena-Śrīṣeṇa-Caṇḍrakīrti and Amarakīrti. Third *ācārya* was Chatrasena (saṃvat 1166), fourth Guṇabhadra (Saṃvat 1226) and fifth was the disciple of Dharmakīrti named Lalitakīrti (Saṃvat 1234). The medieval Māthura-gaccha tradition was initiated by *ācārya* Mādhavasena. His two disciples Uddharasena and Vijayasena started two different traditions. Of them, Uddharasena was followed by Devasena, Vimalasena, Dharmakīrti, Bhāvasena, Sahasrakīrti, Guṇakīrti, Yaśaḥkīrti, Malayakīrti, Guṇabhadra, and others, while Vijayasena was followed by Nayasena, Śreyāṃsasena, Anantakīrti, Kamalakīrti, Kshemakīrti, Hemakīrti, Kamalakīrti, Kumārasena, Śubhachandra, Hemachandra, Yaśaḥsena and others.⁶ Of the *paṭṭāvalī* of Kāṣṭhā-saṃgha and Māthura-gaccha, the influence of *bhaṭṭāraka* Guṇakīrti of Uddharasena tradition is witnessed in Gwalior. Several Jaina images of Gwalior were installed and Jaina literature was written by him. His follower Yaśaḥkīrti was a disciple for a long time and was *paṭṭāsīna* mostly for seven years, contributed a lot. Other *bhaṭṭāraka* tradition of Gwalior was Balātkāra-gaṇa, the earlier references of which are known from Karnataka. Later on Kumḍakumḍa-anvaya was related with it. The ancient *bhaṭṭāraka* of its north Indian branch might be Basantakīrti. He was followed respectively by Viśalakīrti, Śubhakīrti, Dharma, Ratnakīrti, Prabhā, and Padmanandī. Three disciple of Padmanandī established three different *bhaṭṭāraka* traditions. Of them, Śubha initiated the Delhi-Jaipur branch, which is related to Gwalior. After him, Jīna, Prabhākīrti, Devendrakīrti and Narendrakīrti in that order became *bhaṭṭāraka*. Apart from *bhaṭṭārakas*, Paṭṭita Raidhū was a great scholar of Gwalior, installed several images and composed numerous literary works.⁷

The language of the inscriptions is Sanskrit and the script is Nāgarī. In general, the spots for writing the inscriptions are cut in deep and made smooth, however, at some places it is written over the rough chiselled surface.

I. Pārśvanātha Image Pedestal Inscription

The inscription is engraved on the pedestal of Pārśvanātha image in cave no. 1.⁸ Several letters of line 1 and some of the letters of other lines are now worn out. As for the palaeographic peculiarities, the sign for medial *ū* in *Paharū* (l. 3) is attached to the right middle of the letter in curve joined with rightward hook form, as in developed forms.

Interestingly, some words are written in full form but in recurrence its abbreviated form are used, such as *bha* for *bhaṭṭāraka* (l. 1), *saṁ* for *saṁghādhīpati* (l. 3), *pu* for *putra* (l. 4), and *dvi* for *dvitīya* (l. 3). The date of the inscription is mentioned in line 1 as *saṁvat* 1525 *varṣe* Caitra *sudī* 7 Wednesday which correspond to 30 March 1468 C.E.

It refers to *bhaṭṭāraka* Śrī Prabhādeva of Mūlasaṁgha, Kumḍakumḍa-anvaya, Sarasvatī-gaccha, and Balātkāra-gaṇa and his *bhaṭṭāraka* tradition. He was followed by Śrī Padmanandī whose disciple was Śrī Śubha, who was followed by Śrī Jīṇa. An image of Pārśvanātha was installed from his inspiration, in the reign of Tomar ruler Kīrtisimha. The installation and adoration of the image was done for the welfare of sovereignty, family members and others by Maṁḍī and his family members including wife, son and daughter, who had affinity with famous Ikshvāku clan, Ḍāmāra, and Gūlārāḍa. Some of the names of family members are now broken out. Saṁghādhīpatis Māṇika, Aśvapati, Kusarāja, and Jūji were the son of mother Muhārāsī while the name of father is not readable. Of these, *saṁghādhīpati* Māṇika married with Laṣaṇāsī had four sons, *saṁghādhīpati* Vanū, Harasimha, Paharū, and Kumuda. His son, *saṁghādhīpati* Vanū married with two wives Hulū and Vijayaśrī, while Harisimha married with Manaśrī and Śivaśrī, Paharū with Miraśrī, and Kumuda with Manaśrī. The name of the mother and wife of Mādhava is Dhinamā and Lāḍamaśrī respectively. His elder son Uddharaṇa married with Māṇikyaśrī and younger Dīva with Śīmaśrī. Kusarāja had two wives Lūhava and Vīrā, a son Vuddhasena, and a daughter Haramā. Jūji with wife Raisī had sons Maūḍena and Śrī Kuvarā. Maūḍe was married with Ratnaśrī. It is also recorded that the worship of Pārśvanātha brings peace, health, welfare, prosperity, longevity, social welfare and achievements of wealth, family, etc. At the end the name of Paṇḍita Haripāla is engraved, who might be the writer of the inscription as well as sculptor of the image.

TEXT

(Plate 1)

1.सिद्धेभ्यः ॥ श्रीमत्परमगंभीरांस्यो सदाभोधयस्यानं ।.....
जिनशासने ॥२॥ स्वस्ति ॥ संवत् 1225 वर्षे चैत्र सुदि (7
बुधवारस्यती) मूलसंधे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे ।
श्रीकुंदकुंदाचार्यान्वये ॥ भट्टारक श्रीप्रभाचंद्रदेवः ॥ तत्पट्टे
भट्टारक श्रीपद्मनन्दिदेवा भ. शुभचंद्रदेवाः ॥

2. स्य तत्पट्टे भट्टारक श्रीजिणचंद्र यतीश्वरायः.....क
श्रीसिंहकीर्ति शुधी वराः ॥ तेषामुपदेशात् ॥ श्रीगोपाचल
महादुर्गे श्रीतोमरान्वये ॥ महाराजाधिराज
श्रीकीर्तिसिंहविजयराज्ये । भव्यां डामारे लब्धप्रतिष्ठां
श्रीइक्ष्वाकुवंशोद्भवाः । गोलाराडेति संज्ञका । संघाधिपतयः ॥ श्री॥
3.भार्या मुहराश्री तत्पुत्राः सं. माणिक सं. अश्वपति सं.
कुसराज । सं. जोजि ॥ सं. माणिक भार्या लषणश्री तत्पुत्राः सं.
वनू । हरसिंध । पहरू । कुमुद ॥ वनू भार्या हुलो द्वि. विजयश्री
॥ हरसिंध भार्या मनश्री श्रीत्वा सिवश्री । पहरू भार्यास्य
मीरश्री । कुमुदचंद्र भार्यासुत्यौ मनश्री । पुत्र ॥
4.वि भार्या । धिनमा पुत्र माधव भार्या लोडमश्री पुत्र ।
उद्धरण भार्या माणिक्यश्री द्वितीयत्रास्य देवचंद्र भार्या । षेमश्री ।
कुसराज भार्यो लोहव द्वितीय भार्या वीरा पु. बुद्धसेण । पुत्री
हरमा ॥ जोजि भार्या रइसी पु. मंडेन श्री कुवरा ॥ मंडे भार्या
रत्नश्री ॥ संघस्वे अतश्चीर्नमो ॥ एतेषां मध्ये संघाधिपतयः ॥
5.भूपतयः स्ववंधु निजपुत्रपौत्रौसह श्रीपार्श्वतीर्थेश्वरं नित्यं
विशुद्ध्यां प्रणमति ॥ श्रीशांतिरस्तु शिवमस्तु जयोस्तु
नित्यमारोग्यनम्रतयपुष्टिसमृद्धिरस्तु । कल्याणमस्तु सुखमस्तु
किमूदिरस्तु दीर्घायुरस्तु कुलगोत्रधनसुखस्तु ॥ इति
श्रीराजवर्ध्मभवंतु प्रजाः सुखिनो भवंतु । तस्यो वर्द्धतां ॥ श्री ॥
6. पंडित हरिपाल

II. Rock Inscription

This inscription is engraved on the rock to the left of the Pārśvanātha image of the cave no. 1.⁹ Since, the proper attention is not given for writing the inscription some of the letters are not obvious. The date of the inscription is mentioned in lines 1-2 as *saṁvat* 1525 Caitra *sudī* 15 Thursday that corresponds to 7th April, 1468 CE.

It records the installation of image for the social welfare by *sādhu* Kānū, son of Rasāladāsa, and grandson of *sādhu* Laṣana and his wife Laṣanāsī who belonged to Gūlārāḍa-anvaya and the *bhaṭṭāraka* was Simhakīrti.

TEXT

(Plate 2)

1. संवत् 1525 वर्षे चैत्र सुदि
2. 15 गुरौ । श्रीमूलसंधे भट्टारक
3. सीधकीर्तिदेव गोलाराडान्वये
4. सा लषनेक भार्या लषनाश्री पु
5. त्र रसालदास भार्या.....

6. पुत्र तेषां सा कानू लोकस्वंहारे

7. करापितं नित्यं प्रनमति

III. Rock Inscription

This inscription is engraved on the rock to the side of the above inscription no. B.¹⁰ It is also written carelessly. The date of the inscription is mentioned in line 1 as *saṃvat* 1525 Caitra *sudi* 15 that corresponds to 7 April 1468 CE

It records the *bhaṭṭāraka* Simhakīrti of Mūlasaṃgha and the daily worship of the image by Mānadeva. The family of Mānadeva belonged to Gollārāḍa-anvya. In the family, Sādhu Bhaupāra was married with Dharaśrī had son *sādhu* Sopāra, who with wife Rāsā had son Trailokadāsa. He with wife Haradevī had son Premadhara. The names of the father and mother of Mānadeva are given as Rodha and Kāneivarā.

TEXT (Plate 3)

1. संवत् 1525 वर्षे चैत्र सुदि 15
2. श्रीमूलसंघे भट्टारक सीध-
3. कीर्तिदिव गोल्लाराडन्वये
4. सा भौपार भार्या धरश्री पुत्र
5. सा सेपार भार्या रासा पुत्रेन
6. त्रैलोकदास भार्या हरदेवी पु-
7. त्रेन । प्रेमधर तेषां रोघ भार्या
8. कानइवरा पुत्रेन मानदेव
9. प्रणमते नित्यम् नमस्यौ

IV. Rock Inscription

This inscription is engraved on the rock to the right of the Pārśvanātha image of the cave no. 1¹¹. The date of the inscription is mentioned in lines 1-2 as *saṃvat* 1525 Caitra *sudi* 15 Thursday that corresponds to 7 April 1468 CE.

It mentions Malayakīrti of Kāṣṭhāsaṃgha and Mahātho of *bhaṭṭāraka* Guṇakīrti-āmnāya and Jaisavāla-anvaya along with his wife Somā, five sons and other persons. The purport of the inscription is not clear due to the mutilation in last five lines.

TEXT (Plate 4)

1. संवत् 1525 वर्षे चैत्र सुदि 15
2. गुरौ श्रीकाष्ठासंघे स. म-
3. लयकीर्ति भट्टारक गु-

4. णभद्रदेवाम्नाये जैसवा-

5. लान्वये । सा महाथो भा-

6. र्या सोमा पुत्र 5 आ. सारं-

7. ग विलुचन चंदश्री कयुर

8. सिहू । सा सारंग भार्या लशो

9. पुत्र सा माला भार्या चंदपालो

10. सा चंद

11.सा भाक भार्या भग

12. पुत्र काके..... प्रियद

13. वी सा राज दिवदासा.....

14.श्री पुण्यामुनिसं ॥ श्रीयं

V. Rock Inscription

This inscription is engraved on the rock to the side of the above inscription no. IV. Some of the letters of lines 6-7 are not comprehensible. The date of the inscription is mentioned in lines 1-2 as *saṃvat* 1525 Caitra *sudi* 15 Thursday that corresponds to 07th April, 1468 CE. It records the construction work and daily worship by Kālāsita and others of Gūlārāḍa-anvaya and Jaisavāla family as well as mentions *sādhu* Malayakīrti of Kāṣṭhāsaṃgha.

TEXT (Plate 5)

1. संवत् 1525 वर्षे
2. चैत्र सुदि 15 गुरौ
3. श्रीकाष्ठासंघे सा
4. मलयकीर्तिदिव
5. गोलाराडा तदन्वये
6. जैसवाल.....हा
7. पुत्र पदमि.....का-
8. लासीतो सहवदे
9. कारापयति नित्यं
10. प्रणमति

VI. Rock Inscription

This inscription is engraved on the rock to the right of the Śāntinātha image of the cave no. 8.¹² The date of the inscription is mentioned in line 1 as *saṃvat* 1525 Caitra *sudi* 15 Thursday that corresponds to 7 April, 1468 CE, the day was full moon.

Only four lines of the upper portion of the inscription are now preserved, rest of the portion is damaged. The conserved portion records the name of the ruling king Kirtisimha, his father Dūmgrendra

and Kāsthā-saṁgha.

TEXT

(Plate 6)

1. स्वस्ति श्री सर्वज्ञाय ॥ संवत् 1525 वर्षे चैत्र सुदि 15 पूर्णिमायां गुरौ श्री
2. गोपालचलदुर्गो तोमर वर वंशान्वये महाराजाधिराज रा(जा)
3. (डुंगरें) द्रदेवस्तद्राज्येन भोगणधमणिम्महाराजाधि-
4. (राज कीर्तिसिंह) देवराज्ये प्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासंघे.....

VII. Rock Inscription

This inscription is engraved on the rock of the left wall in cave no. 12¹³. The date of the inscription is mentioned in line 1 as *samvat* 1525 Caitra *sudi* 7 Wednesday that corresponds to 30th March, 1468 CE.

The purport of the inscription is to record the installation and worship of the enormous image of Yugādinātha for the welfare of society and others in the reign of Kīrtisimha, when *saṁghādhipati* Hemarāja was *paṭṭāsina*. It commence with the adoration of ādinātha followed by date. After mentioning the fort of Śrī Gopāchala and Tomar dynasty it eulogizes the king Kīrtisimha, the son of Dūmgrendra. Further it refers the *bhaṭṭārakas* of Kāsthā-saṁgha, Māthura-anvaya and Puškara-gaṇa namely Hemakīrti, Kamalakīrti, Śubhacandra and also mention the installation *ācārya* Raidhū. After that, inscription contains the information regarding several members of Agrota-anvaya and Garga-gotra. Of them, *sādhu* Manā, *sādhu* Caumḍe, *sādhu* Pālā, and *sādhu* Kaulā were in relation of father and son respectively. *Samghādhipati* Śemarāja and *saṁghādhipati* Hemarāja were the sons of Kaulā and *sādhvī* Rūpā. *Samghādhipati* Śemarāja with his wife Jaunāhī has a son named Madana. The name of Hemarāja two wives are given as Dhanarājahī and Madanāsirī and his son was *saṁghādhipati* Kumaru who also had two wives, namely Vālhāhī and Lahuvara and a son Rāhacandra. *Samghādhipati* Bhojā married with Ratanapālāhī, while third son, Nānū had three wives, namely Ghogharahī, Bhāvasirī, and Lāḍasirī.

TEXT

(Plate 7)

1. ओं ॥ श्री आदिनाथाय नमः ॥ संवत् 1525 वर्षे चैत्र सुदि 7 बुधवासरे ॥ श्रीगोपाचलदुर्गे तोमरवंशान्वये ॥
2. महाराजाधिराज राजा श्रीडुंगरेंद्रदेवस्तत्पदोद्योत भास्करप्रतिमतजागजवंध्यनेकनृपचक्रमौलि-

3. मणिचुवितपादपद्मोजाः । अनेकममंडलेश्वर शरणपविपजरः । कलिकालचक्रवर्ती । क्षतिषति श्रीकी-
4. त्तिसिंहदेवराज्यप्रवर्तमाने ॥ श्रीकाष्ठासंघे मायुरान्वये । पुष्करगणे । भट्टारक श्रीहेमकीर्तिदिवास्तत्पदं
5. भट्टारक श्रीकमलकीर्तिदिवास्तत्पदे बालब्रम्हचारित्रतस्नरत्नाकराः शवब्रम्हरहस्यार्थत्र का-
6. व्यप्रभाकराः । भट्टारक श्रीशुभचंद्रदेवाः प्रतिष्ठाचार्य पंडित रैधू कृतपादसेवाः ॥ तदाम्नाये अ-
7. गोत्रकान्वये गर्गगोत्रे साधु मना तस्य पुत्र साधु चौडे तस्य पुत्र साधु पाल्हा तस्य पुत्र साधु कौला त-
8. स्य भार्या साध्वी रूपा तस्य पुत्रौ सं षेमराज सं हेमराज नामानौ । सं षेमराज भार्या जौहाणी त-
9. पुत्र सा. मदन । संघाधिपति हेमराज भार्या धनराजही द्वितीया मदणसिरी । तस्य पुत्राः सं
10. कुमरु तस्य भार्ये द्वे । प्रथमा वाल्हाही द्विती लहुवरा पुत्र राहचंद्रः । सं भोजार्भा रतन-
11. पालही । तृतीयपुत्राकुलभारतधुरंधरः संघाधिपति नानू । तस्य भार्या 3 घोघरही । द्वि-
12. तीयां भावसिरी । तृतीया लाडसिरी ॥ एतेषामध्ये संसारशरीरभोगविरक्तेन । परो-
13. पकारकरणतत्परेणो जिनप्रतिष्ठाकरणार्जिततीर्थेशगोत्रेण । जिनप्रभावनांग भा-
14. वनांगभार धुरंधरेणा चतुर्विध दानप्रीणनसुरतरुणा । त्रिकालप्रणत दिंगवर गु-
15. रुणा । आसन्न भट्टेन । संघाधिपति श्रीहेमराजेन । श्रीयुगादिनाथ जिनेश्वरस्य महा-
16. कायेमां प्रतिमां निर्माप्य पुनः प्रतिष्ठाप्य विशुद्धया भक्तिं प्रणत सिरमा नित्यं प्रणमति
17. क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः काले काले च सम्यक्वर्षनुमप्य- ॥
18. वा व्याधवोयांतुनासां दुर्भिक्ष सौरवारिक्षणमपि जगतांमाभवन् जीवलोको जैनैर्द्र धर्मच-
19. क्रप्रवहतसतत संघेसौरव्यप्रदायि ॥ 1 ॥ शुभं भवतु चतुर्विधे संघस्य ॥ लेषकपाठकयोराये ।

VIII. Rock Inscription

This inscription is engraved on the front rock of the cave no. 13. Here, the surface of the rock was not finished smooth before writing the inscription. The date of the inscription is mentioned in line 1 as *samvat* 1525 Caitra *sudi* 7 Wednesday that corresponds to 30th March, 1468 CE.

The purport of the inscription is to record the day by day worship by Dhanū, wife of *sādhu* Gaviṇu who belonged to Jaisavāla-anvaya and *bhaṭṭāraka* Guṇabhadra-āmnāya.

TEXT
(Plate 8)

1. संवत् 1525 चैत्र सुदि 7 बुधे
2. श्रीकाष्ठासंघे भ गुणभद्राम्ना-
3. ये जैसवालान्वये सा गविणु
4. भार्या धनो नित्यं प्रणमति

IX. Rock Inscription

This inscription is engraved on the back rock wall to the right of the Saṁbhavanātha image in cave no. 13.¹⁵ The date of the inscription is mentioned in line 1 as *saṁvat* 1525 Caitra *sudi* 15 Thursday that corresponds to 7th April, 1468 C.E.

The inscription records the reign of Hindū *sultān* Kīrtisimha of Gwalior fort and mentions four *bhaṭṭārakas* of Kāṣṭhā-saṁgha, namely Guṇakīrti, Yaśahkīrti, Malayakīrti, and Guṇabhadra in relation with teacher-disciple respectively. Further, it mentions the members of Guṇabhadra-āmnāya and Jaisavāla-anvaya. *Sādhu* Śrīdhara had six sons with wife Varaṣiṇi. They were *sādhu* Gajū, *sādhu* Arjuna, *sādhu* Sahajana *sādhu* Sakatū, *sādhu* Kāle and *sādhu* Lāhaḍa. Of them, *sādhu* Arjuna and his wife Galo had four sons, namely *sādhu* Halā, *sādhu* Maṁḍe, *sādhu* Gavā, and *sādhu* Lāḍama. *Sādhu* Halā married with Haro and had three sons Karamū, Ajū and Aḍhū. Maṁḍe was married with Liśū. The name of Gavā two wives are Caṁdo and Viṇā and of son is Tilakacāṁda. *Sādhu* Lāḍama had son Abhayacāṁdra with wife Paṁthū. It is said in lines 11-12 that *sādhu* Gavā daily worshipped the image of Saṁbhavanātha. In the end of the inscription, the name of Ghāḍama, son of *sūtradhāra* Malaya is recorded who probably did the engraving work of the inscription as well as sculpted the image.

TEXT
(Plate 9)

1. संवत् 1525 वर्षे चैत्र सुदि 15 गुरौ श्रीगोपाचल
2. दुर्गे महाराजाधिराज श्रीहींदूसुरत्राण श्रीकीर्ति-
3. सिंहविजयराज्ये । श्रीकाष्ठासंघे भ. श्रीगुणकीर्ति-
4. देवाः भ. यशःकीर्तिदेवाः भ मलैकीर्ति भट्टारक
5. श्रीगुणभद्रदेवाम्नाये जैसवालान्वये साधु श्रीधर भा-
6. र्या वरसिणि पुत्रे 6 सा. गाजू सा. अर्जुन सा. सहजन । सा.

7. सकतू सा. काले सा. लाहड ॥ सा. अर्जुन भार्या गलो
8. पुत्र 4 सा. हला सा. मंडे सा. गवा सा. लाडम । सा. हला
9. भार्या हरो पुत्र 3 करमू अजू । अडू । मंडे भार्या लिषो
10. गवा भार्ये 2 चंदो विणा पुत्र तिलकचंद । सा. लाडम भा-
11. र्या पंथू पुत्र अभयचंद्र ॥ साधु गवा इदं संभवनाथ प्रति-
12. मा नित्यं प्रणमति ॥ सूत्रधारि मलय पुत्र घाडम कृतं ॥

X. Rock Inscription

This inscription is engraved on the front rock wall of cave no. 13.¹⁶ The date of the inscription is mentioned in line 1 as *saṁvat* 1525 Caitra *sudi* 7 Wednesday that corresponding to 30th March, 1468 CE.

The purport of the inscription is to record the installation of Pārśvanātha image by *paṇḍita* Pateddharmā. He was the son of Pate and Hamsauti. Pate was the son of Laṭhā and Saumiti, who in turn was the son of *sādhu* Dhājata with wife Lājai. They were associated with Padmāvatī and Śubhacāṁdra-āmnāya of Kāṣṭhā-saṁgha. The place Padmāvatī is modern Pavāyā.

TEXT
(Plate 10)

1. संवत् 1525 चैत्र सुदि 7 बुधे श्री
2. काष्ठासंघे भट्टारक शुभचंद्रदेवा-
3. म्नाये पद्मावतीपुरस्यद्रनेकोपि
4. सा धाजत भार्या लाजै पुत्र लजा
5. तद्भार्या सौमिति तत्पुत्र पंडित पते
6. तद्भार्या हंसैति पुत्रस्ये पंडित
7. पतेद्धर्म श्रीपार्श्वनाथ प्रतिष्ठाप्य-
8. स कर्मक्षयार्थं नित्यं पूजयति
9. नतेस्तम ।

XI. Rock Inscription

This inscription is engraved on the upper rock wall to the back of the Jina image in cave no. 13.¹⁷ The date of the inscription is mentioned in line 1 as *saṁvat* 1525 Caitra *sudi* 15 that corresponds to 7th April, 1468 CE.

The inscription records the reign of Kīrtisimha, Tomar king of Gwalior fort, and mentions four *bhaṭṭārakas* of Kāṣṭhā-saṁgha, Māthura-anvaya and Pushkara-gaṇa namely Kṣemakīrti, Hemakīrti, Kamalakīrti, and Śubhacāṁdra in relation with teacher-disciple respectively. Further, it mentions that the family of

sādhu Asarāja that belonged to Agrotaka-anvaya and Raidhū-āmnāya, who installed the image and worship it every day. Of the family members, Sādhu Asarāja with wife Ladho had two sons. First son, *sādhu* Jivadā wife was Meghāhī, and second son Chāūdā married with Holāhī had two sons, namely Mātikā and Udharāṇa.

TEXT

(Plate 11)

1. सिद्धि संवत् 1525 वर्षे चैत्र सुदि 15 ॥ श्री गोपाचलमहादुर्गे राजाधिराज श्रीडुंग-
2. रेंद्रदेवा तत्पुत्र श्रीकीर्तिसिंह प्रवर्तमाणे ॥ श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वे पुष्करगणे ॥
3. भट्टारकाः श्रीक्षेमकीर्तिदिवाः । तत्पट्टे भट्टारक श्रीहेमकीर्तिदिवाः । तत्पट्टे
4. भट्टारकाः श्रीकमलकीर्तिदिवाः ॥ तत्पट्टे भट्टारकाः श्रीशु-
5. भचंद्रदेवाः पं रैधू तदाम्नायो अ-
6. ग्रोताकान्वे साधु असराज
7. भार्या लघो पुत्र 2 सा जी-
8. वदा भार्य मेघाही द्वितीय
9. चांदा भार्या होलाही पुत्रौ
10. 2 मातिका उधरणा नामा-
11. नौ एतौ सव्ये सुभम्
12. नाना निमित्तं कारापि-
13. तं प्रतिमा नित्यं प्रणम-
14. ति शुभं मांगल्यरस्तु ॥

XII. Rock Inscription

The inscription is engraved on the back rock wall to the right of the head of Śāmtinātha image in cave no. 14.¹⁸ The date of the inscription is mentioned in line 1 as *saṃvat* 1525 Caitra *sudi* 7, Wednesday that corresponds to 30th March, 1468 CE.

The inscription commence with the adoration of Śāmtinātha and records the reign of Kīrtisimha, Tomar king of Gwalior fort and mentions five *bhaṭṭārakas* of Kāṣṭhā-saṃgha, Māthura-anvaya and Puṣkara-gaṇa namely Kṣhemakīrtti, Hemakīrtti, Kamalakīrtti, Śubhacandra, Yaśaḥsena in relation with teacher-disciple respectively. Further, it mentions the family of *sādhu* Vajahu that belonged to Raidhū-āmnāya, Agrotaka-anvaya and Goila-gotra. Sādhu Vāsuka had two sons with different wives, from first wife Nālhi son *sādhu* Harasī and from second wife Rālhi son *sādhu* Mahatā. Odā was the son of *sādhu* Dhatā and Suvā. Odā had two sons,

Cāhama and Narasimha from wife Dhanāpā. Sādhu Harasī with wife Karamā had three sons, *sādhu* Harirāja, *sādhu* Patirāja and *sādhu* Nāthū. Saṃghādhipati Patirāja with wife Dhanū had four sons. First son, *saṃghādhipati* Chādā with wife Palho had three sons, Bharahū, Arjuna and Udharāṇa who were *saṃghādhipati*. Second son, Śemala with wife Delhī had four sons with *saṃghādhipati* title. They were Madanu, Ghaṇā, Raṇā, and Jagahā. Third son, *bhaṭṭa saṃghādhipati* Udharā with wife Śemā had son *saṃghādhipati* Uta. Fourth son of Patirāja was *bhaṭṭa saṃghādhipati* Palhā who from wife Vīdho had sons Parvata and *saṃghādhipati* Dhāraṇa. At the end it is recorded that Patirāja installed huge *ratnatraya* of Śāmtinātha, Kumthunātha and Aranātha for *karmakṣayārtha*.

TEXT

(Plat 12)

1. ओं ॥" स्वस्ति ॥ श्रीमते शांतिनाथाय नमः शान्तिविधायिने त्रैलोक्येसाम सदायमहु यस्य-
2. र्तितांक्षये ॥1॥ सं 1525 वर्षे चैत्र सुदि 7 बुद्धवासरे श्रीगोपाचलमहादुर्गे महाराजाधिराज श्रीकीर्ति-
3. सिंघराज्यसमये श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे । भट्टारक श्रीक्षेमकीर्तिदिवाः तत्पट्टे भ. हेमकीर्तिदिवाः
4. तत्पट्टे भ. कमलकीर्तिदिवाः तत्पट्टे भ. सुभचंद्रदेवाः तत्पट्टे भट्टा श्रीयशःसेनेन लिषाप्य पंडित रैधू तदाम्नाये
5. अग्रोत्कान्वये गोइलगोत्रे सा वजहु भार्या 2 नाली पुत्र सा हरसी द्वि राली पुत्र सा महता सा घता महाभार्या सुवा पुत्र
6. द्योदा भार्या धनापा ततो पुत्र वोहिपु चाहडु नरसिंधु सा हरसी भार्या करमा पुत्र 3 सा हरिराज सा पतिराज त. सा नाथू
7. सं पतिराज भार्या धनो पुत्र 4 प्र सं चादा भार्या पल्हो पुत्र सं भरहू सं अर्जुन सं उधरण ॥ द्वि सं षेमल भार्या देल्ली पुत्र 4 सं मद-
8. नु सं घणा सं रणा सं जगहा भट्ट सं उधर भार्या षेमा पुत्र सं उतभ सं पल्हा भा. विधो पुत्र पर्वत सं धारण एतेषां मध्येसी
9. पतिराज श्रीशांतिनाथ श्रीकुंथुनाथ श्रीअरनाथ इति रत्नत्रय महाकाव्य कारापयति प्राप्य कर्मक्षयति निमित्तं नित्यम प्रणमति
10. सुभमस्तु ॥ ॥ मांगल्य ददाइ ॥ ॥

XIII. Rock Inscription

This inscription is engraved on the back rock wall to the right of the head of Puṣpadanta image in cave no. 15.²⁰ The date of the inscription is mentioned in line 1 as *saṃvat* 1525 Caitra *sudi* 7, Wednesday that

corresponds to 30th March, 1468 CE.

The inscription records the reign of Kīrtisimha, Tomar king of Gwalior fort and mentions three *bhaṭṭārakas* of Kāsthā-saṃgha and Māthura-anvaya namely Hemakīrti, Kamalakīrti and Śubhacandra in relation with teacher-disciple respectively. Further, it mentions the family of Agrota-anvaya, Mīlama-gotra and the resident of Vādikā. Sādhu Kālū had four sons, Dīnaka, Sotā, Sanū and Halākṣaḥ. Sādhu Dīnaka with wife Āsī had five sons, Ghīhlā, ūdhā, Mahārāja, Tejā, and sādhu Leū. Sādhu Mahārāja with wife Koṭṭī had four sons, Āḍhū, Rāma, Ajayarāja, and sādhu Sāja. Sādhu Āḍhū with wife Syāmā had two sons, Māṇika, and sādhu Vani. Daily worship was done by sādhu Rāmacandra's wife Mahli, sādhu Ajayarāja, and sādhu Sāja. The inscription was engraved by Cidrūpa, son of Ghāṭama.

TEXT

(Plate 13)

1. ओं ॥ स्वस्ति । श्रीजिनायनमः ॥ संवत् 1525 वर्षे चैत्र सुदि 7 बुधवासरेस्यसि श्रीगोपाचल महादुर्गे महाराजाधिराज दुं-
2. गरेन्द्र.....तत्पुत्र श्रीकीर्तिसिंहराज्यप्रवर्तमाने श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे (भट्टारक श्रीक्षेमकीर्तिदेवाः)
3. तत्पट्टे भट्टारक श्रीहेमकीर्तिदेवा तत्पट्टे भट्टारक श्रीकमलकीर्तिदेवा तत्पट्टे भट्टारक श्रीशुभचन्द्रदेवा.....
4. तत्पट्टे भट्टारक श्रीहेमकीर्तिदेवा तत्पट्टे भट्टारक श्रीकमलकीर्तिदेवा तत्पट्टे भट्टारक श्रीशुभचन्द्रदेवा.....
5. तदाम्नाये अग्रोत्कान्वये मीतमगोत्रे वादिकावास्तव्य साधु कालू तत्पुत्र चत्वारि जेष्ठ पुत्र दीणकस्य
6. द्वितीय पुत्र सोता तृतीय सनू नामाश्चतुर्थो हालाक्षः ॥ साधु दीणकस्य भार्या आषी तत्पुत्र पंचो जेष्ठो
7. घीह्ला द्वितीय ऊधा तृतीय महाराजश्चतुर्थो तेजा पंचम सा लेऊ ॥ साधु महाराजकस्य भार्या कोट्टी तत्पुत्र
8. जेष्ठो सा आदू द्वितीय राम तृतीय अजैराजश्चतुर्थो सा साजा । सा आदूकस्य भार्या स्यामा तत्पुत्र द्वौ जेष्ठ ॥
9. माणिक । लघु पुत्र सा वनि ॥ नामानौ सा रामचंद्र भार्या महिलय ॥ सा अजयराज सा वले सा साजा भार्या सवीश्री
10. एते सर्वे नित्यं प्रणमति ॥ पं घाटम ॥ पुत्र चिद्रूप लिषत् ॥ शुभं भवत् ॥ मांगल्यश्री.....

XIV. Rṣhabhanātha Image Pedestal Inscription

This inscription is engraved on pedestal of the image

of Rṣhabhanātha in cave no. 17²². The date of the inscription is mentioned as *saṃvat* 1525 Caitra *sudi* 15 Thursday that corresponds to 7th April, 1468 CE.

The inscription records the worship of the image of Ādinātha by Gopī, his two wives Jhoḍī and Tajo, Jimā his wife Paṭirava and other members of the family, who belonged to Dhara-gotra, Agrota-anvaya and āmnāya of the *bhaṭṭāraka* Guṇabhadra of Kāsthā-saṃgha.

TEXT

(Plate 14)

1. श्रीमन्नाभितनूजाते । वृषकेनुर्ध्वमायुधः वृषभः शांतिदो नित्यं ऐकसाधोन्वित शतं संवत् 1525 वर्षे चैत्र सुदि 15 गुरौ श्रीकाष्ठासंघे भट्टारक श्रीगुणभद्रदेवाम्नाये अग्रोत्कान्वयो धरगोत्रे.....भूजदा कोसीजदा भार्या सहैश्री पुत्र हरेकपि मारसू भार्या टाजे पुत्रमैधे गोपी भार्ये झोडी तजो जिमा भार्या पटीरव सर्वे नित्यं प्रनयति श्री आदिनाथ ॥

XV. Rock Inscription

This inscription is engraved on the rock of right side in cave no. 19. The date of the inscription is mentioned in line 1 as *saṃvat* 1525 Caitra *sudi* 7 Wednesday that corresponds to 30th March, 1468 CE.

The purport of the inscription is to mention the installation of image for *karmakṣhaya*. It records the reign of Kīrtisimha, Tomar king of Gwalior fort and mentions *bhaṭṭārakas* of Kāsthā-saṃgha, Māthura-anvaya and Puṣkara-gaṇa namely Hemakīrti, Kamalakīrti, Śubhacandra and *muni* Basamtakīrti in relation with teacher-disciple respectively. Further, it mentions the family of sādhu Sihadeva that was related to the āmnāya of Basamtakīrti, Pauravāgvāda and belonged to Pātātāpurot-patho. Of the family members, Sādhu Sihadeva with wife āiti had three sons, Vaniatihi, Valūbhiva and Sāvani. Sāvani had two sons from wife ūṇa. Of them, Laḍaū was married with Malikā while Suddā was married with Payo.

TEXT

(Plate 15)

1. सिद्धि । संवत् 1525 चैत्र सुदि 7 बुद्धवासरे गोपाचल महादुर्गे महाधि-
2. राज श्रीकीर्तिसिंहराज्यप्रवर्तमाने ॥ श्रीकाष्ठासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे भटा-
3. रक पं श्रीहेमकीर्तिदेवाः । स्त तत्पट्टे भट्टारक

श्रीकमलकीर्तिदेवाः । स्त तत्पट्टे भ-

4. झारकाः श्रीशुभचंद्रदेवाः । मुनि बसंतकीर्ति । परस्य तदमनये ।
पौरवाग्वाडा-
5. निय पाततापुरात्यथो । साधु सीहदेवा भार्या गाइति । पुत्राः
वनि अ-
6. तिथि वलूत्रिव सा वनि । भार्या ऊठा पुत्रौ 2 प्रथमा लडऊ ।
भार्या म-
7. लिका दुवारो । एतौ सा सुदा भारा पयो ऊदूवतस्यात्यदि-
8. नय प्रतिमा कारापितां कर्मक्षयार्थ ॥ शुभं मंगलाय ॥

1518.

18. This has been noticed in *GAR*, (VS 1984/ CE 1927-28), No. 28; *GRA*, No. 292; *A.R.Ep.* 1961- 62, No. 1523.
19. Expressed by a symbol.
20. This has been noticed in *GAR*, (VS 1984/ CE 1927-28), No. 29; *GRA*, No. 291; *A.R.Ep.* 1961- 62, No. 1517.
21. Expressed by a symbol.
22. This has been noticed in *GAR*, (VS 1984/ CE 1927-28), No. 36; *A.R.Ep.* 1961- 62, No. 1515.

Notes and References:

1. See A. Cunningham, *ASIR*, II, pp.364-367.
2. B.D. Misra, *Forts and Fortresses of Gwalior and its Hinterland*, Delhi, 1993, pp.41-43.
3. D.C. Sircar, *Indian Epigraphical Glossary*, p.52: one explanation as a title of the Jaina religious teacher.
4. Nemichandra Shastri, *Tirthankara Mahāvīra evaṃ Unakī Ācārya Paramparā*, IV, 1992, p.358.
5. A.K. Singh, 'Dubkunda sthita Jaina Mandira evaṃ Abhilekha', in *Jina Jñana*, 2005, p.133.
6. Vidyadhara Joharapurkar, *Bhaṭṭaraka Sampradāya*, 1958, p.246.
7. Raja Ram Jain, *Raidhu Sahitya kā Ālocanātmaka Pariśīlan*, Patna, 1974.
8. This has been noticed in the *Annual Report of Archaeological Department, Gwalior State (GAR)* (VS 1984/ CE 1927-28), No. 27; *Gwalior Rājya ke Abhilekha (GRA)*, VS 2004, No. 301; *A.R.Ep.* 1961- 62, No. 1524.
9. This has been noticed in *GAR*, (VS 1984/ CE 1927-28), No. 35; *GRA*, No. 300; *A.R.Ep.* 1961- 62, No. 1514. ?
10. This has been noticed in *GAR*, (VS 1984/ CE 1927-28), No. 37; *GRA*, No. 302; *A.R.Ep.* 1961- 62, No. 1516.
11. This has been noticed in *GAR*, (VS 1984/ CE 1927-28), No. 38; *GRA*, No. 299; *A.R.Ep.* 1961- 62, No. 1513.
12. This has been noticed in *GAR*, (VS 1984/ CE 1927-28), No. 32; *GRA*, No. 296; *A.R.Ep.* 1961- 62, No. 1519.
13. This has been noticed in *GAR*, (VS 1984/ CE 1927-28), No. 26; *GRA*, No. 293; *A.R.Ep.* 1961- 62, No. 1525.
14. Expressed by a symbol.
15. This has been noticed in *GAR*, (VS 1984/ CE 1927-28), No. 33; *GRA*, No. 297; *A.R.Ep.* 1961- 62, No. 1510 suggested date is 1505 (*Śarābhra-viśikha-kshma somavāra*).
16. This has been noticed in *GAR*, (VS 1984/ CE 1927-28), No. 34; *GRA*, No. 294; *A.R.Ep.* 1961- 62, No. 1522.
17. This has been noticed in *GAR*, (VS 1984/ CE 1927-28), No. 30; *GRA*, No. 295; *A.R.Ep.* 1961- 62, No.





Plate 1: Pārśvanātha Image Pedestal Inscription (arrow)

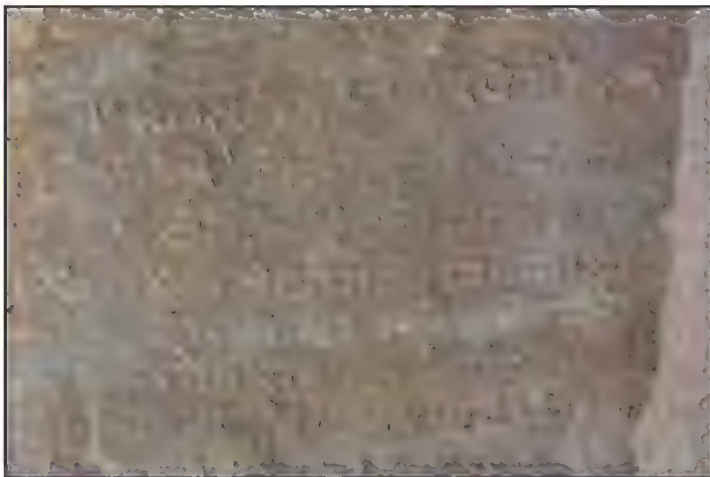


Plate 2: Rock Inscription



Plate 3: Rock Inscription



Plate 4: Rock Inscription



Plate 5: Rock Inscription

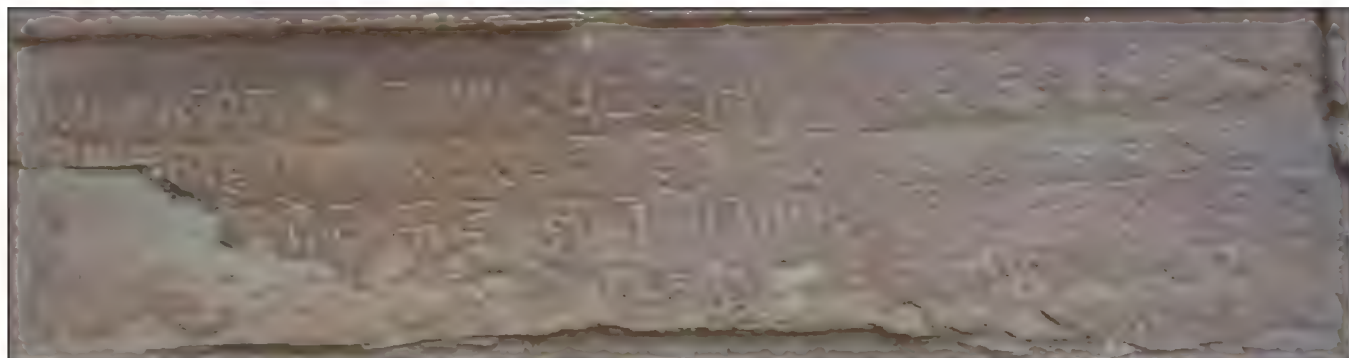


Plate 6: Rock Inscription



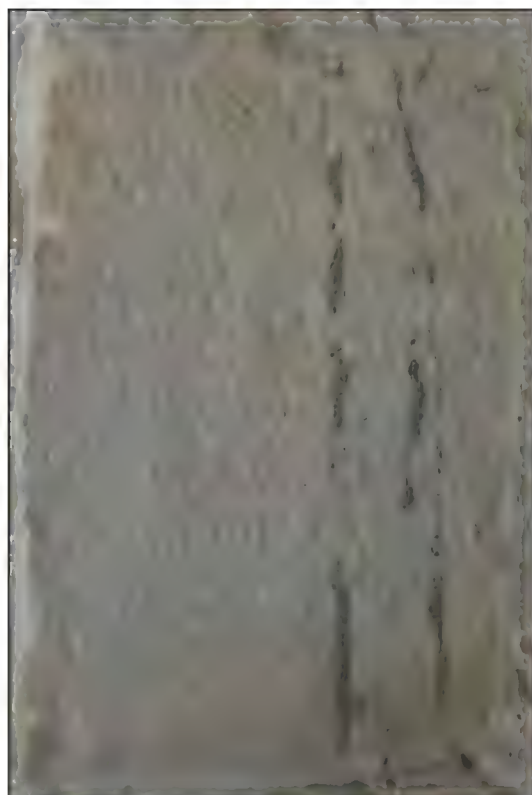
Plate 7: Rock Inscription



Plate 8: Rock Inscription



Plate 9: Rock Inscription



↗
Plate 10: Rock Inscription

Composite Images of Sūrya in Oḍiśān Art

Rusav Kumar Sahu *

Introduction:



he present paper deals with the recent documentation of Sūrya images undertaken to various temples of Oḍiśā (Odisha) as part of author's Doctoral Research project.

In this connection field work has been carried out to Bhubaneswar, Puri, Konark, Palia, Sambalpur and some remote areas of the state of Odisha. The survey yielded some unique features of Sūrya in terms of art, iconography and the placement of the deity in the exterior wall of the Kaliṅgan temple. In Odisha regarding the iconography of the deity, Sūrya has been carved into four broad categories (I) standing images of Sūrya without any chariot, (II) seated images of Sūrya without a chariot, (III) Sūrya riding on a chariot and (IV) Sūrya riding on his horse. The images of the first two varieties are found in most of the formative phase temples of Odisha. In the first category, the god represented in a simple standing pose devoid of any chariot or attendants. Mostly he holds the stalk of a full-blossomed lotus in each hand and assumes a rigid frontal pose, i.e., *samabhaṅga*. He is usually dressed in a heavy northern type garment, with heavy boots, truncated crown etc. The images of this variety are found in Paraśurāmeśvara and Svarnajāleśvara temples in Bhubaneswar. The seated images are found in *padmāsana* without any attendant figure and with conventional body ornaments like necklace, *yajñopavīta*, girdle, armlets, crown, etc. The images from Lakṣmaṇeśvara, Parasurāmeśvara, Svarnajāleśvara and Śobhaneśvara temple of Niali belong to this category. The presiding deity of Koṇārka Sun temple might be of this

category.¹

The most popular and complex type of images depict the god riding a chariot found in the late formative, transitional and mature phase temples of Bhubaneswar as evident from the images of Vaitāla, Vārāhī, Mukteśvara and Liṅgarāja temple. The style of riding the chariot varies from place to place. In one mode of depiction, the Sun is shown from his hips upward with legs disappearing into the chariot. In the second mode Surya is depicted as seated in *padmāsana* on his chariot and in the third mode the Sun stands in *samabhaṅga* on his chariot. The last variety of Sun images riding a horse is found from the grand Sun temple of Koṇārka in the northern *pārśvadevatā* niche. Apart from this, Sūrya (Ravi) has been carved in the Navagraha architrave of a temple. The above stylistic development of Sūrya is not only confined to Bhubaneswar but also to the other parts of the state. These four categories of Sūrya images were carved anywhere in the temple like *vimāna*, *jagamohana*, *nādamandapa* and *bhogamandapa* of a temple whereas in a vertical order Sun-god has been placed in the *bāda*, *ganḍi* and *mastaka* of a temple.² Though the concentration of Sun images facing towards the east is more, there are evidences of facing towards the rest three directions as well.³

However, the composite images make their appearance from the late-formative phase temples of Odisha as evident from the Ardhanārīśvara image carved in the western wall of Vaitāl temple in Bhubaneswar dating back to 8th century AD. But the composite forms of Sūrya start occurring from the Somavaṁśis period (10th/11th century AD) onwards. The images of Hara-Sūrya, Sūrya-Nārāyaṇa, Sūrya-Narasinha and Sūrya-Lokeśvara, Mārtaṇḍa-Bhairava, Virañchi-Nārāyaṇa or Sūrya-

* UGC-J.R.F., P.G. Deptt. of A.I.H.C. & Archaeology, Utkal University, Bhubaneswar-751 004; email: sahuoshank@gmail.com; Mob.: 09692496849

Brahmā are extremely popular in Odisha but the composite images of Sūrya-Buddha, Sūrya-Vināyaka are not found in the art tradition of the state.⁴

Concept and antiquity of composite figures:

The religious history of India is the story of amalgamation and assimilation of various creeds and at different periods of time has laid the path to their superiority over the others. Attempts at reconciliation between the rival creeds were being made even from the very early period, when some of them had not come into being, and the others that had originated, were systematised. The sentiment is beautifully expressed in the famous couplet of Dīrghatamas hymn of the *Rgveda* (1.164.46-47) long before the evolution of these cults and it never lost its force in subsequent times.

From the early times, the worship of divinities in individual or composite forms had been prevalent in India. The earliest archaeological evidence of the cult objects comes from the Harappan period. The genesis of the syncretistic divinities could be traced back to these sites, which produced numerous examples of composite *Liṣga-yoni* motifs. These objects are believed to be the combined form of Śiva and Śakti. The availability of the female figurines representing the mother-goddess and the Harappan seal in which Śiva is shown seated in the form of Paśupati leads one to believe that both were under worship individually as well as in composite form of *liṣga* and *yoni*.⁵ The syncretism became popular after Gupta period due to the Tāntric influence in which the multiplication of deities both in Buddhism and Hinduism started. Within the Hinduism, multiplication among the various gods and goddesses also started.

According to the *Pañchāyatana pūjā*, as described by Monier Monier Williams,⁶ in the 19th century five stones or symbols believed to be permeated by essence of the five chief deities were the black stone representing Viṣṇu, the white stone representing Śiva's essence, the red stone representing Gaṇeśa, small pieces of metal representing Durgā or Pārvatī and a piece of crystal representing the Sun. All the five symbols are placed on a round open metal dish, called *Pañchāyatana* and are arranged in different methods according to the preference to any one of the five deities at the time of worship. The *pañchāyatana* worship or *pañchadevopāsana* finally laid to the construction of *pañchāyatana* temples in Odisha as well as the other

parts of the country. In most of the *pañchāyatana* temples of Odisha Sūrya has been carved in the subsidiary temples located mostly in the north-western corner. The artists might have aware that the Maga Brāhmaṇas coming from the north-western part of the country were responsible for the growth and development of Sun cult in India for which they carved.⁷

The same ideology was translated into practice by the artists in the Indian plastic art and several images displaying composite forms of the deities were created from time to time in the past. Though the syncretic ideology already had its germs in the *Rgveda*, as pointed out earlier and was further developed in *Atharvaveda*, which contains a few passages (13.4.1-5) which equate Indra, Vāyu, Rudra, Agni, Yama, Dhātā and Vidhātā.

In the Purāṇic literature Sūrya has been invoked often as a supreme god, with other gods like Brahmā, Viṣṇu and Śiva as his manifestations. As for example, the *Skanda Purāṇa* clearly pronounces that the Sun-god is Brahmā, Viṣṇu and Śiva, all combined. The same text in the *Vaiṣṇava Khanda* (3.4-5) emphasises the point further by combining the forms of Viṣṇu, Śiva, Durgā, Gaṇeśa and Sūrya.

With this literary background, the composite forms can broadly be classified under three heads, the determinant factor being the sex of the deities of the composite images: (i) forms combining two male deities, (ii) forms combining a male and a female deity, and (iii) forms combining two female deities. The first category includes the images of Hari-Hara, Hari-Brahmā, Mārtaṇḍa-Bhairava, Sūrya-Lokeśvara, Sūrya-Narasimha, Sūrya-Buddha, Hara-Sūrya, etc. Under the second category will come the images of Ardhanārīśvara, Ardhalaṣṭhmī-Hari and Śakti-Gaṇapati. The third category images include Pārvatī-Lakṣmī and of Lakṣmī-Sarasvatī and a few others such types mostly noticed from Buddhist iconography of the Vajrayāna phase.

A slab depicting five deities in a row expresses the same tendency to respect different cult icons. Beginning from the left side, the seated deities are Indra, Brahmā, Śiva, Viṣṇu and Sūrya. As Gaṇeśa is absent, the panel cannot possibly be associated with the *Pañcopāsana* of the *Smārta*, but the depiction of cult icons side by side indicates the liberal religious atmosphere of the times.⁸

Hara-Sūrya:

A chlorite image of Hara-Sūrya displayed in the

Koṇārka site museum (**Fig. 1**) is notable for its iconography⁹. Another beautiful sculpture having the images of Jagannātha, goddess Durgā and Śivaliṃga are on one platform to which the king Narasimhadeva-I who is the builder of the Sun temple paying homage to the deities shown the religious assimilation of Odisha in 13th Century AD. This image is also displayed in the same museum.

The image of Hara-Sūrya stands in *samapada* position on a *triratha* chariot drawn by seven horses. Aruṇa, the legless charioteer sits in front of the feet of the deity and drives the chariot. The God has four hands, the upper two hands are missing but they evidently carried two lotus flowers which can be seen above his shoulders. He holds a trident in his lower right hand while the lower left hand is in the *varada* pose. The god wears boots, girdle, high crown necklace and other ornaments. He is flanked on either side by an attendant holding sword and shield. At his back there is an elaborate trefoil arch, on the sides of which are four female figures holding garlands and *cāmaras*. At the top of the arch, there is a *kīrtimukha* flanked by two *gandharvas* bearing conch shells. At the top corner of the slab are two *vidyādhara*s flying with garlands.

The image in question definitely syncretistic image of Śiva-Sūrya as Sūrya is often identified with Śiva. The *Ekāmra Purāṇa* identifies Śiva with Sūrya while prescribing prayer to Bhāskareśvara Śiva of Bhuvaneśwar. The *Ādityahr̥daya* declares that there is no difference between Āditya (Sūrya) and Śiva. From the passage of *Ekāmra Purāṇa*, the identification of Śiva with Sūrya is evident and the same notion may have been at work in carving this sculpture of Koṇārka.

Another beautiful image of Hara-Sūrya in seated posture (*Padmāsana*) is found in the *beki*, right above the central *rāhāpaga* of Megheśvara temple in Bhubaneswar dated to 13th century (**Fig. 2**). The deity is facing towards east and holding lotus in his left hand and trident in the right. The image is crowned with *kīrīṭa mukuṭa* and wears sacred thread.

The Gāyatrī mantra itself is conceived as Brahmā, Śiva and Viṣṇu in the morning, mid-day and evening respectively each of the deity shines resplendent within the solar orb. The clear connection of Sūrya with Viṣṇu as Nārāyaṇa hailing from different parts of India is well known but the composite figure of Sūrya and Śiva are very few. One such figure noticed by Hiralal, which is a six armed

composite image found at Madhia in Bundelkhand region.¹⁰ The figure holds in two of his left hands a trident and a lotus, the third in *varada* pose and other one holding a lotus. Its legs are clad with shoes; the boot and lotus is solar feature while the trident indicates the Śaivite feature.

Sūrya-Nārāyaṇa:

Sūrya, the god of light and lustre has been variously described in the *R̥gvedic* hymns. Sometimes he was called as the beautiful celestial bird “*Garutman*” or a “white brilliant steed brought by “*Uḥas*”, the goddess of dawn. From these descriptions of the concepts of Garuḍa, the vehicle of Viṣṇu and Tarakḥya, the horse mount of the Sun-god originated. This further led to the development of the idea of the Sun-god moving on a chariot driven by seven horses is frequently found in the post Vedic literature.¹¹

Viṣṇu on the other hand enjoyed a prominent position in Vedic literature. There is a school of thought which believed that Viṣṇu, who became popular in the Brāhmaṇical cults, was in vogue during the period contemporary to the beginning of Christian era was different from *Vedic* Viṣṇu.¹² The feet associated with him in Vedic literature relates to his having traversed the whole universe in three strides. These three steps in course of time developed in to myths on the dwarf incarnation of purāṇic Viṣṇu. Sakapuni, one of the Vedic commentators, interpreted these three steps as a course of solar deity, through the three divisions of the universe, the god being manifest in three fold forms, as Agni on earth, Indra or Vāyu in atmosphere and Sūrya in the sky. Both the deities namely, Sūrya and Viṣṇu are very much interconnected and there should be no surprise if both of them are projected in composite form of plastic art.

According to Arunābha, another commentator of Vedic literature, the three steps of Viṣṇu indicate the different positions of the Sun at its rising, culminating and setting. The idea underlying this solar explanation is evidently incorporated in a *dhyāna* wherein Viṣṇu is conceived as Nārāyaṇa is described residing in the orb of the Sun. Thus the idea that Viṣṇu is the Sun appears to have been maintained in the worship of Sūrya-Nārāyaṇa¹³.

Gopinath Rao speaks of a bronze image of Sūrya-Nārāyaṇa from Belur, which is preserved in Madras Museum.¹⁴ The image belongs to Hoysala

period and has four hands, two of which carry a conch and a wheel. The Hoysaleśvara temple at Halebidu and Chanakeśvara temple at Belūr have this composite figure. Similar types of images are carved on the exterior wall on the later temples of Odisha. There is a bronze image of Sūrya-Nārāyaṇa seated over a horse is displayed in the Odisha State Museum located in Bhubaneswar. The temple within Badasantha *maṣha*, located in Mārkaṇḍeśvara Sahi in Puri, there is an image of Sūrya-Nārāyaṇa along with other Vaiṣṇavite gods and goddesses which are worshipped in the sanctum sanctorum.

Some of the sculptures of Koṇārka as well as the other places of Odisha reflect the spirit of religious toleration which prevailed in medieval Odisha. In Koṇārka, the close connection between Viṣṇu and Sūrya is brought out in one composite sculpture. Only the lower half of the original image is four-armed. It carries a *śaṁkha* (a well-known emblem of Viṣṇu) in the lower right hand. The attribute of the lower left hand is indistinct. The boots clearly establish links with Sūrya. The image thus combines the features of Sūrya and Viṣṇu. The *tilak* mark on the forehead of the western *raha* niche Sūrya of the main temple is also another sign of the association of Viṣṇu with Sūrya.

Sūrya-Narasimha:

One of the unique figures of Sūrya-Narasimha is enshrined in a modern structure on the foothill of Gandhamādāna hills towards the northern side of Nṛsiṁhanāth temple in Bargarh district (Fig. 3) of western Odisha.¹⁵ The image is carved in high relief in grey sandstone depicts Narasimha as standing on a *triratha* (three projection) pedestal in *samapadasthānaka* (erect) posture, flanked by two female attendants, one to the right holding a lotus and the other to the left with a flywhisk. The four armed lion-faced god exhibits in his upper right and left hands a lotus and a conch and in the lower right a *gadā* with left hand in *varada* pose. The deity is sparsely ornamented and in addition to his usual *vanamālā* (prominent garland), wears armlets, bangles and necklaces of simple designs and a short *dhotī* (cloth) reaching up to the knee. But what is most striking, is the pair of gumboots the ends of which reach up to the knee and their ends are conical at the centre. This particular feature makes this image unique, because among the Brāhmaṇical deities, it is only the Sun-god who wears boots and that too only in the north Indian art.¹⁶

Another image of Sūrya-Narasimha, can be seen on the lintel of the entrance doorway of the Gangādhareśvara temple at Kotakola near the Buguda town of Ganjam district which is famous for the Virañchi-Nārāyaṇa temple. Like the previous one, this is also unique. This is in high relief, made of stone; the god is seen engaged in killing Hiraṇyakaśyapa by his normal pair of hands standing on a platform of a *ratha* drawn by seven horses, by his left leg, which is slightly bent, trampling another demon, apparently the demon of darkness. The emblems in the upper hands are not clear, but the one in the left may be a lotus. Here again the solar element is articulated in the seven horsed chariot, a feature of the iconography of Surya in north-Indian art.

Both the images represent a blending of two divinities Viṣṇu and Sūrya and thus belong to the class of syncretistic image like Harihara, Ardhanārīśvara and Mārtaṇḍa-Bhairava. These two images of Sūrya-Narasimha have made significant contribution to our knowledge of Brāhmaṇical iconography.

Aesthetically both the examples are of different workmanship and are removed from the temples of adjacent area. The pillar like legs, stylised manes and moustaches and the rigid stance of the god in the first instance and almost similar features together with his lifeless, almost petrified, posture of killing the demon in the second tend to assign them to the folk-tribal tradition which was, and still is, relatively predominant in the area they belong to. On the basis of associated temple, we can assign them to 10th century AD¹⁷

Sūrya-Brahmā:

An interesting image hailing from Mahendra (Dinajpur in Bangladesh) shows iconographic features of the two gods: Brahmā and Sūrya. It has six hands of which the principal ones hold lotus flowers similar to those of the images of Sūrya. But the four remaining hands show the *varada-mudrā*, the *akṣamālā*, the *abhaya-mudrā* and the *kamaṇḍalu*. Moreover, the image is shown standing on a pedestal (presumably of a chariot) drawn by seven horses, and is accompanied by almost all the associate figures usually noticed in a Sūrya image.¹⁸

Though not a single specimen of Sūrya-Brahmā is discovered in Odisha, both the gods are present in the *kalyāṇasundara* panel of Paraśurāmeśvara (Fig. 4) and Svarṇajāleśvara temple

in Bhubaneswar dating back to 7th century AD. The presiding deity of Virañchi-Nārāyaṇa of Palia in Bhadrak district is four-faced image of Sūrya holding two full-blown lotuses in his either hands and the seven horses are carved at the base (**Fig. 5**). The local people worshipped the deity as Lord Brahmā, the creator of the universe. The deity who cures the skin disease of *Binchi* (like leprosy) is called Virañchi-Nārāyaṇa. In Odisha, there are three temples of this god in Bhadrak, Ganjam and Nayagarh district respectively.

Mārtaṇḍa Bhairava or Śiva-Bhāskara:

This composite form depicts Śiva and Sūrya. In India, this form is popularly known as Mārtaṇḍa-Bhairava whereas in Nepal it is known as Śiva-Bhāskara. The fact that the rising Sun dispels darkness not only portrays the factual position of his physical properties, but also serves as a paraphrase of several Vedic verses. In one of the inscriptions from Nepal, however, a Gnostic gloss, the light shed by the Sun is considered to be that of knowledge and the darkness (in the minds of people) as illusion.¹⁹

In Indian context, features of the Sun-god are traceable in many cult deities. But the composite icons combining Śiva with Sūrya are very few. One such image from Panna district of Madhya Pradesh depicts the god holding in the two left hands a trident, a lotus and the third hand in *varada-mudrā*.²⁰ One of the right hands is broken, while the other two hold a lotus and a deer symbol. Its legs are clad in shoes and it is quite likely that the seven horses with their driver are present below. The boots on legs and the lotuses in the hands are unmistakably the solar symbols, while the trident and deer symbols indicate the Śiva aspect of it. A bull is carved on the left corner, which indicates that the sculptor intended to combine both the gods. The figure is carved in the centre of a door lintel of a ruined temple.

A mutilated sculpture (Acc. no. 217) belonging to the 6th century AD preserved in the Bhārata Kalā Bhavana, Varanasi, represents Mārtaṇḍa-Bhairava. It has two different types of hairdo. The right side of the head has curly hair, while the left side has matted locks. The right ear is adorned with *ratna-kundala*, but the left ear has *śaṁkha-kundala*. The partially surviving right hand carries a lotus, while the left one is broken.²¹

A unique syncretic image, in which Sūrya and Śiva are combined, is preserved in the V.R.S. Museum, Rajshahi²² which has been identified as

Mārtaṇḍa Bhairava. A three faced and ten armed image of this combined deity, belonging to 12th century AD found from Manda (Rajshahi), contains the usual accessories found in the well-developed type of Sūrya in eastern India. Its central face is placid, the side ones being fierce, its two pairs of hands are broken, but the full blown lotuses in one pair are quite distinct, the back hands which are preserved, carry from right onwards, a *khadvāṅga*, a trident, a *Śakti*, a *nilotpala*, a *damaru* and a snake. Flames rise from its head and shoulders. The *dhyāna-mantra* of a particular variety of Sun (Mārtaṇḍa) appearing in the *Śāradātilakam* conforms to its iconographical features. The *Bhāgavata Purāṇa* goes on to testify that there is no difference between Sūrya and Śiva.

The depiction of boat along with the god Bhairava in the Sun temple of Koṇarka, probably, symbolizes the world sea, for crossing which the grace of god has been required. The three headed Bhairava was wrongly identified with Brahmā by earlier scholars. C. Shivaramamurthi identifies one of the images as Mārtaṇḍa Bhairava. The identification of these images with Mārtaṇḍa Bhairava is supported by the *Śāradātilakam* and the *Hayaśirṣa Pāñcharātra*.²³ Like the Śākta divinities, Sūrya may have been associated with the maritime trade of Odisha.

In an inscription from Nirmand (Himachal Pradesh) Śiva has been identified with Sūrya under the name of Mihireśvara. There is hardly any doubt that the worship in its Tāntric form laid particular emphasis on the identity of Sun with Śiva. Possibly his idea led to the development of the composite deity Mārtaṇḍa Bhairava whose description is found in the *Śāradātilakam*. In the *Kālikā Purāṇa* the Sun-god has been referred to as Mārtaṇḍa-Bhairava. Another image of Rudra-Bhāskara displayed in the sculpture gallery of Madhya Pradesh state museum at Bhopal (**Fig. 6**).

Sūrya Lokeśvara:

The Ashutosh Museum of Calcutta University preserves a fragmentary sculpture datable to the 11th century AD from Odisha, which represents the composite form of Sūrya-Lokeśvara. But from which part of Odisha that image was retrieved is not mentioned. The sculpture exhibit the influence of the Sūrya cult that had exercised in Buddhism. The deity is possibly ten-armed, six of which are broken. In the remaining four hands, two right ones hold a noose and a full blown lotus, while the left two hold lotus stalk besides an indistinct object. The miniature figure of Dhyānī-Buddha Amitābha is shown seated

over the raised curl of the *jaṭāmukuda* indicating Lokeśvara character of the deity. The full-blown lotuses held in two parallel hands on either side is a feature emphasising the Sun icon.

Conclusion:

Apart from the four varieties of Sūrya images in Odisha, the syncretic images like Hara-Sūrya, Sūrya-Narasimha, Sūrya-Nārāyaṇa, Mārtaṇḍa-Bhairava, Virañci-Nārāyaṇa, Sūrya-Lokeśvara carved in the temple art of Odisha towards the later part of Somavaṃśis period possibly due to the religious toleration between Śaivism and Vaiṣṇavism. That does not mean that Sūrya is not associated with the Śākta temples. But the presence of Sūrya in the *pārśvadevatā* niche of Vārāhi temple at Caurasi proves the importance of him in a Devī temple. In terms of art, architecture and iconography, the Sun-cult reached its climax in the grand Sun temple of Koṇārka in 13th century AD. More and more research and field work is required to discover these unique aspects of Sun-god.

Acknowledgements:

The author expresses his grateful thanks to the University Grant Commission, New Delhi, for providing financial support as a part of Junior Research Fellowship. The author is also beholden to Prof. Sadasiba Pradhan for his moral support and kind cooperation for the preparation of this article. The author is also thankful to Santosh Kumar Mallik of Jawaharlal Nehru University, Asim Amitabh Pradhan, Bibhuti Bhusan Satapathy and M.J. Ambuj of Utkal University, Sachin Kumar Tiwary of Patna University and Shubha Majumder of Calcutta University for their unflinching assistance during the documentation of Sūrya images in Puri, Bhadrak, Baud and Ganjam district.

References:

1. Boner, A., et al., *New Light on the Sun temple at Koṇārka*, Varanasi, 1972, Pls. 7a, 49, 76.
2. Sahu, R.K., 'Stylistic Development of Sūrya in Temple Art of Bhubaneswar', *Proceedings of the National Seminar on River Valley Civilization of Chhatisgarh and New Researches in Indian Archaeology*, Directorate of Culture and Archaeology, Raipur, 2012, p. 290.
3. *Ibid.*
4. Nagar, S. L., *Sūrya and Sun Cult (In Indian Art, Culture, Literature and Thought)*, New Delhi, 1995, p.196.
5. Nagar, S.L., *Composite Deities in Indian Art and Literature*, New Delhi, 1989, pp.1-5.
6. Williams, Monier Monier, '*Religious Thought and Life in India*', pp. 411-12.
7. Personal communication with Prof. A.L. Srivastava of Lucknow University, on 17.01.2012.
8. Behera, K.S., Koṇārka, *The Heritage of Mankind*, Vol. II, New Delhi, 1996, p.224.
9. Padhy, K.P., 'Composite Figure of Hara-Sūrya in Koṇārka Museum', *Expressions in Indian Art (Essays in memory of M.C. Joshi)* Vol. I, Ed. B.R. Mani and Alok Tripathi, Delhi, 2008, pp.199-202.
10. *Ibid.*
11. *Rgveda*, 1.115.3-4; VII, 60-3, VII, 63-2.
12. Banerjea, J.N., *Development of Hindū Iconography*, Calcutta, 1956, p. 385.
13. Nagar, S.L., *Composite Deities in Indian Art and Literature*, p. 60.
14. Rao, T.A.G., *Elements of Hindū Iconography*, I, Pt. II, Madras, 1914-15, p. 316, Pl. XCIV.
15. Chauley, G.C., *Monumental Heritage of Odisha (Art, Architecture, Culture and Conservation)*, Delhi, 2004, pp. 80.
16. Majumdar R.C. and K.K. Dasgupta, *Comprehensive History of India*, III, 2, New Delhi, 1982, p. 885.
17. Chauley, G.C., *op.cit.*, pp. 80-82.
18. Bhattacharya, D.C., *Iconology of Composite Images*, New Delhi, 1980, p. 20.
19. Nagar, S.L., *Sūrya and Sun Cult (In Indian Art, Culture, Literature and Thought)*, p.199.
20. Banerjea, J.N., *op.cit.*, p. 216.
21. Biswas T.K. and Bhogendra Jha, *Gupta Sculptures in the Bhārata Kalā Bhavan*, Varanasi, 1985, p. 51.
22. Banerjea, J.N., *op.cit.*, pp. 549-50
23. Behera K.S., *op.cit.*, p. 216.





Fig.1: Hara-Sūrya, Konark Museum



Fig.2: Hara-Sūrya, beki of Magheśvara temple



Fig.3: Sūrya-Narsimha, Bargarh District

Fig.4: Brahmā and Sūrya in
Kaylansundara panel

Fig.5: Virañchi-Nārāyaṇa image, Palia

Fig.6: Rudra Bhaskara, Bhopal Museum



आदिवासी बस्तर का घड़वा-शिल्पः धार्मिक कृतियों के विशेष सन्दर्भ में

शिवशंकर *

पृष्ठभूमि :



बस्तर के ग्रामीण और जनजातीय इलाकों में धातु-कला की एक विशिष्ट परम्परा रही है। यहाँ के धातु-शिल्पियों ने धातु-कला को विशिष्ट और विविध रूपों में प्रस्तुत कर देश के लोकशिल्पों से समृद्ध क्षेत्रों में अपनी एक अलग छवि बना ली है। बस्तर की लोक-संस्कृति वहाँ के लोगों के सामाजिक तथा प्राकृतिक पर्यावरण की साकार प्रस्तुति है। यहाँ की धातु-कला इसी कड़ी को एक सुन्दर और विविधता युक्त आयाम देती हैं। इस माध्यम में आकारित स्थानीय शिल्प इसकी प्राचीनता और कला की भावात्मक श्रेष्ठता को भी अभिव्यक्त करते हैं। बस्तर लम्बे समय तक अपने स्वतंत्र आदिवासी-संस्कृति के लिए जाना जाता रहा है। इस क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति, जो अत्यन्त दुर्गम और जटिल है, इसकी इस परिस्थितियों में बराबर सहयोग करती रही हैं। यहाँ के आदिवासी प्रकृति के समीप अपना उन्मुक्त जीवन जीते हैं जो कभी-कभी इनके भय का कारण भी बनती है। अतिवृष्टि, अकाल, महामारी इनके अन्दर अज्ञात के प्रति आस्था का संचार करते हैं। यही भय इन्हें धर्म और दैवीय स्वरूपों के कल्पना के लिए प्रेरित करता है। अन्य क्षेत्रों के समान ही बस्तर के लोक और आदिवासी-धर्म का यहाँ की लोककला से गहरा संबंध है और यह संबंध तब और प्रगाढ़ और घनिष्ठ हो जाता है जब यह इनके समाज और जीवन को व्यवस्थित करने का माध्यम बन जाता है। इस धर्म से संबंधित उत्सव और कर्मकाण्ड इनकी कलाओं के लिए एक उपयोगी पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं। साथ ही इनके जीवन में आनन्द और उत्साह का संचार करते हैं।

सिंधु-सभ्यता भारत की सबसे प्राचीन नगरीय सभ्यता मानी जाती है। इसे काँस्ययुगीन सभ्यता के अंतर्गत रखा जाता है। धातुओं के प्रचलन के साथ ही मानव ने एक नयी प्रकार के वैज्ञानिक-प्रगति की ओर देखना प्रारम्भ किया। सिंधु-सभ्यता की नर्तकी की मूर्ति और बस्तर के प्रारम्भिक ढोकरा-शिल्प में पर्याप्त समानता देखी जा सकती है। इस मूर्ति की बाँह पर बने छल्ले सम्भवतः ढोकरा-पद्धति में ही बनाए गए थे। आज भी बस्तर में मूरिया गोण्ड-आदिवासी-स्त्रियाँ इस प्रकार के गहने पहनती हैं।

भाषा-परिवार की दृष्टि से छत्तीसगढ़ की जनजातियाँ तीन वर्गों में विभाजित हैं— मुण्डा, द्रविड़ तथा आर्य। इनमें से द्रविड़-परिवार की भाषाओं में कुड़ख, गोण्डी तथा परजी-भाषाएँ छत्तीसगढ़ में आज भी बोली जाती हैं। एम०एस० अन्द्रेनोव का मानना है कि पाकिस्तान के कलात तथा हरिपुर क्षेत्र, क्वेटा तथा कराची क्षेत्र के साथ सीमा से लगे हुए अफ़गानिस्तान में ब्राहुई नामक द्रविड़-परिवार की भाषा बोली जाती है। ब्राहुई छत्तीसगढ़ में प्रयुक्त द्रविड़-परिवार की भाषाओं का मूल उत्स है। छत्तीसगढ़ के आधुनिक द्रविड़ों के पूर्वज सिंधु घाटी-क्षेत्र से तीन धाराओं में यहाँ आये। पहला कबीला कुडुरव या ओरॉव-भाषियों का था जो 2500 ई० पू० में छत्तीसगढ़ आया। दूसरा कबीला गोण्डीभाषियों का है, जो ईसा पूर्व 1500 ई० पू० में छत्तीसगढ़ आया तथा तीसरा कबीला परजीभाषियों का है जिसका पदार्पण 1200 ई० पू० में हुआ। अन्द्रेनोव की उक्त कालगणना भाषाविज्ञान के मान्य सिद्धान्त 'भाषा कालक्रम विज्ञान' पर आधारित है और इसपर विवाद की कोई गुंजाइश नहीं है। इस प्रकार यह निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि छत्तीसगढ़ के कबीले सिंधु घाटी-सभ्यता के संवाहक रहे हैं। विशेषज्ञों की मान्यता है कि उक्त सभ्यता 2300 ई० पू० से 1750 ई० पू० तक फली-फूली थी और उसका जीवनकाल 500 वर्षों तक रहा। इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि उक्त अवधि तक यह सभ्यता छत्तीसगढ़ में भी

* यू०जी०सी० नेट, शोध-छात्र (निर्देशिका : डॉ० ज्योति रुहेला),
कला-इतिहास-विभाग, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी-221
005 (उ०प्र०), ई-मेल : shankarshiv87@gmail.com

विकसित हुई होगी। तदनुसार छत्तीसगढ़ में हड़प्पाकालीन सभ्यता का प्रवेश हुआ और वह यहाँ के पूर्व-प्रचलित नव्यपाषाणयुग की सभ्यता से घुल-मिल गयी। उक्त पश्च-हड़प्पा-संस्कृति 1800 ई० पू० से 1000 ई० पू० तक छत्तीसगढ़ में विकसित हुई जोकि कार्बन-14 की तिथि-गणना से सिद्ध होता है। इसी के बाद छत्तीसगढ़ में एक नये युग का प्रारम्भ होता है, जिसे हम 'लौह-युग' कहते हैं।

सरगुजा के ओराँवों में वीर राजा कड़ख एक मिथकीय नायक है तथा उन्हीं के नेतृत्व में ओराँव जनजाति सिंधु घाटी से बहिर्गमनकर छत्तीसगढ़ आयी। 'कड़खडण्डी' (ओराँव का गाथा महाकाव्य) में इसका उल्लेख बार-बार हुआ है—

**‘री नन्हें पुरखर रहेचर रे
सिंधु घाटी ती इत्तियर।’**

अर्थात् हमारे पूर्वज सिंधु घाटी से उतरकर सरगुजा आये। बस्तर के 'लिंगोपाटा' नामक गाथा-महाकाव्य में भी वर्णित है कि गोड़ो के सांस्कृतिक नायक लिंगो के नेतृत्व में गोड़ बस्तर आए थे। चक्रकोट के छिन्दक नाग राजवंश (760-1324 ई०) भी अपनी उत्पत्ति सिंधु घाटी से मानते हैं। बस्तर के महापाषाणी जीवन्त संस्कारों से यही सत्य उद्घाटित होता है (शुक्ल : 30-32:2007)।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह सिद्ध होता है कि सिंधु-सभ्यता का संबंध छत्तीसगढ़ से रहा है तथा वहाँ की कला और संस्कृति ने इस क्षेत्र के विकास को प्रभावित किया था। इससे यह भी सम्भव है कि वहाँ की धातु-कला भी इस क्षेत्र में प्रचलित हुई हो।

छत्तीसगढ़ में परम्परागत रूप से तीन जातियाँ धातु-शिल्प का निर्माण कर रही हैं। बस्तर के घड़वा, सरगुजा के मालार तथा रायगढ़ के झारा-कलाकार इन शिल्पों का निर्माण कर रहे हैं। बस्तर के धातु-कलाकारों को 'घड़वा' कहा जाता है। यह जाति लगभग पूरे बस्तर-क्षेत्र में फैली हुई है, परन्तु कोण्डगाँव में इनका विशेष संकेन्द्रण है। जगदलपुर में पहले काफी संख्या में घड़वा निवास करते थे, परन्तु अब वहाँ प्रायः कोई घड़वा-कलाकार नहीं रहता। कोण्डगाँव में यह एक लघुद्योग का रूप ले चुका है। विजय (2005 : 165) ने जगदलपुर में गंगा मुण्डापारा, घड़वापारा और बैला बाज़ार में घड़वा-लोगों के निवास का उल्लेख किया है, परन्तु बस्तर में क्षेत्र कार्य के दौरान इन स्थानों पर मैंने कोई घड़वा-परिवार नहीं देखा। 'घड़वा' शब्द का अर्थ आकार गढ़ने से उत्पन्न हुआ माना जाता है और यह नाम उन्हें ताँबे और काँसे की आकृतियाँ बनाने के कारण दिया गया है। इनकी उत्पत्ति के बारे में अनेक कहानियाँ हैं। ये समकालीन राजा द्वारा सबसे पहले शिल्पकार के रूप में सम्मानित हुए थे। कुछ क्षेत्रों में इन्हें घासिया,

कसेर, मान्गन और विश्वकर्मा कहा जाता है। इनकी उत्पत्ति के बारे में रहस्य बरकरार है। कुछ लोग यह मानते हैं कि ये मुख्यतया बस्तर के ही हैं। और कुछ लोग ऐसा नहीं मानते हैं। उनके लोकविश्वास, रहन-सहन आदिवासियों से नहीं मिलते हैं और बस्तर के आदिवासियों के बीच इनकी स्थिति निम्न श्रेणी की है। बस्तर के विविध भागों में रहनेवाले घड़वा विविध भाषाएँ बोलते हैं। अबुझमाड़ में अबुझमारिया एवं अबूझमाड़ के बाहर मारिया, गोण्डी, हल्बी, भतरी, दोरला और छत्तीसगढ़ी बोलते हैं। जो लोग घोटुल-परम्परा के पास रहते हैं, इसका व्यवहार करते हैं। जो घड़वा बस्तर को अपना मूलस्थान नहीं मानते, वे अपनी उत्पत्ति को ओड़ीसा से मानते हैं। स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार सैकड़ों साल पहले जब राजा ने अपना महल बनवाया तो उन्होंने देवी दंतेश्वरी की मूर्ति बनाने के लिए ओड़ीसा से पाँच घड़वा-परिवारों को यहाँ बुलवाया और यहाँ बसाया। यह विचार केवल एक परिवार का है।

श्री मनाहर अपने लेख में बताते हैं कि घड़वा अपनी शिल्पकला से संबंधित कोई कथानक नहीं जानते। उनके अनुसार रूथ रीवेन्स और मीरा मुखर्जी ने इनके बारे में किसी कथानक का जिक्र नहीं किया है। स्थानीय शिल्पकार जयदेव बघेली एक कहानी बताते हैं, यद्यपि यह किसी अन्य नहीं दुहराया है। यह कहानी एक प्रागैतिहासिक मानव से जुड़ी हुई है जिसमें एक शिकारी का उल्लेख है। उस शिकारी को पहाड़ पर एक आग दिखाई देती है जिसे देखकर वह वहाँ जाता है और वहीं से एक ठोस चमकता टुकड़ा ले आता है। उसे पहाड़ पर महसूस होता कि वहाँ दरार पड़ रही है, जो सम्भवतः गर्मी के कारण है। उस विचित्र टुकड़े को वह अपनी गुफा में ले आता है तथा अपने पास रख लेता है। उसकी जिज्ञासा उसे पर्वत पर पुनः जाकर बारीक निरीक्षण करने के लिए प्रेरित करती है। वहीं उसने मधुमक्खी का मोम, दीमक के बाँबी की मिट्टी और धातु को देखकर वर्तमान समय के 'मधुच्छिष्ट विद्या' का अनुमान लगाया। उसने इस विद्या में प्रयोग आरम्भ किया और दन्तेश्वरी माता की प्रथम प्रतिमा का निर्माण किया (मनोहर : 1996 : 77)।

इल्विन का मानना है कि घड़वा जाति यहाँ 1704 ई० से है। स्थानीय आदिवासी इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं (1947 : 13)। केदारनाथ ठाकुर ने ओड़ीसा से आए हुए लोगों में घासिया जाति का उल्लेख किया है (1908 : 40)। ग्रिगसन महोदय के अनुसार धातु या काँसे की ढलाई करनेवाले को हिंदू और मारिया लोग घासिया बुलाते हैं। यह नाम इन्हें मध्यभारत में छोटानागपुर और ओड़ीसा में कहीं दिया गया है जहाँ ये अछूत और नीच जाति

के रूप में जाने जाते हैं। यह जाति घास काटने और घोड़ों की देखभाल का काम करती थी, जबकि इनमें से कुछ लोग बालों के लिए या जुलाहों के करघे के लिए कंधियों का निर्माण करते थे। बस्तर में, जहाँ ये प्रशिक्षित कलाकार हैं, मूरिया लोग इन्हें अत्यन्त तिरस्कार की दृष्टि से देखते हैं, वहीं मारिया लोग इन्हें 'घड़वा' कहते हैं। बाहरी शारीरिक बनावट में ये और उनके मूरिया पड़ोसी थोड़े भिन्न हैं। ऐसा लगता है कि ये इस आदिवासी-समाज में नये रूप में समाहित हुए हैं। रोहेल्ला व्यापारी और जमीन्दारियों का प्रबन्ध करनेवाले घासिया लोगों को मारिया-आदिवासियों से पैसे वसूलने के लिए रखते थे। ऐसा इसलिए है कि मारिया लोग यह मानते हैं कि घासिया-जैसे नीच जाति के घर के पास आने से घर की पवित्रता भंग होती है और उनके गन्दी उपस्थिति के लिए रुपये चुकाने होते हैं (ग्रिगसन : 1938 : 179)। माइकल पोस्टल और जैरिन कूपर के अनुसार 'घड़वा' शब्द की उत्पत्ति सम्भवतः 'घड़ा' शब्द से हुई है। ये लोग पुराने टूटे बर्तन से नये बर्तन बनाते थे (2000 : 81)। अमिताभ सरकार और समीरा दासगुप्ता के अनुसार घड़वा शब्द की उत्पत्ति 'गलना' शब्द से हुई है, जिसका अर्थ होता है पिघलना, क्योंकि ये धातु को गलाकर डोकरा-कला बनाते हैं (1996 : 82)। यह धातु-ढलाई की अत्यन्त प्राचीन प्रक्रिया है जो मध्यभारत के कई क्षेत्रों के शिल्पकारों द्वारा अपनाई जाती है। मध्यप्रदेश, ओड़ीशा, पश्चिम बंगाल, बिहार में ऐसे लोकशिल्पकार रहते हैं, जो स्थानीय लोगों के लिए धार्मिक उपयोग की वस्तुएँ बनाते हैं। 'डोकरा' शब्द की उत्पत्ति 'डोकरा डामर' आदिवासियों से भी मानी जाती है। यह जाति लगभग 400 वर्षों से 'मधुच्छिष्ट विद्या' में धातुओं की ढलाई करती आ रही है। इसका प्रारम्भिक उदाहरण मोहनजोदड़ों से मिली नर्तकी की मूर्ति है, जिससे पता चलता है कि डोकरा या बेलमेटल तबसे प्रयोग में आ रहा है (ब्रोसर, 2009 : 12)। गोण्डी में डोकरा का अर्थ होता है पुराना। बूढ़े-बूढ़ी की जोड़ी को भी बस्तर में डोकरा कहा जाता है। स्थानीय डोकरा-शिल्पकार जयदेव बघेली का भी मानना है कि यह कला सिंधु-सभ्यता से जुड़ी हुई है।

तकनीक :

बस्तर के ग्रामीण इलाकों में रहनेवाले शिल्पकार कभी-कभी अपने कुशल हाथों से ऐसे रूपों का सृजन करते हैं जो शास्त्रीय कला की उत्कृष्ट कृतियों को भी मात देती हैं। यह लोकशिल्प इसलिए भी ज्यादा महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि ये कृतियाँ बेहद अविकसित और आदिम उपकरणों से बनाई जाती हैं जिसमें ज्यादातर कलाकार का परम्परागत कौशल ही काम आता है। बस्तर के लोकशिल्पकार अपने ग्रामीण और जनजातीय क्षेत्रों में मिलनेवाली

प्राकृतिक सामग्री के माध्यम से ही इन कृतियों की रचना करते हैं जिससे इनका जीवनचक्र भी चलता रहता है और पर्यावरण का संतुलन भी बना रहता है। बस्तर के लोकशिल्प का स्वरूप और सामाजिक स्थित उतनी ही महत्वपूर्ण है जितनी कि इनकी निर्माण-प्रक्रिया, जो इन शिल्पों की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। इनकी निर्माण-प्रक्रिया और तकनीक के अध्ययन के बिना इन कृतियों का पूर्ण मूल्यांकन सम्भव नहीं है।

डोकरा-शिल्प की निर्माण-प्रक्रिया :

डोकरा या बेलमेटल-शिल्प छत्तीसगढ़ का सबसे महत्वपूर्ण हस्तशिल्प है। इसी कला के माध्यम से सर्वप्रथम बाहरी क्षेत्रों के लोगों का ध्यान बस्तर के समृद्ध लोकशिल्पों की ओर आकृष्ट हुआ। इस क्षेत्र में मधुच्छिष्ट-विद्या से इन कृतियों का निर्माण किया जाता है।

छत्तीसगढ़ में रायगढ़, बस्तर और सरगुजा ज़िले के धातु-कलाकार उत्तम प्रकार के बेलमेटल-शिल्पों की रचना करते हैं। परम्परागत रूप से बस्तर के घड़वा, सरगुजा के मालार तथा रायगढ़ के झारा जाति के लोग डोकरा-कला का निर्माण करते हैं। ये सभी कलाकार मधुच्छिष्ट-विद्या में इन कृतियों का निर्माण करते हैं, परन्तु सभी स्थानों के कलाकारों के काम में कुछ मौलिक अन्तर है। यह अन्तर इनके द्वारा प्रयोग की जानेवाली सामग्री और निर्माण-प्रक्रिया में है। इसके साथ इन स्थानों पर परम्परागत निर्माण-प्रक्रिया और वर्तमान निर्माण-प्रक्रिया में भी अन्तर है। वर्तमान समय में मांग के अनुसार और जागरूकता के कारण इनकी तकनीक में अन्तर आ गया है। इस आधार पर इनके निर्माण प्रक्रिया को दो भागों में बाँटा जा सकता है— 1. परम्परागत निर्माण प्रक्रिया एवं 2. गैर-परम्परागत अथवा आधुनिक निर्माण-प्रक्रिया।

परम्परागत निर्माण-प्रक्रिया :

डोकरा-निर्माण के लिए पहले संबंधित आकृति की एक प्रथमकृति (कोर) बनाई जाती है। इसे बनाने के लिए मिट्टी, गाय के गोबर, धान की भूसी को 2:1:1 में मिलाकर एक मिश्रण बनाते हैं। कुछ स्थानों पर गाय के गोबर के स्थान पर बकरी की लीद भी मिलाते हैं जो गाय के गोबर की अपेक्षा ज्यादा अच्छी मानी जाती है। कुछ जन मिश्रण में धान की भूसी के स्थान पर बालू मिलाते हैं। रायगढ़ के झारा और सरगुजा के मालार धान की भूसी मिलाते हैं जबकी बस्तर के घड़वा ज्यादातर बालू मिलाना पसन्द करते हैं। इसे बनाने के लिए पहले नदी के तलहटी की मिट्टी को बारीक कूट लेते हैं (देखें चित्र 1)। यदि बकरी की लीद मिला रहे हैं तो इसे पानी में अच्छी प्रकार भिगोकर गूथने के बाद मिट्टी में मिलाते

हैं। इस मिश्रण को अच्छी प्रकार गूथते हैं। अच्छी प्रकार गूथकर तैयार होने के बाद यह मिश्रण इतना मुलायम हो जाता है कि आसानी से इसे किसी भी रूप में परिवर्तित किया जा सकता है। इसे 'मनमाटी' कहा जाता है। अब इससे इच्छित आकृति की प्रथमकृति बनाई जाती है। यह एक साधारण कृति होती है और इसमें आँख, नाक और अन्य अभिप्राय नहीं होते हैं (देखें चित्र 2)। तैयार होने के पश्चात् इसे धूप में सूखने के लिए छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार के मनमाटी से प्रायः 30 सेमी तक के शिल्प बनाए जा सकते हैं, परन्तु जब इससे भी बड़ा मूर्ति-शिल्प बनानी हो तो नदी की मिट्टी के स्थान पर चावल के खेत की मिट्टी ली जाती है। इससे थोड़ा ज़्यादा मात्रा में धान की भूसी मिलाई जाती है तथा इससे मूर्ति का पहला कोर बनाया जाता है। इसके बाद बालू और मिट्टी का मिश्रण लगाया जाता है।

मोम की तैयारी :

इसके पश्चात् मोम के धागे के लिए मधुमक्खी का मोम लाया जाता है। मधुमक्खी का मोम स्थानीय जंगलों में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। अच्छे काम के लिए मोम का शुद्ध होना बहुत ज़रूरी है। अतः मोम को आग पर एक बर्तन में गलाया जाता है। अब इसे स्वच्छ सूती कपड़े में ठण्डे पानी में छाना जाता है, जिसके पश्चात् मोम को किसी भी अशुद्धि से बचाया जाता है। अब मोम को 'पिचकी' नामक उपकरण में रखकर दबाया जाता है (देखें चित्र 3)। यह एक यंत्र होता है जिसमें नीचे छेद बने होते हैं। इसमें मोम को डालकर ऊपर से दबाने से नीचे पर मोम के धागे निकलते हैं। इस धागे को एक लकड़ी के स्टैंड पर लटका दिया जाता है, जिससे ये आपस में चिपके नहीं और सीधे बने रहें। बस्तर में शुद्ध मधुमक्खी का मोम घड़वा लोगों द्वारा उपयोग में लाया जाता रहा है, परन्तु सरगुजा के मालार और रायगढ़ के झारा रेजिन का प्रयोग मधुमक्खी के मोम के विकल्प के रूप में करते हैं। ओड़ीशा के परम्परागत शिल्पकार मोम में रेजिन मिलाते हैं। इसके साथ ही वे इस तकनीक में कुछ और भी प्रयोग करते हैं। शुद्ध मोम और रेजिन से तैयार कृतियों में कुछ अन्तर रहता है। शुद्ध मोम आसानी से बाहर निकल जाता है जबकि रेजिन पूरी तरह बाहर नहीं निकलता है और अपने निशान छोड़ देता है। रेजिन की अपेक्षा मोम की सतह चिकनी होती है। सरगुजा के मालार लोग धुवन या रेजिन का प्रयोग ज्यादा करते हैं।

रेजिन तैयार करने की विधि :

रेजिन यहाँ साल के वृक्ष की लकड़ी से प्राप्त किया जाता है। इसके लिए इसे बेहद छोटे टुकड़ों में तोड़ा जाता है और आग पर उबाला जाता है। उबलते समय ही इसमें सरसों के तेल को

धीरे-धीरे मिलाते हैं। 2 किलो रेजिन में लगभग 1.5 किग्रा तेल मिलाया जाता है। जब मिश्रण उबलने लगता है, तो इसमें लोहे की गर्म छड़ डालते हैं। जब वह आग पकड़ लेता है तो माना जाता है कि रेजिन तैयार हो गया है। अब इसे पानी में डालकर ठण्डा किया जाता है। ठण्डा होने पर इसे छोटे टुकड़ों में तोड़ लिया जाता है और कोयले की आँचपर हल्का गर्मकर इससे धागे बना लिए जाते हैं (देखें चित्र 4)।

मोम अथवा रेजिन के धागे बन जाने के पश्चात् इसे आकृति के ऊपर लपेटा जाता है। एक-के-बाद-एक धागे को कोर पर कुशलतापूर्वक लपेटा जाता है (देखें चित्र 5)। जब धागा पूरी सतह को अच्छी प्रकार ढक लेता है तो इसे चिकना किया जाता है और कृति पर मोम की एक चिकनी सतह बना दी जाती है। इस समय प्रायः कलाकार धूप में बैठता है जिससे मोम गर्मी पाकर आसानी से चिकना हो जाए। इस गर्मी से कोर और मोम अच्छी प्रकार गर्म हो जाते हैं और आपस में मिल जाते हैं। सतह को अच्छी प्रकार चिकना करने के बाद कलाकार अन्य अवयवों पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। अब मोम के धागे से ही अन्य अलंकरण, गहने, अभिप्राय और अन्य उपकरण बनाए जाते हैं। हथियार और सिर ठोस मोम के बनाए जाते हैं। आँख, नाक और अन्य अभिप्राय भी इसी से बनाए जाते हैं। यह क्रिया संपन्न होने के बाद धातु के सुचारु प्रवाह के लिए मोम की छोटी डण्डियाँ जोड़ी जाती हैं। यह डण्डी उस तरफ़ लगाई जाती है। जिस तरफ़ से धातु का प्रवाह आकृति में करना होता है और कुल्हिया जोड़नी होती है यह मोम की डण्डी इतनी मोटी रखी जाती है कि धातु आसानी से कोर में प्रविष्ट हो सके। अब पूरे आकृति को चिकनी मिट्टी की एक पतली परत से ढका जाता है। इसके पश्चात् धान की भूसी और दीमक के बाँबी की मिट्टी की एक मोटी परत से आकृति को ढक देते हैं। यह आखिरी परत इसलिए लगाई जाती है कि धातु के दबाव से आकृति न फटे और यह कठोर बनी रहे। इसके पश्चात् इसे सूखने के लिए छोड़ देते हैं। अब कोर पर कुल्हिया जोड़ने का काम शुरू होता है। धातु के लिए रास्ता बनाने के लिए मिट्टी की नली का प्रयोग करते हैं। इसके ऊपर का भाग छोटी कुल्हियानुमा होता है। पाइप के ऊपरी हिस्से को मोम के ऊपरी हिस्से से जोड़ा जाता है तथा ऊपरी हिस्से को कीपनुमा कुल्हिया से। अब एक बाँस की पतली डण्डी को इसके बीच डाला जाता है जिससे की मोम तक सीधा रास्ता बन जाए। जब यह सूख जाता है तो डण्डी निकाल ली जाती है।

आकृति के लिए जो मोम प्रयोग किया जाता है, उसे पहले ही तोल लिया जाता है। धातु और मोम में 10:1 का

अनुपात रहता है। यदि मोम एक ग्राम है, तो 10 ग्राम धातु लिया जाता है। इस काम में प्रायः जो धातु लिया जाता है, वह स्थानीय बाज़ार से टूटे-फूटे बर्तन के रूप में खरीदा जाता है। ऐसे बर्तन स्थानीय बाज़ार में कम दाम में मिल जाते हैं, परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि कलाकार धातु के मामले में असावधानी बरतते हैं। वे बड़ी सावधानी से अच्छी धातु का चयन करते हैं और अच्छी प्रकार के धातु का ही प्रयोग करते हैं। इन धातुओं को पहले छोटे-छोटे टुकड़ों में काटते हैं। और इसे पहले से जोड़े गए कीपनुमा कुल्लिया में रख देते हैं तथा ऊपर से दूसरी कुल्लिया से ढककर धान की भूसी और मिट्टी से अच्छी प्रकार से जोड़ देते हैं। इसके उपरान्त ढलाई के लिए एक पूरी आकृति तैयार हो जाती है (देखें चित्र 6)।

ढलाई की भट्ठी :

बस्तर में घड़वा-कलाकारों द्वारा प्रयोग की जानेवाली परम्परागत भट्ठी भूमिगत होती है और अग्नि छिद्र सीधा बेलनाकार होता है। इसका निचला हिस्सा हवा आनेवाले एक रास्ते से जुड़ा रहता है, जिसे भूमि के अन्दर से खोदकर बनाया जाता है जो एक ओर से भट्ठी से जुड़ा रहता है। भट्ठी के अन्दर का हिस्सा गाय के गोबर से अच्छी प्रकार से लीपा रहता है और पूरी तरह से स्वच्छ रखा जाता है। हवा आने का दूसरा हिस्सा धौंकनी से जुड़ा रहता है जो प्रायः गाय या भैंस के चमड़े का बना होता है।

ढलाई :

ढलाई इस प्रक्रिया की सबसे महत्वपूर्ण कड़ी होती है। छोटी-सी लापरवाही पूरे कार्य को बरबाद कर सकती है। इसके लिए भट्ठी में साल के लकड़ी की कोयले की एक परत लगाई जाती है। इसपर आकृतियों को सीधा रखा जाता है। सबसे नीचे कुल्लियावाला हिस्सा होता है क्योंकि इसे ही सबसे अधिक आँच की ज़रूरत होती है। अब इसके ऊपर लकड़ी को इस प्रकार से रखते हैं कि वह आकृति को सीधा खड़ा रखे। नीचे लकड़ी का कुन्दा सूखा होता है तथा ऊपर की लकड़ी का कुन्दा हरा होता है जो आँच को ज़्यादा होने से रोकता है। यदि आँच अधिक हो जाएगी, तो वह मिट्टी की आकृति को तोड़ सकता है। पकाने की प्रक्रिया दो से तीन घण्टे चलती है और इस दौरान आग को लगातार हवा दी जाती है। पकाने की प्रक्रिया के दौरान लगातार सावधानी बरती जाती है और बड़े ध्यानपूर्वक इस प्रक्रिया की देख-भाल की जाती है। जब धुआँ निकलना पूरी तरह बन्द हो जाता है और आकृति गन्धक के समान पीली हो जाती है तो कलाकार चिमटे और सड़सी की सहायता से मोल्ड को उठाकर हिलाते हैं और फिर पलट देते हैं। अब कुल्लियावाला भाग ऊपर

आ जाता है और धातु नीचे जाकर मोम द्वारा छोड़े गए स्थान को भर देता है। एक घण्टे तक उसे ठण्डा होने दिया जाता है। फिर इसपर पानी छिड़कते हैं तथा अच्छी प्रकार ठण्डा होने पर इसे तोड़कर मूर्ति को निकाल लेते हैं।

फिनिशिंग :

जब आकृति को साँचे से निकाल लिया जाता है, तब फिनिशिंग का कार्य आरम्भ होता है। काफी हद तक ढलाई अच्छी आती है, केवल कुछ निकले हुए स्थान तथा हवा के बुलबुलों को ठीक किया जाता है तथा इनको भरा जाता है। इसके उपरान्त आकृति को नदी के किनारे ले जाकर बालू से रगड़ते हैं जिससे कि आकृति में एक साफ और चमकदार मुलायम प्रभाव आ जाए।

डोकरा-कला में गैर-परम्परागत तत्त्व :

अपने शोध-कार्य के दौरान मैंने बस्तर में लम्बे समय तक क्षेत्र-कार्यकर कला में लम्बे समय से आए परिवर्तनों का बारीक अध्ययन किया। डोकरा-कला की परम्परागत तकनीक में कई परिवर्तन आ गए हैं। यह परिवर्तन सामग्री, उपकरण, विषय, तकनीक, मांग— सभी में आए हैं। अब डोकरा-कृतियों की मांग बस्तर के बाहर बड़ी संख्या में होने लगी है। इस कारण उन कलाकारों को तेजी से कृतियों का निर्माण करना होता है। परम्परागत तकनीक में तेजी से और बड़ी संख्या में कृतियों का निर्माण नहीं किया जा सकता। इसी कारण परम्परागत तकनीकों में कुछ परिवर्तन आए हैं। अब इस कला में मशीनों का प्रयोग भी होने लगा है। पहले बस्तर के शिल्पकार शुद्ध मोम का प्रयोग करते थे, परन्तु अब यहाँ के कलाकार बड़ी संख्या में रेजिन का प्रयोग करने लगे हैं। प्रायः मोम और रेजिन को बराबर मात्रा में प्रयोग किया जाता है।

साधारण कृति का निर्माणकर उसे मोम से ढकने और फिर दीमक की बाँबी की मिट्टी लगाने तक की प्रक्रिया समान रहती है, परन्तु अब धातु को कुल्लिया में रखकर आकृति से नहीं जोड़ा जाता है। अब इसके स्थान पर एक कीपनुमा संरचना बनाकर छोड़ दी जाती है (देखें चित्र 7)। इसके पश्चात् धातु को अलग से एक विशेष प्रकार के पात्र में भट्ठी में पिघलाया जाता है और कलखुलनुमा यंत्र से इसमें धातु भर दिया जाता है। आकृति में धातु भरने से पहले उसे अच्छी प्रकार एक भट्ठी में पकाया जाता है। आकृति को पकाने तथा धातु को गलाने के लिए एक विशेष प्रकार का कोयला मशीन द्वारा तैयार किया जाता है (देखें चित्र 8)। इसके लिए धान की भूसी तथा पुआल को एक मशीन में आधा जलाया जाता है (देखें चित्र 9)। फिर चिकनी मिट्टी में मिलाकर एक दाब मशीन से कोयला बना लिया जाता है।

अब ढलाई के पश्चात् कृति का बालू से नहीं रगड़ा जाता है। अब इसे 'फरनी' नामक यंत्र से रगड़ा जाता है (देखें चित्र 10) और फिर बफिंग-मशीन से चमकाया जाता है (देखें चित्र 11)।

मशीनों के प्रयोग होने से कला में बहुत परिष्कार आ गया है। कई कृतियाँ तो आदिवासी-कलाकारों द्वारा बनाई गई लगती ही नहीं हैं। अब ये कलाकार आदिवासी देवी-देवताओं के अतिरिक्त विभिन्न स्थानों से जुड़ी कृतियों का निर्माण करने लगे हैं। ये हिंदू-धर्म से जुड़े देवी-देवताओं की आकृति बनाने लगे हैं। वर्तमान में बननेवाली आदिवासी-देवी-देवताओं की कृतियों में भी पहले की तुलना में काफी परिष्कार आ गया है। सभी परम्परागत घड़वा-शिल्प आदिवासियों के लिए बनाए जाते हैं। इन पर बने अभिप्रायों, जैसे— चाँद, सूरज आदि के मतलब बताने में वे समर्थ नहीं होते हैं। वे केवल इतना बता पाते हैं कि मूरिया लोग इसे चाहते हैं। और मूरिया लोगों के अनुसार ये प्रतीक इसलिए बनाए जाते हैं क्योंकि इनमें दैवी भाव दिखाये जा सकें। कुछ लोगों के अनुसार ये चन्द्रवंशीय राजाओं के व्यक्तिगत चिह्न हैं।

बस्तर के घड़वा-शिल्पकारों द्वारा मूर्ति के अतिरिक्त धार्मिक उत्पादों में तुरही एक प्रमुख उत्पाद है। इसका उपयोग धार्मिक त्योहारों, जैसे— शादी-विवाह, धार्मिक अनुष्ठानों और मुख्य रूप से जुलुसों में किया जाता है। इसके अतिरिक्त कलश और नुकीला शीर्ष भी बनाया जाता है, जो जुलुसों में प्रयुक्त होनेवाले झण्डे के शीर्ष पर लगाया जाता है। यह काष्ठ-स्तम्भ केवल वार्षिक उत्सवों पर ही निकाला जाता है। डोली एक दूसरी प्रमुख धार्मिक कृति है, जिसके निर्माण में घड़वा सहयोग देते हैं। इसी डोली में देवी की मूर्ति रखी जाती है, जिसमें पीतल की घंटियाँ लगाई जाती हैं। बस्तर के घड़वा-शिल्पकार परम्परागत रूप से धार्मिक आदिवासी-देवी-देवताओं की मूर्तियों का निर्माण करते रहे हैं, जिनमें से कुछ उदाहरण निम्नवत् हैं—

दन्तेश्वरी देवी :

देवी दन्तेश्वरी बस्तर की अधिष्ठाता देवी हैं तथा वह बस्तर के महाराज की कुलदेवी भी हैं। इनका एक मन्दिर बस्तर के राजमहल के बाहर भी बनाया गया है। कुछ विद्वानों का मानना है कि बस्तर की घड़वा-कला में बननेवाली प्रथम मूर्ति देवी दन्तेश्वरी की ही थी। विशाल भू-भाग में फैले बस्तर को यदि देवी-देवताओं की भूमि कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। यहाँ हर गाँव के अपने देवी-देवता होते हैं। लकड़ी की पालकी में सिन्दूर से सने और रंग-बिरंगे फूलों की माला से सजी विभिन्न आकृतियोंवाली आकर्षक देवियों की मूर्तियाँ प्रत्येक 'देवगुड़ी' में देखने को मिल जाएँगी। सम्पूर्ण बस्तर की अधिष्ठाता दन्तेश्वरी देवी हैं जो यहाँ के

काकतीयवंशीय राजाओं की कुलदेवी हैं। इन्हें शक्ति का प्रतीक माना जाता है। शंखिनी और इकनी नदी के बीच में देवी दन्तेश्वरी का भव्य मन्दिर है। ऐसा माना जाता है कि बस्तर के दन्तेवाड़ा ज़िले में देवी का एक दाँत गिरने के कारण यहाँ देवी दन्तेश्वरी नाम से प्रतिष्ठित हुई।

बस्तर की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि राजा प्रतापरुद्र देव के साथ देवी दन्तेश्वरी आंध्रप्रदेश के वारंगल राज्य से यहाँ आयीं। मुगलों से परास्त होकर राजा इधर-उधर भटकने लगे थे। वे देवी के महान् साधक थे, अतः वे देवी की शरण में गये। तब देवी का निर्देश हुआ कि माघ शुक्ल पूर्णिमा के दिन तुम घोड़े पर सवार होकर अपनी विजय-यात्रा प्रारम्भ करो। जहाँ तक तुम्हारी विजय-यात्रा होगी, वहाँ तक तुम्हारा एकच्छत्र राज्य होगा। राजा के निवेदन पर देवी माँ ने उनके साथ चलना स्वीकार कर लिया, परन्तु यह शर्त रखी कि राजा पीछे मुड़कर नहीं देखेंगे। अगर उन्होंने पीछे देखा तो देवी आगे नहीं बढ़ेंगी। देवी के घुघरूँओं की आवाज़ से उनके आगे बढ़ने का आभास होता रहेगा। इस प्रकार राजा ने विजय-यात्रा आरम्भ की और देवी उनके साथ-साथ चलने लगीं। जब राजा की सेना इकनी और शंखिनी नदी को पार करने लगी, तब बालू में पाँव के धंसने के कारण देवी के पायल की आवाज़ आनी बन्द हो गयी। तब राजा ने पीछे मुड़कर देखा और इसके उपरान्त देवी वहीं प्रतिष्ठित हो गयीं। बाद में राजा ने उनके लिए एक भव्य मन्दिर का निर्माण कराया और उनके नाम पर दन्तेवाड़ा नगर बसाया। बस्तर में भी कोई पूजा-अर्चना और त्योहार देवी दन्तेश्वरी की पूजा के बिना संपन्न नहीं होती। कैथरीन हैकर (2000 : 145) ने दन्तेश्वरी की मूर्ति को केवल हाथी पर बनाए जाने का उल्लेख किया है, परन्तु मैंने क्षेत्र-कार्य के दौरान ऐसी अनेक मूर्तियों का पता लगाया जो झूले पर भी बनाई गई हैं। कभी-कभी उन्हें अन्य देवी-देवताओं के साथ भी बनाया जाता है। देवी दन्तेश्वरी की एक प्रमुख और प्रभावशाली मूर्ति बस्तर के प्रसिद्ध शिल्पकार जयदेव बहोली के पिता मनिकराम घड़वा ने बनाई है। मूर्ति में देवी को छत्रयुक्त हौदे में महावत के साथ दिखाया गया है। हौदे को धातु की लटकनों से सुन्दरतापूर्वक सजाया गया है। हाथी को भी इसी प्रकार सजाया गया है। हाथी के पैर में पहिये भी लगाए गए हैं (देखें चित्र 12)।

मावली देवी

मावली देवी बस्तर की दूसरी सबसे बड़ी देवी हैं लेकिन इनका सम्प्रदाय विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है। बस्तर के अतिरिक्त इनका प्रभाव छत्तीसगढ़ के अन्य क्षेत्रों में भी

देखा जाता है। क्षेत्रकार्य के दौरान मैंने कई पुजारियों और गाँववालों से साक्षात्कार के द्वारा इस देवी के विषय में कई जानकारीयों प्राप्त कीं। राजस्थान से आनेवाले व्यापारी अपनी भू-देवी को 'मावली' नाम से जानते हैं। वहाँ मावली का अर्थ माता होता है। इन्हीं के प्रभाव में बस्तर के आदिवासी अपनी देवी को 'मावली माता' कहने लगे। बस्तर के जगदलपुर में मावली माता का मन्दिर है। मावली माता का सम्प्रदाय देवी दन्तेश्वरी से भी पुराना माना जाता है। मावली माता को देवी दन्तेश्वरी देवी की बुआ अर्थात् उनके पिता की बहन बताया जाता है। बस्तर के बड़े हिस्से में मावली देवी को भू-देवी और मातृदेवी के स्थान पर स्वीकार किया जाता है। परन्तु जहाँ यह नहीं है, वहाँ पुराना सम्प्रदाय ही प्रचलित है। कुछ गोण्ड-कथानकों में यह कहा गया है कि गोण्ड-देवता लागीगढ़ और दरदमागढ़ से आए हैं जो गोण्डों की पुरानी राजधानी है। जबकि दन्तेश्वरी और मावली माता वारंगल से आई हैं। मावली देवी का नाम किसी भी गोण्ड-कथानक में नहीं आया है, जबकि बस्तर के कथानकों में मावली देवी को दन्तेश्वरी से संबंधित बताया गया है, जो काकतीय-शासकों के साथ वारंगल से बस्तर आयीं। यह कथन कुछ बाद का प्रतीत होता है, जब तालूरमुत्ताई, मावली और देवी दन्तेश्वरी को एकसाथ प्रस्तुत किया गया (महावर : 2011 : 105)। दशहरे के दिन मावली माता और देवी दन्तेश्वरी की डोली को जगदलपुर लाया जाता है। इल्वीन ने इन देवियों के साथ अन्य देवताओं को बस्तर लाए जाने का उल्लेख किया है। मावली देवी की पूजा आदिवासी समुदाय के लोग शिकार पर जाने से पूर्व तथा सुरक्षित लौटने पर करते हैं। इनकी पूजा 'विज्जाय पदुम' या बीजबुटनी उत्सव के पहले भी की जाती है। 'धुरवा' और 'भतरा परद' उत्सव, जो सामूहिक शिकार के समान ही है, के अवसर पर मावली और भू-देवी की पूजा करते हैं।

प्रसिद्ध मानवशास्त्री वेरियर इल्वीन ने मावली माता को 'मावली राई' कहा है और इनका निवास अन्तागढ़ और दन्तेवाड़ा में बताया है। यह नाम उन्होंने वहाँ देवताओं से संबंधित इकट्ठे हुए गीत में कहा है और उन्हें अच्छे 'जोहार' से संतुष्ट करने की बात कही है (इल्विन, 1947 : पृ० 177)। मावली माता को प्रायः घोड़े पर बनाया जाता है तथा उनके हाथ में तलवार दिखाई जाती है। लोक और आदिवासी-धर्म में देवियों को प्रायः हाथी और झूले पर दिखाने की परम्परा रही है, परन्तु इस देवी को घोड़े पर दिखाया जाना ही इसके विशिष्ट परम्परा का उदाहरण है। मावली माता की अधिकांश मूर्तियाँ घोड़े पर सवार प्राप्त हुई हैं, परन्तु कुछ उदाहरण झूले और हाथी पर भी हैं, उदाहरणार्थ—

(क) अपने बस्तर क्षेत्र-कार्य के दौरान मैंने कोण्डागाँव में एक कार्यशाला में मावली की एक बेहद कलापूर्ण मूर्ति देखी। इस मूर्ति में उन्हें एक झूले पर भंगाराम देव के साथ बनाया गया है। झूला बहुत ही आकर्षक और कलात्मक है। इसे एक त्रिकोण रूप में संयोजित किया गया है। झूले के शीर्ष भाग पर छत्र है जिसके नीचे सूर्य की प्रखर आकृति है। त्रिकोण के दोनों शिरों को लपेटते हुए दो सर्पों की आकृति है। झूले पर दोनों देवों को स्थिरतापूर्वक बैठे हुए दिखाया गया है तथा दोनों देवों के सिर पर में फनयुक्त सर्प बने हैं (देखें चित्र 13)।

(ख) मावली माता की एक दूसरी मूर्ति घोड़े पर सवार है। देवी अपने दाहिने हाथ में तलवार पकड़ी हुई हैं। देवी हार तथा मुकुट से सुशोभित हैं। देवी का कूट स्वरूप पूरी तरह बस्तर-शैली में निर्मित हुआ है (देखें चित्र 14)।

परदेशिन माता या बंजारिन माता :

अपने क्षेत्र-कार्य में विभिन्न पुजारियों ने मुझे इस देवी के विषय में बताया। उनके अनुसार यह देवी बस्तर के बाहर से आई हैं। इनकी उत्पत्ति स्थानीय नहीं है, अर्थात् ये बस्तर के स्थानीय देवकुल से नहीं हैं। इनके एक हाथ में मुर्गे की कलगी और दूसरे हाथ में खप्पर दिखाने का विधान है। इसके साथ ही इनका प्रभामण्डल भी काफी बड़ा और प्रभावशाली बनाया जाता है।

परदेशिन माता की एक मूर्ति बस्तर के जगदलपुर-स्थित मानव संग्रहालय में संग्रहीत है। देवी को बंजारों की वेशभूषा में दिखाया गया है। उनके दोनों हाथों में खप्पर है, इनकी प्रभावली को काफी प्रखर रूप में बनाया गया है और इनके शीर्ष पर भी एक खप्पर बनाया गया है (देखें चित्र 15)।

तेलंगिन माता :

तेलंगिन माता को भी तेलुगू (आंध्रप्रदेश) से आई हुई देवी के रूप में स्वीकार किया जाता है। तेलुगू-शासकों का बस्तर पर बहुत समय तक प्रभाव रहा, इसी कारण तेलुगू-लोंगों के साथ उनकी जो देवी बस्तर में आई, उन्हें 'तेलंगिन माता' कहा गया। देवी की जो आकृति घड़वा-कलाकार द्वारा बनाई जाती है, उसका प्रतिमा-लक्षण लगभग व्यवस्थित है। देवी के एक हाथ में त्रिशूल और जीभ बाहर निकली हुई बनाई जाती है जबकि उनके एक हाथ में खप्पर दिखाया जाता है। कभी-कभी खप्पर उनके शीर्ष पर भी दिखाया जाता है। उनकी प्रभावली को सुन्दरतापूर्वक सजाया जाता है। इस देवी को सुन्दर आभूषणों से विभूषित किया जाता है। इन्हें हार, करधनी और सुन्दर मुकुट से अलंकृत बनाया जाता है। इसके अतिरिक्त बाजबूद, कड़े और सुन्दर झूमके भी देवी के कानों में

दिखाए जाते हैं। कभी-कभी इस देवी को अपने त्रिशूल द्वारा अपने जीभ को छेदते हुए दिखाया जाता है और इस प्रकार की मूर्तियों में इनके दूसरे हाथ में तलवार होती है। इस प्रकार के प्रतिमा-लक्षण में उन्हें 'काली तेलंगिन' कहा जाता है। यह स्वरूप तेलंगिन माता से ज्यादा रौद्र होता है।

तेलंगिन माता के दोनों स्वरूप आदिवासी गुड़ियों पर पाए जाते हैं। इस देवी को काला बकरा, काला मुर्गा और भैंसे की बलि दी जाती है। देवी यद्यपि तेलुगू-सम्प्रदाय से हैं, परन्तु बस्तर में इनको सभी आदिवासी पूरी श्रद्धा से पूजते हैं। काली कंकाली का एक बड़ा मन्दिर जगदलपुर में मावली माता के मन्दिर के साथ बनाया गया है।

(क) तेलंगिन माता की दो सुन्दर मूर्तियाँ मैंने अपने क्षेत्र-कार्य के दौरान गाँव के एक देवगुड़ी में देखीं। इन दोनों मूर्तियों को देखने से ही बस्तर में हो रहे डोकरा-कला के प्रगतिशील विकास का अनुमान लगाया जा सकता है। देखने से ही ये मूर्तियाँ पूर्ववर्ती मूर्तियों से काफी परिष्कृत लगती हैं। देवी को बहुत ही व्यवस्थित प्रतिमा-लक्षण के साथ दिखाया गया है। देवी को स्थानक मुद्रा में खड़े हुए बनाया गया है तथा उनकी पीठ पर दो झण्डे लगे हुए हैं जिसपर चन्द्रमा की आकृति बनी हुई है। देवी के एक हाथ में त्रिशूल तथा दूसरे हाथ में मुद्गर के समान कोई शस्त्र है। बंजारिन माता के समान इनका भी प्रभामण्डल विशेष रूप से प्रखर बनाया गया है तथा इसके ऊपर छत्र व्यवस्थित किया गया है। देवी को एक विशेष प्रकार का वस्त्र पहनाया गया है जिसकी नीची पीठ तक लटकी हुई है। इसी के पास सूर्य की आकृति बनी हुई है। देवी को विशेष प्रकार के आकर्षक मुकुट के साथ दिखाया गया है (देखें चित्र 16)।

खण्डा कंकालिन

खण्डा कंकालिन बस्तर की एक प्रमुख देवी हैं। गोण्ड-आदिवासियों में यह देवी विशेष रूप से बलि या खून की देवी के रूप में प्रचलित है। इनके रौद्र स्वरूप और शीघ्र क्रोधित हो जानेवाले स्वभाव के कारण आदिवासी भय के कारण विशेष रूप से इनकी पूजा करते हैं। यह देवी एक हाथ में विशाल खड्ग और दूसरे हाथ में खप्पर लिए रहती हैं। कभी-कभी देवी के जीभ को बाहर निकले हुए दिखाया जाता है। ऐसी मूर्तियों में उन्हें क्रोधित दिखाया जाता है। कभी-कभी इनके दोनों हाथों में खड्ग दिखाया जाता है। ऐसी स्थिति में खप्पर उनके सिर पर दिखाया जाता है। इस देवी की उत्पत्ति असुर-सम्प्रदाय से मानी जाती है और वे मध्यभारत के अगारिया जनजाति में विशेष रूप से पूजित हैं।

बस्तर के पुजारियों के अनुसार खण्डा कंकालिन तेलुगू-क्षेत्र के सभी लोकदेवताओं की माँ हैं। कुछ लोगों का यह भी मानना है कि यह देवी मराठा लोगों के साथ यहाँ आई थीं। यह देवी बस्तर की अत्यन्त प्रभावशाली देवी हैं जो इतनी शक्तिशाली और आक्रामक हैं कि देवता भी इनसे डरते हैं (देखें चित्र 17)।

शीतला माता :

बस्तर के आदिवासी-धर्म में हिंदू-धर्म का गहरा प्रभाव रहा है। इसी कारण हिंदू-धर्म के कई देवी-देवता आदिवासी-समुदाय में भी पूजे जाते हैं, परन्तु यह कहना बहुत कठिन है कि आदिवासियों ने इन्हें हिंदुओं से अपनाया है या हिंदुओं ने इन्हें आदिवासियों से अपनाया है। बस्तर और पूरे छत्तीसगढ़ में शीतला माता की पूजा, छोटी माता/चेचक नामक बीमारी का प्रकोप होने पर की जाती है। शीतला माता और छोटी माता के संबंध में बस्तर में एक कहानी प्रचलित है जो संसार की उत्पत्ति से संबंधित है। इस कथानक के अनुसार प्रलय के समय केवल दो बच्चे कद्दू के खोल के अन्दर छुपकर बच पाए थे। 'महापूरब' ने इन बच्चों को बचाया और सुरक्षित स्थान पर ले गये। जब बच्चे बड़े हो गए, तो उन्होंने इन्हें आपस में शादी करने को कहा जिससे संसार का विकास हो सके। चूँकि वे आपस में भाई-बहन थे, इसलिए उन्होंने शादी करने से इन्कार कर दिया। तब महापूरब ने शीतला माता से कहा कि वे इन बच्चों को छोटी माता का दाग दे दें। ऐसा करने के पश्चात् उन्होंने दोनों को अलग-अलग स्थानों पर छोड़ दिया। जब बहुत सालों बाद वे एक-दूसरे से मिले तो छोटी माता के दाग के कारण एक-दूसरे को पहचान नहीं पाये और इस प्रकार दोनों की शादी हो गयी। शीतला माता की पूजा साल में एक बार सभी आदिवासियों द्वारा की जाती है। घड़वा लोग इनकी मूर्ति को कपड़ों से पूरी तरह ढका हुआ बनाते हैं (देखें चित्र 18)।

पेन्दरवानिन या झिटकू-मितकू :

झिटकू-मितकू बस्तर के आदिवासियों के दैनिक जीवन में प्रचलित सबसे प्रमुख देवता हैं। ये देवता जोड़े के रूप में बस्तर में बहुत प्रचलित हैं। कोण्डागाँव में तो इनके नाम से एक कार्यशाला भी बनी हुई है, जिसमें डोकरा-कृतियों का निर्माण किया जाता है। ये देवता मुख्य रूप से कोण्डागाँव, केशकाल, भानुपूरी और जगदलपुर में विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इस जोड़े में देवी को 'गप्पागोसिन' और 'गोण्डिन माता' के नाम से भी जाना जाता है। जब वह अपने पति के साथ दिखाई पड़ती हैं तो उन्हें 'झिटकू-मितकू' के नाम से जाना जाता है। इन्हें 'गोण्डिन डोकरी' के नाम से भी जाना जाता है। झिटकू देवता होने से पूर्व एक लकड़हारे थे,

इसलिए उनके साथ कुल्हाड़ी हमेशा बनाई जाती है जबकि मिटकू को हाथ में कांदा खोदने के सब्बल के साथ बनाया जाता है। झिटकू-मिटकू बस्तर के ऐसे आदिवासी देवता हैं जिन्हें हमेशा व्यवस्थित प्रतिमा-लक्षण के साथ दिखाया जाता है (देखें चित्र 19)।

बूढ़ी माता :

बस्तर में बूढ़ी माता का सम्प्रदाय भी प्रचलन में है। इन्हें यहाँ अन्य नामों से भी जाना जाता है। अन्तागढ़ में इन्हें 'जमीन्दारिन माता' के नाम से जाना जाता है। इन्हें यहाँ 'परगना देवी' के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। बूढ़ी माता के दोनों हाथ में डण्डा दिखाया जाता है तथा इनकी मूर्तियों पर कोई अलंकरण करने का विधान नहीं है। बूढ़ी माता बच्चों की संरक्षिका देवी मानी जाती हैं, परन्तु क्रोधित होने पर परेशान करती हैं। गर्मी की दोपहर में इनका विशेष प्रकोप माना जाता है (देखें चित्र 20)।

बस्तर के आदिवासी देवता :

बस्तर के आदिवासी और लोकधर्म में देवताओं को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है। बस्तर के आदिवासी धर्म में माता-सम्प्रदाय की अपेक्षा देव-सम्प्रदाय को थोड़ा निम्न स्थान दिया जाता है। इन मूर्तियों में आधुनिक तत्त्वों का समावेश भी देखा जा सकता है। जैसे रावो देव को बन्दूक और पाश्चात्य वेशभूषा में दिखाया जाता है। डॉक्टर देव को हैट पहने हुए दिखाया जाता है। देवता देवियों की अपेक्षा कम हैं। कई देवता या तो वनदेवता हैं या संरक्षक-देवता। वंश देवता अंगा के रूप में अपना प्रतिनिधि रखते हैं। सबसे बड़े देवता को 'महापुरब' कहा जाता है।

बड़ा देव :

बड़ा देव या बूढ़ा देव गोण्डों के सबसे बड़े देवता हैं। बड़े देव मध्यभारत के कुछ अन्य आदिवासियों द्वारा भी पूजे जाते हैं। मूरिया कथानकों के अनुसार बड़े देव तालूरमुत्ताई और कोरेदेंगल के पुत्र हैं। कोरेदेंगल एक वनदेवता हैं और तालूरमुत्ताई एक भू-देवी। पहले वे साल के पेड़ में रहते थे, परन्तु लोहे की खोज के पश्चात् लोहे में रहने लगे। आदिवासी-कथानकों और विश्वास के अनुसार ये महादेव से पृथक् हैं। कुछ जगहों पर बूढ़ी माता से इनका संबंध बताया गया है। परन्तु पूरे छत्तीसगढ़ में यह मत प्रचलित नहीं है। छत्तीसगढ़ में इन्हें भगवान् शंकर से ही जोड़कर देखा जाता है। इनकी मूर्ति डोकरा-शिल्प और लौह-शिल्प— दोनों में बनाई जाती है। डोकरा-शिल्प की एक आकर्षक मूर्ति में इन्हें नन्दी बैल पर सवार दिखाया गया है और इनके सिर पर चन्द्रमा है जो स्पष्ट रूप से शिव का प्रतिमा-लक्षण है (देखें चित्र 21)।

नाग देवता :

नाग देव या कोबरा मूरिया और मारिया के गण चिह्न हैं। इन दोनों ही आदिवासी-समुदायों को नागवंश के रूप में जाना जाता है। ये नागों से उनका विष निकालते हैं। बस्तर में कुछ आदिवासी-समुदाय बरसात के मौसम में एक कोबरा नाग को पकड़ते हैं तथा इसके सिर और पूँछ को नागदेव की गुड़ी पर चढ़ाते हैं और इसके शरीर के बचे हिस्से को पकाकर खाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसके प्रभाव से वे सालभर विष के प्रभाव से बचे रहते हैं। नाग की आकृति को डोकरा-शिल्प में बनाकर गाँव के थान पर रखते हैं। आदिवासी नायक लिंगो का जन्म एक नागिन से माना जाता है। लिंगो सात भाइयों में सबसे छोटे थे जिन्हें कनकदेई रानी और दुरूक साई राजा ने अपना लिया, क्योंकि उन्हें कोई संतान नहीं थी। नाग का अभिप्राय घोटुल के स्तम्भों पर भी उकेरा जाता है (देखें चित्र 22)।

भैरव या भैरव देव :

बस्तर और छत्तीसगढ़ में भैरव देव को लोक और आदिवासी देवता के रूप में विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है। ये 'अय्यनार' के रूप में तमिलनाडु में ग्राम-देवता के रूप में प्रचलित हैं। इन्हें वहाँ मिट्टी में घोड़े पर सवार ग्रामरक्षक के रूप में बनाया जाता है। बस्तर में यही एक देवता हैं जिनकी प्रतिमा मिट्टी में बनती है और गाँव के देवस्थानों पर देखने को मिलती है। ग्रामरक्षक के रूप में ये छत्तीसगढ़ में बहुप्रचलित देवता हैं और इनके अनेक थान वहाँ देखने को मिलते हैं। बस्तर के घड़वा-शिल्पकार भैरव की प्रतिमा दो रूपों में बनाते हैं :

क. स्थानक मुद्रा में खड़े हुए, जिसमें उनके एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में ढाल दिखाई जाती है। कभी-कभी इनके साथ दो नागरक्षक भी बनाए जाते हैं। इस तरह की एक मूर्ति मैंने अपने क्षेत्र-कार्य के दौरान जगदलपुर संग्रहालय में देखी (देखें चित्र 23)।

ख. दूसरे प्रकार के उदाहरण में इन्हें घोड़े पर सवार दिखाया जाता है। इस प्रकार के उदाहरण, जिसे मैंने एक देवगुड़ी में देखा, में वे एक हाथ में तलवार और दूसरे हाथ से घोड़े की लगाम पकड़े हुए हैं (देखें चित्र 24)।

बस्तर में आदिवासियों से जुड़े देवी-देवताओं का सम्प्रदाय बहुत विस्तृत है, परन्तु यहाँ उन्हें बहुत सीमित रूप में दिखाया गया है। घड़वा-कला में देवी-देवताओं की मूर्तियों के अतिरिक्त घंटे टोटम से जुड़ी आकृतियाँ विशेष रूप से बनाई जाती थीं, किन्तु वर्तमान समय में आधुनिकता और बाज़ारवाद के प्रभाव से घड़वा-कला में भी बहुत बदलाव आए हैं। घड़वा-उत्पादों में अब

आदिवासी-कला की ठेठ प्रस्तुति देखने को नहीं मिलती है। स्वरूप पहले की तुलना में ज्यादा सुन्दर और परिष्कृत हो गए हैं। पहले की बनी मूर्तियों और बाद की बनी मूर्तियों से तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। आधुनिकता के प्रभाव में इनमें बननेवाली वस्तुओं में भी विविधता आई है। परन्तु परम्परागत स्वरूपों में ही आधुनिक उपयोग की चीज़ों का निर्माण यहाँ की समकालीन घड़वा-कला की एक विशिष्टता है।

पारिभाषिक शब्दावली :

- **देवगुड़ी**— बस्तर के आदिवासियों के मन्दिर, जहाँ देवता की मूर्ति रखी जाती है और चढ़ावे चढ़ाए जाते हैं। ये प्रायः गाँव के बाहर या जंगल में स्थित होते हैं।
- **पदुम**— बस्तर में त्योहारों का स्थानीय नाम
- **जोहार**— बस्तर में देवी-देवताओं को चढ़ाए जानेवाले चढ़ावे और उपहार।
- **महापुरब**— बस्तर में आदिवासियों के सबसे बड़े देवता।

आधार-ग्रन्थ-सूची :

1. ठाकुर, केदारनाथ, 1908, 'बस्तर-भूषण'
2. शुक्ल, हीरालाल, 2007, 'छत्तीसगढ़ का जनजातीय इतिहास', प्रकाशक : मध्यप्रदेश-हिंदी-ग्रन्थ-अकादमी, भोपाल।
3. चट्टोपाध्याय, कमलादेवी, 1991, 'भारतीय-हस्तशिल्प-परम्परा', प्रकाशक : प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार।
4. इल्विन, वेरियर, 1951, 'ट्रायबल आर्ट ऑफ़ मिडिल इण्डिया', प्रकाशक : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन।
5. इल्विन, वेरियर, 1947, 'मूरिया एण्ड देयर घोटुल', प्रकाशक : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन।
6. इल्विन, वेरियर, 1936, 'लीक्स फ्रॉम दी जंगल', प्रकाशक : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन।
7. इल्विन, वेरियर, 1943, 'मारिया मर्डर एण्ड सूसाइड', प्रकाशक : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन।
8. इल्विन, वेरियर, 1942, 'द अगारिया', प्रकाशक : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन।
9. इल्विन, वेरियर, 1939, 'द बैगा', प्रकाशक : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन।
10. पालीवाल, चन्द्रमोहन, 1985, 'आदिवासी हरिजन आर्थिक विकास : बस्तर जिले के सन्दर्भ में', प्रकाशक : नार्दन बुक सेन्टर, नयी दिल्ली।
11. महावर, निरंजन, 2011, 'बस्तर ब्रान्जेज : ट्रायबल आर्ट एण्ड रिलीजन', प्रकाशक : अभिनव पब्लिकेशन, नयी दिल्ली।
12. पोस्टल, माइकल एण्ड कूपर, जैरिन, 1999, 'बस्तर फोल्क आर्ट : श्राइन, फिगर एण्ड मेमोरियल', प्रकाशक : फ्रेंको इण्डिया प्रा०

लि०, नयी दिल्ली।

13. ग्रीगसन, डब्ल्यू०, 1938, 'मारिया गोण्ड ऑफ़ बस्तर', प्रकाशक : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, मद्रास।
14. शाह, शम्पा (संपादित), 1996, 'ट्रायबल आर्ट एण्ड क्राफ़्ट ऑफ़ मध्यप्रदेश', प्रकाशक : मैपिन पब्लिशिंग प्रा० लि०, अहमदाबाद।
15. सरकार, अमिताभ एण्ड दासगुप्ता, समीरा, 1996, 'स्पेक्ट्रम ऑफ़ ट्रायबल बस्तर', प्रकाशक : आगम कला प्रकाशन, दिल्ली।
16. मुखर्जी, मीरा, 1978, 'मेटल क्राफ़्टमेन ऑफ़ इण्डिया', प्रकाशक : एन्थ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, कलकत्ता।
17. एस० सहाय, विजय, 2005, 'घड़वा आर्ट इन ट्रायबल बस्तर'
18. बेहरा, दीपक कुमार एण्ड प्रेफर जॉर्ज (संपादित), 2005, 'कन्टेम्पेरी सोसायटी ट्रायबल स्टडीज़', प्रकाशक : अशोक कुमार मित्तल कम्पनी, नयी दिल्ली।
19. हैकर, कैथरीन एफ०, 2000, ट्रेवलिंग ऑब्जेक्ट्स : ब्रास इमेजेज़, आर्टिजेन एण्ड आउडियन्स', 'एन्थ्रोपोलॉजी एण्ड ऐस्थेटिक' (ऑनलाइन) अंक 37, पृ० 147-163, <http://www.jstor.org/stable/20167498> में प्रकाशित
20. ब्रोशट, 'हैण्डिक्राफ़्ट ऑफ़ छत्तीसगढ़', हस्तशिल्प विकास बोर्ड, इण्डिया टुडे, 2009





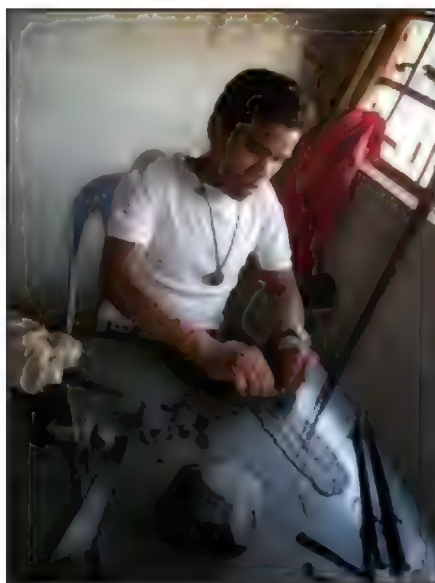
चित्र सं० 1



चित्र सं० 2



चित्र सं० 3



चित्र सं० 4



चित्र सं० 5



चित्र सं० 6



चित्र सं० 7



चित्र सं० 8



चित्र सं० 9



चित्र सं० 10



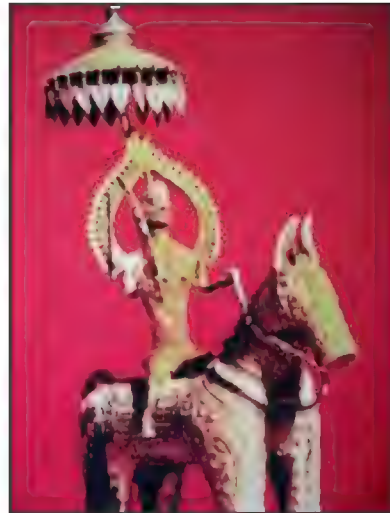
चित्र सं० 11



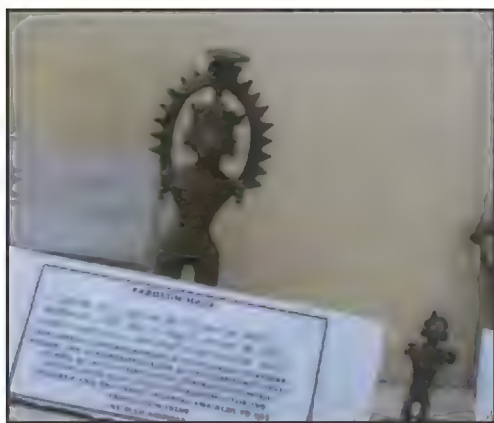
चित्र सं० 12



चित्र सं० 13



चित्र सं० 14



चित्र सं० 15



चित्र सं० 16



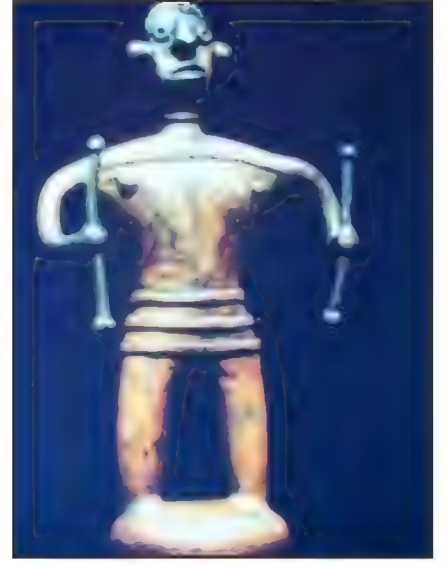
चित्र सं० 17



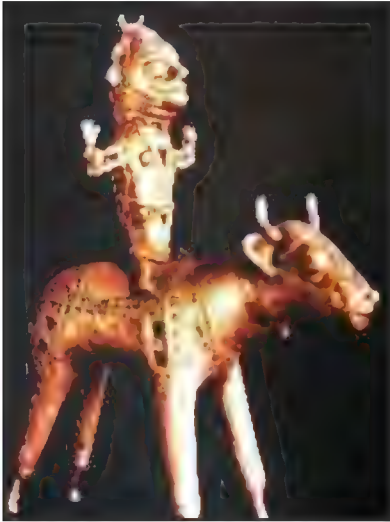
चित्र सं० 18



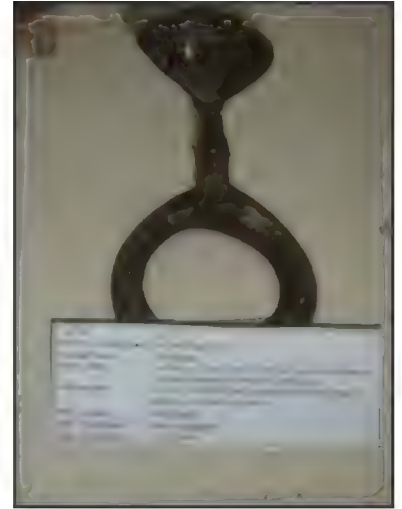
चित्र सं० 19



चित्र सं० 20



चित्र सं० 21



चित्र सं० 22



चित्र सं० 23



चित्र सं० 24

Contribution of Dogra rulers for the Development of Jammu & Kashmir state

Dr. Jawahir Abass Bhat *



momentous *era* began around 1846 AD in the history of Jammu and Kashmir state when the Britishers transferred Jammu and Kashmir state to Maharaja Gulab Singh.¹

Thus not only the present state of Jammu and Kashmir was founded, but this historical event was accompanied by the changes which were quite modern in nature. Before the onset of Dogra rule in Jammu and Kashmir it was like a medieval country, its society was presenting a traditional picture. After the coming of Dogras the changes began to take place in almost every aspect of Kashmiri life. The Dogras worked for the development of roads and communication which helped in breaking down the isolation of Kashmir. The Dogra rulers developed modern education in Jammu and Kashmir which brought a great change and not only washed off the ignorance but produced people of capacity and character, modern education enabled them to look for their rightful place in the community of nations. The Dogras worked for the welfare of the people of state. The last ruler of the Dogras Maharaja Hari Singh worked as a social reformer for the people of Jammu and Kashmir. There was hardly any department of the life which the Dogras did not try to develop.

Contribution of Maharaja Gulab Singh (1846-1857 AD)

The founder of Jammu and Kashmir State Maharaja Gulab Singh was busy with the consolidating of his territories and did not pay too much attention towards other fields.

The most important reform instituted by the Maharaja Gulab Singh was the rationing of rice to the city population. Due to its being cut off from the rest of India by high mountains Kashmir was experiencing shortage of food grains every now and then. The difficulties of the city population were doubly aggravated by the cornering of the grain by unscrupulous dealers. In order to meet this situation the Maharaja established a rigid monopoly of rice and had sold it at a fixed price to the citizens.²

The shawl department (Dagshawl) was a pressing problem and needed the immediate attention of the Maharaja. The Shawl – weavers combined and struck work on 6th June, 1847 AD and asked for a permit to emigrate in body to the Punjab. The Maharaja called their leader to meet him and after inquiring into their grievance issued orders for their redress. Now the shawl weavers had to pay only according to the actual work done by him on the loom and could change his employer at will. He was now no longer a serf.³

Maharaja Gulab Singh was a devout Hindu. He prohibited the killing of cows in the state and laid the foundations of a religious trust called Dharmarth. He built numerous temples in Jammu and Srinagar and was also the founder of a new town, Purmandal, near Jammu.⁴

Contribution of Maharaja Ranbir Singh (1857-1885 AD)

Maharaja Ranbir Singh's rule was an '*age of consolidation and enlightenment*'. Schools and colleges were opened. *Maktabas* and *Pathshalas* were revived. Libraries were established. He codified laws and promulgated the Ranbir Panel Code. Subsidies were granted to repair mosques and Churches. He was also patron of literature and great

* Shalipora (Katrasoo), Tehsil & District Kulgam-192
232 (Jammu & Kashmir), Mob.: 09697399074, e-mail: jawahirabass786@gmail.com

builder of temples. He worked for the development of roads and communication in the state.

Maharaja Ranbir Singh established the first press in the state for the printing of books. It was known as Vidya Vikas Press located at Jammu. He is credited with the founding of Translation Bureau for the translation of books from various languages. The idea behind it was to prepare ready made books for students reading in various schools which he got opened at various towns in the state. In this way books on geology, geography, history, physics and other subjects written in English were got translated into Hindi.⁵

Maharaja Ranbir Singh started two schools on modern lines, one at Jammu and another at Srinagar. The Jammu school was opened in the early sixties of the nineteenth century and was up to matriculation. Provision was made in this school for the teaching of English, Sanskrit, Law, *Ayurveda*, Tibi and Persian. In law classes state laws were taught. A school for training of *patwaris* was also opened. The products from *Ayurveda* and Tibia classes were recruited in the state dispensaries. Persian education was imparted up to *Munshi* standard. The Srinagar School was opened in 1874 AD and was up to middle standard. In Srinagar school education was imparted in Persian and Sanskrit. There was also a separate department for the teaching of Arabic students.⁶

Development of Roads and Communication

The revolutionary undertaking namely the building of the Jhelum Valley road in Sep. 1880 was started by Maharaja Ranbir Singh when he appointed Mr. Alexander Atinson as engineer for its construction.⁷ The work on the road was started in 1881. By the middle of 1883 only 25 miles of road was completed, 21 miles on Kohala side and 4 miles on the Baramulla side. By 1885 road from Kohala to Baramulla was nearing completion but was finally completed in 1890. The journey from Baramulla to Srinagar however continued to be performed by boat or by ponies.⁸

The cart road from Jammu to Kashmir via, Banihal, also received the attention of Maharaja Ranbir Singh. A suspension bridge over the Chenab at Ramban was constructed which have with stood the strain of over a century of its over-use before being replaced by the modern slab bridge few years ago. Along with the building of the Jhelum

valley and Banihal roads many former bridle-paths in the valley were converted into roads for cart traffic. A bridge was built by the local engineers and the steel used in its construction was brought from the mines of Reasi district. Adequate funds were provided in the state budget for the repairs and widening of roads every year.⁹ The first stretch of metalled road constructed in the state was Suchetgarh to Jammu Tawi. This was done in 1876 when the prince of wales (afterwards king Edward VI) visited Jammu.

Special attention was also paid towards the maintenance of bridges and the construction of new ones. The boat bridge on the Tawi towards the south on the road leading to Sialkot, was renewed and reconstructed so as to remain open all the year round except a couple of Monsoon months. A brick bridge was constructed on the Tawi river opposite Rampur Rajaori. Bridges in Kashmir valley were also repaired.¹⁰ The transportation and communication improved the number of annual visitors and tourists to the state.

Post Office

Ranbir Singh realized the efficiency of the postal system established in British India. In order to introduce such a system in his state he sought the help of the Lieutenant Governor of the Punjab, who visited Jammu in 1865, accompanied by the Postmaster - General of that Province.¹¹ Maharaja Ranbir Singh introduced modern postal system in Kashmir. He increased *Dak chowkis* from 38 to 136 with two runners at each *Chowki*, with a view to speed up postal communication to meet the needs of the people.¹²

Health and Medical services

Medical and health services were also made available to the people. A regular Medical Department was established and the closing years of the reign of Ranbir Singh record setting up of 27 hospitals 9 were located in Jammu city and 18 in *wazarats* and *tehsils*.

He established three dispensaries each at Ladakh and Gilgit and Iskardu. The Maharaja encouraged *Ayurvudic* and *Unani* systems of medicines in the state. A number of medical books were compiled and translated in Dogri. Afterwards the Maharaja also introduced the Allopathic system and appointed Dr. Bakhshi Ram as head of the department. Patients were given free treatment and

indoor patients were provided free lodging and beddings and clothing according to the season. Statistical figures for the year 1882-84 show that 1,33,647 indoor patients were treated in these hospitals in two years, besides 81,678 outdoor patients.¹³

Contribution of Maharaja Pratap Singh (1885-1925 AD)

Maharaja Pratap Singh's accession to the *gaddi* is landmark in the history of modern Kashmir. During his long reign of 40 years several progressive reforms were carried through. The land revenue was properly assessed and fixed in cash for a definite number of years and the share claimed by the state was greatly reduced. A first-rate cart road down the Jhelum valley and another over the Banihal Pass were built, linking the valley with the rest of India. Heavy taxes on trade were reduced. A scheme for drainage of the valley, reclaiming wasteland and preventing floods was put into operation. Srinagar, Jammu and few more towns were electrified. The administrative machinery was completely overhauled and a humble beginning was made in giving representation to the people in the two municipalities of Srinagar and Jammu.

Land and Revenue Settlement

The foremost and beneficial reform which completely changed the outlook of the peasants and gave them a new hope and incentive that was the land settlement and revenue assessment carried through by Walter Lawrence. Lawrence carried on his settlement operations in a systematic way. He drew up a map of every village on a scale generally of 24 inches to a mile in order to show more accurately every field on the map. An assessment produced all the facts were recorded in a prescribed form relating to each field concerning area, class of land, source of irrigation number and kind of trees, revenue payable, etc.¹⁴

The most important events of Maharaja Pratap Singh's reign were the revenue settlement of Kashmir. It was in 1887 that Andrew Wingate started his settlement operations in Kashmir. During his stay in Kashmir he made the survey of two *tehsils* in the Valley, namely *Lal* and *Phak*. He was an efficient and diligent officer who seems to have clearly understood the root cause of the sufferings of Kashmiri people. He found the cultivators having no rights either to his land or his crops. Wingate

recommended a survey and new settlement of all cultivable land in the state, reduction in taxation, drastic changes in revenue machinery, more rights to peasants including hereditary and proprietary ownership of land and abolition of forced labour.¹⁵

Abolished of Begar or Forced Labour

The Kashmir valley, surrounded by high mountains and in the absence of any other transport, necessitated the employment of large numbers of men for carrying essential commodities into or out of the valley. And during any large scale military venture huge armies of porters were requisitioned from the countryside. As Kashmir fell into the hands of unscrupulous conquerors and tyrants, payments to these porters was not made and the custom of forced labour or *begar* developed consequently. The earliest mention of *begar* is in the *Rajatarangini* (5.172-174) when king Shankarvarman employed villagers to carry the baggage and supplies of his armies. There is a mention of *begar* also in the time of Sultan Zain-al-abidin (1420-1470) as well as during the many succeeding Sultans. During the Mughal rule this developed into regular institution, particularly when huge armies of porters were required to carry the baggage of the emperors and their retinue during their frequent visits to the valley then followed the Afghans and the Sikhs rule and these harsh masters were most unscrupulous in the employment of forced labour. The feeble attempts made by Maharaja Gulab Singh towards mitigating some of its rigorous practice, however, did not improve matters.¹⁶

The Maharaja Pratap Singh decided in 1891 to abolish beggar. But at the same time it was felt that the transport arrangements of the valley would collapse. *Begar* had prevented any labour class to grow and it would take at least few years for it to come into existence to tide over the period a transition, a scheme was formulated to do away with the most objectionable features of *begar* at once, and at the same time prevent a collapse of the transport system.¹⁷

The state council framed the rules for controlling the labour required for carriage of essential commodities in the state by labourers. A labourer was to be paid 5 rupees per month.¹⁸ In 1906 the wages were increased to 8 rupees per month and as by the time voluntary labour was forthcoming, the use of force in recruiting it was

given up. It was only in 1920 that *begar* was abolished completely.¹⁹

Development of education

It was during the reign of Maharaja Pratap Singh that modern education in Kashmir took shape. He established schools on the syllabus pattern of the Punjab University. The first high school of this type was the Ranbir High School at Jammu.

The expansion of education steady continued in this time. In 1890 there were ten schools, one high school at Jammu and one middle school at Srinagar and 8 primary schools. The Srinagar middle school opened in 1874 with provision for the teaching of Sanskrit and Persian. In 1901 the number of schools rose to 87. By 1911 the number of schools rose to 373 and by 1921 the number was 1,175 when the total role was 32,971.²⁰

Special attention was paid towards the education of Muslims in Kashmir. Maharaja took number of measures for promoting education among the Muslims.²¹ In 1916 Maharaja Pratap Singh invited Sir Henry Sharp, the Educational commissioner, Government of India to suggest various ways and means of extending educational facilities for the Muslims in Kashmir.²²

The Maharaja Partap Singh adopted the food control part scheme under which the part of revenue was collected in kind and distributing it to the city population at a cheap rate, which gave birth to the food control which was ever since handled the collection and distributing of food grains in the valley.²³

After the accession of Maharaja Partap Singh to the *gaddi* the efforts were made to set up sericulture industry and run it on a commercial scale and in a scientific and extensive manner. In 1921 over 50,000 rears of silk worms in the villages and 5,000 labourers in the factory at Srinagar produced over one lakh kilograms of raw silk annually.²⁴

The state established a Department of Agriculture and Horticulture in 1907 and from 1908 a member from Kashmir sat on the Board of Agriculture of the Government of India.²⁵ The first industry has flourished since then and with the passage of time has acquired a leading position in the export trade of Kashmir.

Contribution of Maharaja Hari Singh (1925-1947

AD)

Maharaja Hari Singh ascended the throne on the death of his uncle Maharaja Pratap Singh on 23rd Sep. 1925. He raised a luminous stop on the firmament of reformation in the Indian history. His reign was primarily an '*age of reformation*'.

The depressed classes in the state were subjected to great humiliation. *Harijans* were not allowed to draw water from a common well or tank and their children could not study at schools where as upper class children received education. Maharaja Hari Singh ordered that no discrimination should be shown to the depressed classes in the Govt. institutions and threw open all public wells, tanks, temples and schools to them.

Maharaja Hari Singh made formal proclamation on Oct. 31st, 1932, in which he declared that the *Harijans* would be allowed to enter and worship in all temples.²⁶ The decision of Maharaja Hari Singh earned him the unprecedented credit of being the first ruler in India to have taken such a bold step for emancipation of the *Harijans*.

Maharaja Hari Singh soon after his accession to the throne enacted a law in 1928, called the Infant Marriage Prevention Regulation, under which the age of marriage for girls was fixed at minimum of 14 years and for boys a minimum of 18 years. If anyone was found following the pernicious practice of marrying the child below these ages or sided or abetted such marriages, he was imprisoned for one year with or without a fine which could extend up to ₹1,000.

At the same time, this law forbade incomplete marriages by providing that a man above 50, marrying a girl below 15 would make the man and his father in law besides their accomplices, liable to be punished with imprisonment up to four years with or without a fine which could be extended to ₹ 2,000. This salutary measure paved the way for ending the child and unequal marriages and thus it brought peace and happiness to the people of the state.²⁷

Maharaja Hari Singh launched an all out crusade against the illiteracy in the state for the purpose promulgated the compulsory education act in 1930 which made it obligatory for all children living in the state to receive free primary education in the numerous newly established schools where poor and deserving students were provided with text

books, uniforms and all other articles of stationery free of cost. In 1925 AD the number of schools was only 706 and it rose to 2,158 by 1945.²⁸

Under the compulsory education act, parents were prohibited from sending their under-age children to *karkhans* (small scale factories) to earn their livelihood by learning various arts and crafts. Those parents who dared defy this prohibition were served with notice and subsequently taken to task under the law.

The Maharaja took keen interest in prevailing upon the Muslim children to join the schools. Thirty one special teachers were appointed to teach them Arabic and Muslim theology.²⁹ Maharaja sanctioned 500 scholarships each of ₹ 5 per month for Muslims and other helpless children.³⁰ In 1927 a young Muslim graduate from Srinagar was deputed to America for higher training in engineering.³¹ Two years later in 1929, two more Muslim students one from Kashmir and another from Jammu were sent to England for education in law to obtain the degrees of Bar-at-law.³² No stone was left unturned by Maharaja Hari Singh to spread the light of modern scientific education throughout the state.

Maharaja Hari Singh reformed the whole medical system in Jammu and Kashmir. He constructed central medical hospital building in Jammu at the cost of ₹ 35 Lakh. About one hundred hospitals and dispensaries were opened for the T.B. patients. Many students were granted scholarships for getting medical training in foreign countries and were later given appointments in the state.³³ Maharaja Hari Singh made a law in 1941 for the prohibition of the polygamy and it was considered a crime for a woman to keep more than one husband.³⁴

Maharaja Hari Singh passed another law in 1944 AD for the prostitution suppression. It was very difficult to execute this law because many women were involved in this profession. But the Maharaja Hari Singh was determined to do away this curse. So he adopted measures by which these unfortunate and out cast women would either be absorbed in respectable families or were given training in some kind of handicraft which could make them economically self supporting.³⁵

References :

1. A treaty was signed at Amritsar on 16 March, 1846 between Maharaja Gulab Singh and the British

Government according to clause 1 of the treaty, the British Government "transfers and makes over for ever in independent possession to Maharaja Gulab Singh and the heirs male of his body all the hilly or mountainous country with its dependencies situated to the eastward of the river Indus and westward of the river Ravi including Chamba and excluding Lahul, being part of the territories ceded to the British Govt. by the Lahore state according to the provision of Article IV of the treaty of Lahore, dated 4th march 1846." In consideration of this transfer the Maharaja had to pay to the British Govt. "the sum of seventy five lakhs of rupees (*Nankashahee*)", P.N.K. Bamzai, *Culture and Political history of Kashmir*, Vol. III (modern Kashmir), M.D. Publication Pvt. Ltd. New Delhi, 1994, p.666

2. *Ibid*, p.672
3. *Ibid*, pp.672 -673
4. *Ibid*, Mohammad Saleem Khan, *The History of Modern Kashmir*, Gulshan Books, Srinagar, 2006, p.30.
5. G.Rasool and Minakshi Chopra, *Education in Jammu & Kashmir*, Jay Kay Book House, Jammu, 1998, p.4
6. *Ibid*
7. *Bi-annual Administrative Report of Jammu & Kashmir State (1882-1883)*, p.143
8. *Ibid*, p.147
9. S.G.S. Charak, *Maharaja Ranbir Singh (1830-1885)*, Jay Kay Book House, Jammu, 1985, p.90
10. *Bi-annual Administrative Report Of Jammu & Kashmir (1939-1940)*, pp.155-158
11. S.D.S. Charak, *Maharaja Ranbir Singh (1830-1885)*, Jay Kay Book House, Jammu, 1985, p.92
12. *Ibid*
13. *Ibid*, p.65
14. Frances, Younghusband, *Kashmir*, Adam and Charles Black, Edinburg, 1909, p.188
15. Walter Lawrance, *The valley of Kashmir*, Asian Educational Services, Delhi, 2005, pp.430-432
16. P.N.K. Bamzai, op.cit, p.671
17. *Ibid*, p.707, Mohammad Saleem Khan, op.cit, p.128
18. Kashmir Government Records, file No. 34 of 1891
19. Kashmir Government Records, file No.77 of 1906
20. S.L. Seru, *History and growth of education in Jammu & Kashmir*, Ali Mohammad & Sons, Sringer, 1975, pp.35-36
21. *Sharp's Report (1916)*, pp.41-44
22. M.I. Khan, *History of Srinagar*, p.172, published by Cosmos Publications, Srinagar, 1999
23. Kashmir Government Records, file No. 245 of 1921
24. P.N.K. Bamzai, op.cit, p.714
25. Kashmir Government Records, file No. 33 of 1907
26. Nargis, Nargis Das, *Jadid Tarikh-e-Dugger*, Srinager, 1966, p.743
27. Jammu & Kashmir Administrative Report, 1945,

- pp.38-39
28. *Jammu & Kashmir Administrative Report of (1889-1890)*, p.4, *Jammu & Kashmir Administrative Report of 1945-1946*, p.100
29. *Akbar-i-kashmir, birthday number (Amritsar)*, p.35
30. *Ibid*
31. Noor Mohammad, *Tarikh-i-kashmir ki Rozana Dairy* (Urdu), p.680
32. *Ibid*, p.687
33. M.L. Kapur, *Mahraja Hari Singh (1985-1961)*, Hari Anand Publication, 1995, pp.35-36
34. Nargis, Nargis Das, *op.cit*, p.763
35. Somnath Waklu, *Hari Singh, The Maharaja, The Man, The Times*, National Publishing House, Delhi, 2004, p.63



बिहार किसान-आन्दोलन का एक अध्याय और राहुल जी

डॉ० बी०के० श्रीवास्तव *



किसान-आन्दोलन की ऐतिहासिक पंक्ति 'राहुल के सर से खून गिरे' राजेन्द्र कालेज़ (छपरा, बिहार) के प्रिंसिपल प्रो० मनोरंजन द्वारा सृजित कविता— 'राहुल का खून पुकार रहा' की प्रथम एवं महत्वपूर्ण पंक्ति है। इसका सृजन उन्होंने 1939 में किया था। इस कविता की विषयवस्तु उन्हें 1939 के अमवारी-किसान-सत्याग्रह से मिली। इस किसान-आन्दोलन का नेतृत्व प्रसिद्ध विद्वान् राहुल सांकृत्यायन ने किया था। वे ज़मीन से जुड़े किसान-नेता थे। इस सत्याग्रह के दौरान उनपर लाठी से हमला हुआ। उनका सिर फूट गया और उससे खून गिरने लगा। यह खून बेकार नहीं गया और रंग लाया। प्रो० मनोरंजन ने इसपर जो कविता लिखी, उसने किसान-आन्दोलन को एक नया जोश दिया। जनता आन्दोलित हो उठी। इस घटना पर प्रकाश डालते हुए राहुल जी की विदुषी पत्नी श्रीमती कमला सांकृत्यायन ने लिखा— 'भारतीय-किसान-आन्दोलन के इतिहास में 24 फरवरी, 1939 ई० की घटना अमिट रूप से अंकित हुई है, और यह ऐतिहासिक पंक्ति 'राहुल के सर से खून गिरे' इसका प्रमाण है।'¹

जिस प्रकार सुभद्रा कुमारी चौहान की कविता 'बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी, खूब लड़ी मर्दानी वह तो झाँसीवाली रानी थी' ने न केवल बुन्देलखण्ड अपितु समस्त भारत को आन्दोलित किया, उसी प्रकार प्रो० मनोरंजन की उक्त कविता ने बिहार को आन्दोलित कर दिया। इस कविता की कुछ महत्वपूर्ण पंक्तियाँ निम्नानुसार हैं—

‘राहुल के सर से खून गिरे
फिर क्यों यह खून उबल न उठे ?
साधू के शोणित से फिर क्यों

सोने की लंका जल न उठे ?
राहुल का खून पुकार रहा,
बढ़ने को हमें प्रचार रहा
वह विश्वविदित विद्वान आज
हँसिया लेकर ललकार रहा।'²

इस कविता की एक-एक पंक्ति हृदयस्पर्शी है। इस कविता में न केवल राहुलजी की किसान-आन्दोलन में भूमिका अपितु कृषक-समस्याओं को लेकर उनकी चिन्ताएँ भी स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं। यह बताती है कि किस प्रकार राहुलजी एक दूरद्रष्टा थे। भविष्य की समस्याएँ क्या होंगी, यह उन्होंने अपनी कृति 'बाइसवीं सदी' द्वारा समझाया है। उनके विचार आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितने उस दौर में थे। 1939 में बिहार प्रान्तीय किसान-सभा के मन्त्री श्री अवधेश्वर प्रसाद सिंह थे। 1939 में ही उन्होंने राहुलजी की किसान-आन्दोलन में भूमिका पर लिखी एक छोटी-सी पुस्तक 'राहुल का अपराध' की भूमिका लिखी। इसकी अन्तिम पंक्तियाँ आज भी उतनी ही सार्थक हैं जितनी कि 1939 में थीं। ये पंक्तियाँ थीं— 'किसान इसे पढ़कर अपने हक की लड़ाई के औचित्य को समझें, विद्वान् इसे पढ़कर अपना कर्तव्य-पथ निश्चित करें।'³

प्रो० मनोरंजन ने अपनी कविता में राहुल को साधु भी कहा है और विश्वविदित विद्वान् भी। इसे स्पष्ट करना आवश्यक है। राहुलजी का मूल नाम केदारनाथ पाण्डेय था। पूर्वी उत्तरप्रदेश के आजमगढ़ ज़िले के पन्दहा गाँव में दिनांक 09 अप्रैल, 1893 को उनका जन्म हुआ था।¹ दर्जा 3 के पढ़ाई के दौरान उन्हें नवाजिन्दावाजिन्दा के इस शेर ने गहराई तक प्रभावित किया—

‘सैर कर दुनिया की गाफ़िल ज़िंदगानी फिर कहाँ?
ज़िंदगी गर कुछ रही तो नौजवानी फिर कहाँ?’⁵

इस शेर ने उनके बालमन के अन्दर दुनिया देखने की

* सहायक-प्राध्यापक, इतिहास-विभाग, डॉ० हरिसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर (म०प्र०)

ललक पैदा की। अपनी इसी आकांक्षा के चलते 1912 में बिहार के छपरा ज़िले के परसा मठ के महंत से दीक्षा लेकर वे केदारनाथ से वैरागी साधु दामोदर दास बन गये।⁶ इसके पश्चात् भी वे रुके नहीं। विभिन्न धर्म-मतों को छोड़ा-अपनाया। साथ-साथ संस्कृत, पाली एवं बौद्ध-धर्मग्रन्थों का गहन अध्ययन किया। उनकी विद्वत्ता के कारण काशी पण्डित सभा ने उन्हें 'महापण्डित' की उपाधि दी। उनके बौद्ध-धर्म-दर्शन के एवं संस्कृत-ज्ञान को देखते हुए श्रीलंका के विद्यालंकार विहार ने उन्हें आचार्य बनाया। श्रीलंका में ही उन्हें 'त्रिपिटकाचार्य' की उपाधि दी गयी।⁷ यहीं पर उनका नाम 'राहुल सांकृत्यायन' पड़ा। राहुलजी ने देश-विदेश की यात्राएँ कीं। देश-विदेश की कुल 36 भाषाओं के वह ज्ञाता बने।⁸ इतिहास एवं साहित्य के विभिन्न ग्रंथों की रचना की। उनके ज्ञान-विज्ञान का लोहा विश्व के विद्वान् भी मानने लगे।⁹ इसीलिए प्रो० मनोरंजन ने उन्हें साधु भी कहा और विश्वविदित विद्वान् भी।

सनातन साधु, आर्यसमाजी, बौद्ध-भिक्षु बनने के पश्चात् अन्त में राहुल सांकृत्यायन मार्क्सवादी बने। रूस-यात्रा एवं मार्क्सवाद के अध्ययन से उनकी करुणा कृषक एवं मजदूरों के प्रति जाग उठी। यह विश्वविदित विद्वान् भारत की स्वाधीनता के लिए भी प्रयासरत था। 1921 में असहयोग आन्दोलन में भाग लेने वह छपरा गये। वहीं पर उन्हें जेल भी जाना पड़ा। कांग्रेस के तत्वाधान में उन्होंने 1921 से 1927 तक स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया। 1929 से 1938 के बीच बौद्ध-धर्मग्रन्थों की खोज हेतु उन्होंने चार बार तिब्बत की यात्रा की।

सन् 1938 में राहुलजी पुनः बिहार आये। इस समय बिहार में काँग्रेसी-मंत्रिमण्डल का शासन था। जो कांग्रेस पहले किसानों-मजदूरों की शुभचिन्तक थी, वही अब सत्ता में आने के पश्चात् उनके दुःख-दर्द को भूल गई थी। राहुल जी ने इसका विरोध करने का निश्चय किया। जो राहुलजी काँग्रेसी रह चुके थे, वे अब कृषकों-मजदूरों के हितों की खातिर कांग्रेस-विरोधी हो गये। उस समय उन्होंने लिखा— 'मैं पहले भी राजनीति में अपने हृदय की पीड़ा दूर करने आया था, गरीबी और अपमान को भी मैं भारी अभिशाप समझता था। असहयोग के समय भी मैं जिस स्वराज्य की कल्पना करता था, वह काले सेठ और बाबुल का राज नहीं था, वह राज था किसानों और मजदूरों का क्योंकि तभी गरीबी और अपमान से जनता मुक्त हो सकती थी। अब तो देश-विदेश देखने के बाद और भी पीड़ा का अनुभव करता था। मैंने भारत जैसी गरीबी कहीं नहीं देखी। मार्क्सवाद के अध्ययन ने मुझे बतला दिया कि क्रान्ति करनेवाले हाथ हैं यही मजदूर-किसान, क्योंकि उन्हीं को सारी यातानाएँ सहनी पड़ती हैं और उन्हीं के

पास लड़ाई में हारने के लिए सम्पत्ति नहीं है।'¹⁰

बिहार में कम्युनिष्ट पार्टी गैर-कानूनी थी। इसके बावजूद राहुलजी ने वहाँ कम्युनिष्ट पार्टी की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस संबंध में बिहार की कम्युनिष्ट-पार्टी के प्रथम सचिव सुनील मुखर्जी ने लिखा है— 'पण्डित राहुल सांकृत्यायन बिहार में पार्टी के संस्थापक-सदस्यों में से थे। मार्क्सवाद-लेनिनवाद के विचारों से वे पहले से लैस थे। वह अनेक संघर्षों के वीर योद्धा थे और पुलिस की लाठियाँ खा चुके थे।'¹¹

अप्रैल, 1936 में लखनऊ में 'अखिल भारतीय किसान काँग्रेस' की स्थापना हुई, बाद में इसी का नाम 'अखिल भारतीय किसान सभा' कर दिया गया। स्वामी सहजानन्द सरस्वती (1889-1950) इसके अध्यक्ष बने। राहुल सांकृत्यायन भी इनके साथ थे। राहुलजी का मानना था कि किसान-मजदूर-एकता के लिए कम्युनिष्ट पार्टी एवं किसान सभा में सामंजस्य होना चाहिये।¹² उनके प्रयास रंग लाये। किसान सभा और कम्युनिष्टों ने सन् 1936 में राज्य स्तर पर किसानों को संगठित किया। 1936 से 1939 के बीच बिहार में 'बकाशत आन्दोलन' चला। 'बकाशत ज़मीन' उसे कहते थे जिसे मंदी के कारण एवं लगान न दे जाने के कारण किसानों से ज़मींदारों ने ले लिया था। यद्यपि ये ज़मीन अब भी किसानों के ही अधिकार में थी, तथापि वे इसपर बटाईदार की हैसियत से खेती करते थे।¹³ एक कानून यह भी था कि लगातार 12 वर्ष जिस बकाशत ज़मीन पर कोई रयैत (किसान) खेती करे वह उसकी 'कायमी' (Occupancy) हो जाती थी। वैसे किसान फिर जिस बकाशत को एक साल भी जोतेगा, वह उसकी कायमी हो जायेगी।¹⁴

बिहार में किसान सभा ने किसानों में चेतना जाग्रतकर उन्हें इस कानून से अवगत कराया। परन्तु जब किसान ने बकाशत पर अपने अधिकार का दावा किया, तो ज़मींदारों ने साफ़ इन्कार कर दिया। चूँकि उनके पास कोई कागज़ी सबूत तो था नहीं, अतः मुकदमा वे लड़ नहीं सकते थे। अतः किसानों को बकाशत पर उनका अधिकार दिलाने किसान-नेताओं को मोर्चा संभालना पड़ा। इन नेताओं ने बिहार के निम्नांकित स्थानों पर किसान-सत्याग्रह का नेतृत्व किया।¹⁵—

1. मुंगेर ज़िले के बड़हिया टाल में कार्यानन्द शर्मा (1901-1965) ने,
2. गया ज़िले के खेड़ा में यदुनन्दन शर्मा (1896-1975) ने एवं,
3. सारन ज़िले के अमवारी (अब सीवान ज़िले में है) में राहुल सांकृत्यायन ने

कृषक-चेतना जाग्रत करने के लिए राहुलजी ने संघर्ष ही

नहीं किया, अपितु सहज भाषा में कुछ पुस्तकें भी लिखीं। 'पंचायती खेती का एक प्रयास', 'कम्युनिष्ट क्या चाहते हैं?', 'जीने के लिए' एवं 'भागो नहीं दुनिया को बदलो'-जैसी गम्भीर चिन्तनशील पुस्तकें इसी क्रम में लिखी गयीं। किसान एवं कृषक-आन्दोलन में भाग लेनेवालों को इनसे प्रेरणा एवं उचित मार्गदर्शन भी मिला।¹⁶

स्वामी सहजानन्द सरस्वती, कार्यानन्द शर्मा, यदुनन्दन शर्मा एवं राहुल सांकृत्यायन जैसे कृषक-नेताओं ने किसान सभा के माध्यम से किसानों के हितों के लिए अपनी माँगों को सशक्त ढंग से प्रस्तुत किया। राहुलजी अपनी लेखनी एवं सक्रिय भूमिका के कारण किसान आन्दोलन की अग्रिम पंक्ति में आ गये। उन्हें उत्तर बिहार के सारण ज़िले के किसान आन्दोलन को संगठित करने की ज़िम्मेदारी सौंपी गयी।¹⁷

दिनांक 02 जनवरी, 1939 को राहुलजी सारन पहुँचे। वहाँ के किसान उनसे मिले और ज़मींदार चन्द्रेश्वर सिंह के अत्याचारों से अवगत कराया। यहाँ 'हरी-बेगारी' नामक एक ऐसी प्रथा थी जिसके तहत किसान को अपने हल-बैल से पहले मालिक के खेत जोतने पड़ते थे। उसके बाद ही वह अपने खेत जोत सकता था।¹⁸ अमवारी के किसान हरी-बेगारी करने को तैयार नहीं थे। इससे भी ज़मींदार चन्द्रशेखर सिंह उनपर जुल्म ढा रहा था। चूँकि किसानों को पता था कि अब बिहार में काँग्रेसी-सरकार है, अतः उसी का सम्बल पाकर उन्होंने हरी-बेगारी से इन्कार किया। उन्हें नहीं पता था कि काँग्रेस ज़मींदारों पर मेहरबान है। कई काँग्रेसी स्वयं ज़मींदार हैं। स्वयं महात्मा गाँधी ज़मींदार-विरोधी किसान-संघर्ष को एक गुलत कदम मानते थे। उन्होंने 1922 में ही सलाह दी थी कि 'यदि ज़मींदार आपपर उत्पीड़न करे, तो आपको थोड़ा-बहुत सह लेना चाहिये। यदि ज़मींदार आपको परेशान करें, तो मैं अपने किसान भाइयों से कहूँगा कि वे लड़े नहीं, बल्कि मैत्रीपूर्ण रुख अपनाएँ।' ¹⁹ इसी कारण स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने लिखा है कि बिहार के काँग्रेसी-लीडर तो ज़मींदारों के पक्षे आदमी हैं।

उक्त सभी बातों से अवगत राहुलजी अमवारी के किसानों का दर्द समझकर 5 जनवरी, 1939 को अमवारी पहुँचे और परिस्थितियों को समझा। सीवान का सब-डिवीजनल मजिस्ट्रेट ज़मींदार के पक्ष में था, अतः प्रशासन से बातचीत का कोई हल नहीं निकला। अब राहुलजी के सामने एक ही रास्ता था— सत्याग्रह। इस सत्याग्रह का तात्कालिक कारण यह था कि 'एक किसान के खेत से ऊख (गन्ना) काटना, ज़मींदार ने इस किसान से उस खेत को छीनकर अपनी बहुरिया (ज़मींदारनी) के नाम लिखवा

लिया था, और अब वह इस खेत को अपना खेत कहता था।'²⁰

राहुलजी के साथ इस समय कवि नागार्जुन (1911-1998) एवं रामवृक्ष बेनीपुरी (1899-1968) भी थे। राहुलजी को पता चल गया था कि ज़मींदार ने सत्याग्रह रोकने के पर्याप्त इन्तज़ाम कर रखे हैं। खेत पर न केवल लठैत तैयार थे अपितु उनलोगों को कुचलने के लिए दो हाथी भी खड़े किए गए थे। राहुल और मृत्यु से भय— यह सम्भव ही नहीं था। वह मौत को गले लगाना डरने से बेहतर समझते थे। उन्होंने सत्याग्रह हेतु 10-10 व्यक्तियों की 5 टोलियाँ बनायीं। इन टोलियों को बारी-बारी से ऊख काटने जाना था।

दिनांक 24 फरवरी, 1939 को प्रथम टोली का नेतृत्व स्वयं राहुलजी ने किया। यद्यपि पुलिस भी वहाँ मौजूद थी, तथापि वह ज़मींदार के साथ मिली हुई थी। राहुलजी ने अपनी टोली के साथ जैसे ही अपने हँसियों से ऊख कटना आरम्भ किया, वैसे ही वहाँ उपस्थित दारोगा जंगबहादुर सिंह ने उन्हें गिरफ़्तार कर लिया। ठीक उसी समय ज़मींदार चन्द्रेश्वर सिंह के हाथीवान कुर्बान ने लाठी से राहुलजी के सिर पर वारकर उन्हें घायल कर दिया।²¹ राहुलजी के सिर से खून गिरने लगा। इसे देखकर राहुलजी ने कहा था कि "मात्र मेरे सिर ने ही नहीं, बल्कि मेरे सिर से गिरे खून ने भी सत्याग्रह में भूमिका निभायी।"²² यद्यपि पुलिस ने हाथीवान कुर्बान को भी गिरफ़्तार किया, तथापि ज़मींदार के कहने पर उसे छोड़ दिया।²³ राहुलजी सहित कुल 52 लोग गिरफ़्तार हुए जिसमें 5 औरतें एवं 2 बच्चे भी थे।²⁴

जब राहुलजी सहित गिरफ़्तार लोगों को रस्सी से घेरकर छपरा जेल ले जाया जा रहा था तब राहुलजी एवं उनके साथी चुपचाप नहीं थे। वे नारे लगा रहे थे- 'इंकलाब ज़िन्दाबाद', 'किसान राज कायम हो' एवं 'ज़मींदार-प्रथा का नाश हो'।²⁵ वास्तव में ऐसा लग रहा था जैसे विश्वविदित विद्वान् हँसिया लेकर ललकार रहा हो। राहुलजी ही नहीं उनका खून भी पुकार रहा था कि आओ बढ़ो संघर्ष करो। राहुलजी ने कहा भी— "क्रान्ति शुरू हो गई है। इंकलाब ज़िन्दाबाद! देश के किसानो, काम करो एक हो जाओ।"²⁶ राहुलजी के सिर पर जब लाठी से वार हुआ, उसी समय उनके साथ रामवृक्ष बेनीपुरी जी ने भविष्यवाणी की थी कि एक महान् मनीषी के सिर से बहा खून ब्रिटिश शासन के लिए अभिशाप साबित होगा। वास्तव में ऐसा हुआ भी।²⁷

राहुल का खून पुकार रहा था। प्रो० मनोरंजन की यह कविता साप्ताहिक 'जनता' में प्रकाशित हुई और शीघ्र ही हरेक की जुबान पर चढ़ गयी। जेल के बाहर राहुलजी पर हुए हमले के विरुद्ध राजनैतिक माहौल गर्म हो उठा। किसान सभा के आह्वान

पर 01 अप्रैल, 1939 को 'राहुलजी पर प्रहार-विरोधी दिवस' मनाया गया।²⁸ 15 अप्रैल, 1939 को जेल के अन्दर ही राहुलजी पर मुकदमा चला। उन्हें दफा 143 (गैर-कानूनी मज़मे का सदस्य होने) एवं दफा 379 (ऊख की चोरी करने) के तहत छः-छः माह की कड़ी सजा हुई।²⁹ लाठी मारनेवाले कुर्बान पर भी मुकदमे का नाटक चला। राहुलजी का मानना था कि यह तो मात्र मोहरा है, सजा तो उसे मिलनी चाहिए जिसके इशारे पर उसने लाठी चलायी। अतः राहुलजी ने कुर्बान को रिहा करा दिया।³⁰

इस अदालती फैसले की समस्त बिहार में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। एक सत्याग्रही पर लगाए गए चोरी के अपराध की लोगों ने खुले तौर पर भर्त्सना की। इस फैसले को पूर्णतः अविवेकपूर्ण बताया। इस किसान आन्दोलन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसमें पुरुषों के साथ-साथ महिलाओं ने भी ज़बर्दस्त भागीदारी अंकित की। स्वयं स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने लिखा है— 'इस आन्दोलन से हमने बहुत कुछ सीखा। इसमें काँग्रेसी-मनोवृत्ति की पूरी झाँकी हमें मिली... बेशक जैसे मुंगेर के लिए कार्यान्वयन, और गया के लिए यदुनन्दन हैं, उसी तरह सारन (छपरा) के लिए राहुलजी हैं...।' ³¹ अमावारी-सत्याग्रह के दौरान एवं पश्चात् के आन्दोलनों में बिहार के किसानों ने एकजुटता का जो परिचय दिया, वह बेमिसाल था। भारतीय-किसान-सभा का इसे पूरा-पूरा समर्थन मिला। राहुलजी के सिर से गिरा खून व्यर्थ नहीं गया। रामवृक्ष बेनीपुरी जी की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई। विश्वविदित विद्वान् राहुलजी के खून की पुकार एवं ललकार ने न केवल बिहार की काँग्रेसी-सरकार अपितु ब्रिटिश सत्ता को हिलाकर रख दिया। इसीलिए स्वामी सहजानन्द सरस्वती ने उनपर गर्व अनुभव किया।

सन्दर्भ :

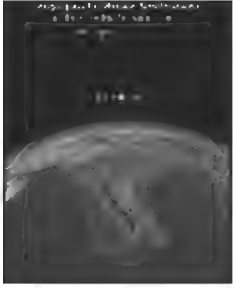
1. कमला सांकृत्यायन, 'किसान आन्दोलन', 'वसुधा', अंक 26, अप्रैल-जून, 1944, रीवा, पृ० 87
2. अवधेश्वर प्रसाद सिंह, 'राहुलजी का अपराध : अमावारी सत्याग्रह', हिंदी कुटिया, पटना, 1939, पृ० 33-34
3. वही, भूमिका
4. गुणाकर मुळे, 'महापण्डित राहुल सांकृत्यायन : जीवन और व्यक्तित्व', नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, 1993, पृ० 4
5. ब्रजेश कुमार श्रीवास्तव, 'राहुल सांकृत्यायन : एक इतिहासपरक अनुशीलन', किताब महल, इलाहाबाद, 2004, पृ० 1
6. वही, पृ० 5
7. वही, पृ० 12
8. कृष्ण कुमार गोस्वामी, 'भाषा-चिन्तन', 'वसुधा', अंक-26, अप्रैल-जून, 1994, पृ० 130
9. रामगोविन्द द्विवेदी, 'त्रिपिटकाचार्य राहुल सांकृत्यायन के कुछ

संस्मरण', 'सम्मेलन-पत्रिका', भाग-52, संख्या 1-2, प्रयाग, पौष-ज्येष्ठ, शक 1888 (1966 ई०), पृ० 47-48

10. राहुल सांकृत्यायन, 'मेरी जीवन-यात्रा', भाग-2, किताब महल, इलाहाबाद, 1950, पृ० 494
11. उर्मिलेश, 'राहुल सांकृत्यायन : सृजन और संघर्ष', वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1994, पृ० 57
12. 'मेरी जीवन-यात्रा', भाग-2, पूर्वोक्त, पृ० 543-44
13. वही, पृ० 512
14. स्वामी सहजानन्द सरस्वती, 'मेरा जीवन-संघर्ष', ग्रन्थशिल्पी, नयी दिल्ली, 2000, पृ० 274
45. वही, पृ० 275-279
16. उर्मिलेश, पूर्वोक्त, पृ० 59
17. वही, पृ० 62
18. अवधेश्वर प्रसाद सिंह, पूर्वोक्त, पृ० 33-34
19. महात्मा गाँधी, 'यंग इण्डिया', 18 मई, 1922
20. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-2, पूर्वोक्त, पृ० 512
21. राहुलजी का अपराध, पूर्वोक्त, पृ० 44-45
22. वही, पृ० 45
23. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-2, पूर्वोक्त, पृ० 513
24. राहुलजी का अपराध, पूर्वोक्त, पृ० 46
25. वही, पृ० 48
26. वही, पृ० 48
27. शिवकुमार गोयल, 'राहुल कुमार के सिर का खून', अमर उजाला, झाँसी, 01 सितम्बर, 2012, पृ० 12
28. उर्मिलेश, पूर्वोक्त, पृ० 63
29. मेरी जीवन-यात्रा, भाग-2, पूर्वोक्त, पृ० 520
30. वही, पृ० 535
31. स्वामी सहजानन्द सरस्वती, पूर्वोक्त, पृ० 280



Book Review



Book Title : '*Geography, People and Geodynamics of India in Purāṇas and Epics : A Geologist's Interpretations*'; **Author :** K.S. Valdiya; Published by : Aryan Books International, Pooja Apartments, 4B, Ansari Road, New Delhi-110

022; **Publication Year :** 2012; **Number of Pages :** xxxii+244; **ISBN :** 978-81-7305-422-8; **Price :** ₹ 1,500/- (H.B. Edition), ₹ 495.00 (Paperback Edition)

This is a welcome endeavour by a renowned geologist like Dr. K.S. Valdiya to assay the purāṇic and epic sources on strict scientific norms. This needs courage because during past two and half a century Western Indologists have not only demeaned, denounced and defamed Hindu purāṇas but also relegated to the status of academic untouchability. Consequently, many scholars working on Vedas, especially the Ṛgveda, avoided purāṇas and could not fathom the real depths of Indian history and civilization. It is not that the Western savants were not aware of the enormity of purāṇic and epic literature and its importance to the history of mankind but it was purposely suppressed to accommodate and establish the sparse biblical literature in the realm of world history. Prof. David Frawley (23) has estimated the literary and archaeological sources of Western world in following words:

While we have found some of the written records of the ancient Middle East, they are largely fragmentary and mutilated and their interpretation is often a matter of conjecture. Their cultures passed away and the continuity

of their traditions was broken.

The oldest literary sources we have from the ancient Greek world are the works of Homer (c. 700 BC). From the Middle East, the oldest extant books are those of the Hebrew *Bible*. While parts of the Old Testament are much older, as a whole much of it was redone after 500 BC. It endured the vicissitudes of Egyptian and Assyrian conquests and Babylonian captivity. The *Gāthās* of Zoroaster are also old, dating from before the founding of the ancient Persian empire (525 BC), but they are later than the Vedic. They are also fragmentary since their portions were destroyed by the Greek and Muslim conquest of Persia.... While The Egyptian Book of the Dead is much older than these (to 3000 BC), no living tradition or record of its interpretation has survived for us.

This exhausts the literature on which the history and civilization of ancient world is attempted by Western scholars; it is as insignificant as a cow-hoof in comparison with the vast ocean of Vedic, Purāṇic and Epic literature. Dr. Valdiya's attempt is welcome to assess purāṇas and epics in the light of geodynamics of Indian subcontinent and for this he deserves our congratulations.

The book is divided into twelve chapters dealing with geodynamics of Bhāratavarṣa and its culture profusely supported by quotations from purāṇas and epics. Their titles are: 1) *Purāṇas: The Ancient History*, 2) *Geography of Modern India and Changes of Landforms with Time*, 3) *Purāṇaland: Position and Extent*, 4) *Mountains of Bhāratavarṣa*, 5) *Rivers of*

Bhāratavarṣa, 6) *Flora and Fauna of Bhāratavarṣa*, 7) *Peoples of the Purāṇaland*, 8) *Tirthas and Holy Shrines*, 9) *Āśramas and Purs*, 10) *Tectonic Movements*, 11) *Understanding of Geology and Knowledge of Engineering* and 12) *Long Summary of the Book*.

The first chapter includes treatment of the purāṇas and the epics Rāmāyaṇa and Mahābhārata. In the very beginning, defining the concept of 'Bhāratavarṣa', the author notes "The works known as *Purāṇas* indeed chronicle the history of very ancient times, embodying the accounts of the people living in what are today India, Pākistān, Afghānistān, Central Asia, Western Tibet, Nepāl, Bhūtān, Bānglādeśa and Śrī Lankā." This region he calls 'Purāṇaland' in more than one place in the book. He rightly recognised the encyclopedic nature of the purāṇas and identifies eleven subjects like architecture, medicine, animal husbandry, astrology, grammar, statecraft, metallurgy etc. that are treated in them. He holds that 'the original text of the Purāṇ is compendium of knowledge embodying in a holistic manner, spiritual, religious, cultural literary, military, financial, historical and geographic aspects.' The epics Rāmāyaṇa and Mahābhārata also are given proper treatment.

In fact puranas are basically history books. There is no pre-history in the Puranas; all is history, definite and certain, right from the creation of universe and the emergence of man in the seventh Manvantara, i.e. *iti+ha+āsa*. The human history, from the inception of humanity, is also given fair representation in the five original characteristics (*lakṣaṇas*) of the Puranas. As such these are frequently updated and additions of other subjects of social welfare were made quite often to make them real compendium guide for the society, a feature that has been used to demean by Western scholars. In later periods the Puranas assumed encyclopedic nature to meet the exigencies of the Hindu society and compendium of Hindu lifestyle, sciences, philosophy and arts etc. Measures to secure the society through vicissitudes of changing social and political order

are also prescribed from time to time. Tirtha-yātrā, dāna, bhakti, spirituality, varṇa-vyavasthā and moral codes in the form of ten aspects of dharma are some of these features.

Prof. Valdiya defines Jambudvīpa in second chapter (12) and holds "If India (*Bhārata*) and its surrounding terrains of neighbouring countries -- Pākistān, Afghānistān, Turkmenistān, Uzbekistān, Kyrgystān, Kazākḥastān, Tibet, Nepal, Bhutān, Myānmār, Bānglādeśa and Śrī Lankā -- are included, the land is indeed a continent -- the Indian continent." This he rightly identifies with Jambudvīp of the Puranas. He identifies five geological divisions of South Asia, including Myanmar. "In the north is the mountain province of the Himālaya, girdling the almost that expanse of the Indo-Gangetic Plains. Plateaus and uplands constitute the larger part of the Peninsular India in the south, while coastal plains form a narrow fringe of the triangular Peninsular India. In the far east, the flood plains of the Irrawaddy River make up the long swath of land in the heart of Myānmāra, which is bordered in the east by Shan Plateau."

The author gives (14) a vivid geological description of Himālayas and Pāmīr in following words "There are four latitudinal belts or terrains within the vast expanse of the Himālaya. Each of these belts or terrains has its own distinctive geological setup evolutionary history and geomorphological development. These are the Śīwalik in the south, the Lesser Himālaya and Great Himālaya or Himādri in the middle and the Tethys Himālaya in the north." About the last region the author holds (16) "The Tethys terrine is made exclusively of sedimentary rock, ranging in age from more than 600 million years to 45 million years. The sediments were deposited in what is known as the Tethys Sea." He further notes "The Himālaya province ends up against mainland Asia, 30-60 km wide zone of collision of India with Asia demarcating the margin of India. The collision took place 65 to 50 million years ago. The rivers Sindhu and Tsangpo occupy the collision zone.... To the north is the Kārākoram

that ends up in the Pāmīr massif, a mountain knot of sorts. These belts belong to an orogenic province older and quite different from the Himālaya.”

These observations by a renowned geologist can be interpreted in terms of the Puranic legends concerning orogeny of Himālaya and Pamir beginning from the Great Flood of the seventh Manvantara. The author, in Preface, rightly holds “Profound thinkers and keen observers that they were, the Puranic scholars had fairly accurate idea of the structure of the earth, and the origin, evolution and progression of life on land. They not only knew where the ores occur, but also methods of mining and converting them into metals. They also harnessed the gasses that oozed out from underground sources and burned as flames. They had fairly good grip of the science of engineering of fortifying towns, reclaiming lands from sea, and building bridges across even a sea. They could interpret uncommon signals of geophysical changes and anomalous behaviour of birds and animals; and had the presence of imminent occurrence of natural hazards.”

The third chapter deals with the 'Puranaland: Position and Extent'. Here the author observes (32) “The mega-islands are *Jambudvīpa*, *Plakṣa*, *Shālmali*, *Kuśa*, *Krauñcha*, *Shāka* and *Puṣkara*” and holds (33) that according to the Puranas these are “the seven continents we know today-- Eurasia, Africa, South America, North America, Arctic, Australia and Antarctica.” But he leaves the question of identification of these continents with the Puranic ones for the reader to guess.

Dr. Valdiya rightly identifies Puranic Meru with Pamir and describes that ... “the Meru at the centre of *Jambudvīpa* is the Pamir massif in Central Asia, and the countries described as *Ilāvritavarṣa*, *Ketumālāvarṣa* (sic), *Hrivarṣa*, *Hiranyavarṣa*, *Ramyakvarṣa* and *Kuruvarṣa* are the Central Asian countries Tājikistān, Turkmenistān, Afghānistān, Sinkiāng (*Xinjiāng*) Uzbekistan-Kyrgistān and Kazākhtān, respectively.” Then on the basis of

Kūrmapurāṇa and Viṣṇupurāṇa he describes the pattern of drainage of the Pamir massif and the four rivers that issued from Meru in the four cardinal directions. Accordingly “*Sitā* River originates from the eastern flank of the massif and the Mandār flows through Bhadrāshvavarṣa. *Alakanandā* flows south to Bhāratavarṣa. The *Suchakshu* or *Chakshu* flowing west across a number of mountains and through Ketumālāvarṣa, discharges in to a sea. The Bhadrā flowing northwards through Kuruvarṣa empties itself in the northern sea.” He identifies *Suchakshu* River with Oxus or Amu Daryā; ‘*Bhadrā* with its *Madhudhārā* branch’ of present Syr Daryā. “The *Sitā* River is the Tagdumbash branch of the Yārkand River flowing east past Kāshgar into the sea of sands-- the Takla Mākān desert within the Tarim Basin. Bhadrāshvavarṣa is the Puranic name of the state now known as Sinkiāng or Xijiāng of the Uighur people in western China.” “The Alakhnandā descended south from Meru” but it might be Gilgit River or Chitral River.

These are the four original river systems described in the Puranas issuing from the Meru or Pamir. This happened several million years ago when the Himālayas was still in the process of emerging. Here we really are in the realm of geology and Dr. S.P. Gupta (1979: 9-10) precisely describes the early geodynamics of Central Asia in following words:

Thus, in the beginning, some 500 million years ago, a vast sea existed from Western Europe across China and the northern shores of India which was then a separate land-mass. ...For over 100 million years sediments brought by river formed huge beds of sedimentary rocks in the sea.

Then some 60 million years ago, it is hypothesized, the Indian land-mass collided with the Asian land-mass. The impact crumbled the layers of sedimentary rock along the edges of the two continents, creating a line of colossal mountain ranges, among them the

Pāmīrs, the Tien Shan and the Himālayas. The newly formed mountains trapped the sea in north, creating a huge island basin. As the welding of India to Central Asia continued over the next 25 million years, this basin was wedged up by the edge of the Indian land-mass and was drained to the west-- into the present-day Black Sea and the Mediterranean-- leaving Turkestan with only a few large saline “puddles”, among them are the Caspian and Aral Sea.

Then followed the period of the creation of fresh-water rivers, such as the Amu and the Syr which, along-with numerous others, now lost or merged, kept on meandering, through their own loads, deposited, cut and re-deposited and to be re-cut once again.

Being an accomplished geologist Dr. Valdiya could have gone deep into the Puranic geology, which is very rich in the subject. It could have been a pioneering work for the future researchers in Puranic geology because he as a geologist is in better position to distinguish different geological strata in the formation of the Central Asian and South Asian landmass and various stages of its drainage pattern. Instead he elects to pick up the lists of rivers from the Puranas in different regions of the present Bharat.

The Puranas are very elaborate and comprehensive in describing the rivers of greater Bhārata as these are especially sacred for the society. One can also trace a chronological sequence in these lists and discern a historical background. Dr. Valdiya has been quite elaborate in describing them region wise and identifying with the existing ones. He has traced their source of origin and followed their flow till they submerged in another river or in the sea. His sharp eyes do not fail to recognize (89) that in 'the Upper Jurassic age forming of cores of concretion balls or nodules called *Shāligrāma*. He notes that the 'Shivapurāṇa describes the *Shālgrāma* (sic) having formed by innumerable insects with sharp teeth forming

circular features.' “The narration that the Gandaki representing the very pious Tulsī will be intimately associated with the *Shāligrāma* is very apt and well-validated by palaeontological evidence.”

At the same time he has quoted several passages from the Puranas listing seven river systems (73, 83). Here one expects that as a geologist he will recognise the geological sequence of these lists of rivers and their shifting geographical position in successive lists. In fact the Puranas have recorded more than one list of seven rivers and we can assume that these did exist in different periods geologically. Though it is not possible to determine the geological period of each of these lists their geographical location is not always impossible to distinguish. This may be considered as indication of the shifting geographical gravity of centre of the civilization of people who revised Puranas at different times and ages. Dr. S.P. Gupta's assertion that river courses kept on changing and that some of them 'now lost or merged, kept on meandering, through their own loads, deposited, cut and re-deposited and to be re-cut once again' should be viewed in this light. As we have noted the Puranas and the epics *Rāmāyaṇa* and *Mahābhārata* being history books were revised time and again contain many lists of rivers that had emerged and lost and re-emerged at different periods of time. Dr. H.H. Wilson, in his *Rgveda Saṁhitā* (volume I, Maṇḍala I, p. 82-83) notes several such lists given below:

Seven Rivers-- According to one -- *Paurāṇka* legend, the *Gaṅgā* divided on its descent into seven streams, termed as *Nalinī*, *Pāvanī*, and *Hlādinī*, going to the east; the *Cakṣu*, *Sītā*, and *Sindhu*, to the west; and the *Bhāgīrathī* or the Ganges proper to the south. In one place in the *Mahābhārata*, the seven rivers are termed *Vasvaukasara*, *Nalinī*, *Pāvanī*, *Gaṅgā*, *Sītā*, *Sindhu* and *Jambunadī*; in another, *Gaṅgā*, *Yamunā*, *Plakṣaga*, *Rathasthā*, *Sarayū*, *Gomatī* and *Gaṇḍakī*.

Dr. Valdiya also notes these names but

does not specify their geological or historical nature. Obviously these names denote different geological periods and geographical regions that represent various strata of civilization. It is worthy of note that in modern times a different set of seven rivers are enchanted at the time of bath by Hindus, these include rivers of Bharat before partition. (*Gaṅge ca Yamune caiva Godavari Sarasvati | Narmade Sindhu Kavari jale'smim sannidhim kuru||*) Thus the historical nature of the Puranas depicting different geological periods should be kept in mind while dealing with them. Such a study might be revealing to trace the shifting centre of gravity of Hindu society.

Similar is the case with mountains. The Puranas recognise two types of mountains, the *Kula-parvatas* and the *Kesara-parvatas*. The mountains of Central Asia including Himalayas are called *Kesara-parvatāḥ* in the *Viṣṇupurāṇa* (2.2.28). These are also called *Varṣa-parvatāḥ* in the *Śivapurāṇa* and *Maryādā-parvatāḥ* in the *Kūrmapurāṇa*. Dr. Valdiya has noted these two series (51) but could not differentiate between the two and wrongly includes Himālaya among the *kulaparvatas* (53) against the Puranic lists. Undoubtedly all the seven *kulaparvatas* situated in the peninsular India are geologically different from those of the northern mountains; the fact points to the geological talent of the Puranic scholars.

Here are some glimpses of geological history discerned from the study of Puranas and epics. Puranic history of life on earth begins with the first Manvantara that evolved gradually in successive Manvantaras till we reach the sixth one that starts from about 429 million years ago. Modern geologists divide it in many geological ages beginning from this Manvantara. It is interesting to have a comparative account of both the sciences. According to Puranas present set of life begins from the seventh Manvantara with the eruption of Meru with the collision of the Indian landmass with Asia. Here follows a brief description of it.

Prof. Valdiya talks about 'the zone

collision of India with the Asia' (16 and 86, fig. 5.6) but nowhere recognizes that the event triggered the process of orogeny in the region. Perhaps western geology does not recognise this. But the Purāṇas have records of principal geological events of Jambudvīpa (i.e. Asia) in the form of legends right from the emergence of the seventh Manu, the son of Vivasvāna about 120 million years ago when the Indian landmass, identified as the Ark of Manu by us, collided with the Asian landmass, both being submerged in the great deluge that occurred during the interglacial period. This was the end of the age of the sixth Manu Chākshusha that continued from 428.98 million years till 120.53 million years from now (Verma, 2006: Table 1, p. 8). The modern science of geology recognises several changes in the evolution of life and land formations. The Purāṇas have recorded this history in the form of legends that can be interpreted with insight in the light of modern scientific researches. To have a better understanding we will attempt to correlate the legends with geological changes as modern geologists have put it.

Modern geological studies divide the age of the sixth Manu, from 428.98 million years onwards, into several geological periods. We cite excerpts from the *Ultimate Visual Dictionary*, 21st Century Supplement. Accordingly (66) "Towards the end of Carboniferous times (363-290 million years ago), the earth's continents Laurasia and Gondwanaland collided, resulting in the huge land-mass of Pangaea. Glaciers smothered much of the southern hemisphere during the Permian period (290-245 million years ago), covering Antarctica, parts of Australia, and much of South America, Africa, and India. Ice locked up much of the world's water and large areas of the northern hemisphere experienced a drop in sea-level. Away from the poles, deserts and hot dry climate predominated. As a result of these conditions, the Permian period ended with the greatest mass extinction of life on earth ever."

The next, called Triassic period (245-208 million years ago) ... 'marked the beginning of

what is known as the Age of the Dinosaurs (the Mesozoic era). During this period, the present-day continents were massed together, forming one huge continent known as Pangaea. This land-mass experienced extremes of climate, with lush green areas around the coast or by lakes and rivers, and arid deserts in the interior. The principal form of animal life included primitive amphibians, rhynchosaurs ("beaked lizards"), and primitive crocodilians. Dinosaurs first appeared about 250 million years ago, at the beginning of the Late Triassic period. By the end of the Triassic period, dinosaurs dominated Pangaea, possibly contributing to the extinction of many other reptiles." The other important reptile species, not so emphasised were the flying pterosaurs, relative of dinosaurs that soared high above them. Pterosaurs ruled the skies, flying over land and sea while the dinosaurs stalked the earth. The Mesozoic ended with the Cretaceous period which lasted from 146 to 65 million years ago. During this period Gondwanaland and Laurasia were breaking up into smaller land-masses that more closely resembled those of the modern continents.... At the end of the Cretaceous period, however, dinosaurs and pterosaurs became extinct. The reason for this mass extinction is unknown but it is thought to have been caused by climatic changes due to either a catastrophic meteor impact with the Earth or extensive volcanic eruptions.

It is interesting to note that the extinction of dinosaurs (reptiles, called serpents in the Puranas) and pterosaurs (flying reptiles i.e. *garuḍa* of the Puranas) can be alluded to in the Puranic legend of Vinitā, the mother of serpents and Kadru, the mother of Garuda. Both are said to be the daughters of Prajāpati Kāśyapa and rivaled each other for hegemony over the earth resulting in extinction of both the species.

The Cretaceous period was followed by the Tertiary period (65-1.6 million years ago) was characterized by a huge expansion of mammal life. By the beginning of this period, the continents had almost reached their present

position. The Tethys Sea, which had separated the northern continents from Africa and India, began to close up, forming the Mediterranean Sea and following the migration of terrestrial animals between Africa and Western Europe. India's collision with Asia led to the formation first of the Pamir massif and then of the Himalayas. This period has also been characterized by alternating cold (glacial) and warm (interglacial) periods.

The continental drift theory reveals that the Indian landmass has been the most mobile among all the continents. It travelled about 9000 km distance from Antarctica and finally collided with the Eurasian landmass. This started orogenic activity and Pāmīr (Meru) and other mountains of Central Asia were created. These are called 'Kaseru' or 'Maryādā-parvataḥ' and are of different geological nature as compared to the peninsular mountains which are called 'Kula-parvatāḥ'. The check in kinetic movement of the Indian landmass caused its anticlockwise rotation and its eastern portion also started subducting under the Eurasian landmass giving rise to the Himālayas. This resulted in many geological changes in the Indian continent. Firstly it became a subcontinent. Secondly the South Sea became the eastern sea now called the Bay of Bengal. Thirdly a 'Fore Deep' was created to the south of the Himalaya that later became the plain of Ganga. This depression is called the 'Uttara-samudra' and 'Saumyasindu' in twelfth century copperplates (Verma, 2010. 82). The Agastya legend drinking the sea water is related with this sea in Vanaparva (chapter 105) of the *Mahābhārata*. This was a geological event because when the sage was asked to release the water after the demons were killed he said 'it is consumed, do something else'. Then from the next chapter of the Vanaparva of the *Mahābhārata* begins the history of bringing Ganga on (new lytormed) earth.

The other legend of Agastya is related with the stagnation of the mountain Vindhya. This also is a geological event. There (*Mahābhārata*, Vanaparva, chapter 104) it is said that Vindhya started soaring high in competition

with the Meru which was then the highest mountain on earth (i.e. before the emergence of Himalaya). Actually this was a false rise resulted by the kinetic check of the Indian landmass. The term Agastya is derived of two words 'aga' means mountain and 'stha' means 'to stop'. It is said that Agastya was one of the two earliest sages in history, the other being Vasiṣṭha his brother. The South Indian legends relate that he reached Kerala via Dvārakā. Here it may be pointed out that Dvarakā of Kṛṣṇa submerged in to the sea after the Bhārata war. The attached map (Fig. 2) shows that most of the west coast has gone under sea at different periods and that there must have been a land route via the delta of Indus to Dvārakā from Mery. The cluster of Harappan sites around the mouth of Indus as well as the Kathiawar peninsula indicate that these regions might have been connected by land.

The theory of continental drift shows that Indian continent was once joined on its eastern side with Australia and on the western it was attached with Africa and Madagascar. Its orientation also was different at various stages. See changing orientation of the Indian continent in the attached map (Fig.1). What is now the eastern coast of Orissa was once the South Sea. In the *Rāmāyaṇa* this is mentioned at least in two places. (Verma, 2006: 44). The present author holds this to be the geological position during the age of Rama. Prof. Valdiya (90) has also referred to the *Skandapurāṇa* twice mentioning the rivers Mahanadi and Suvarnarekha (also called Suvarnamukhi) meet the South Sea (*Dakṣiṇodadhi*), obviously on the coast of Orissa. This goes to show that the Puranas and the epics recorded this geological position of the South Sea as contemporary existence. It is also interesting to note that Indians were aware of a North Sea also. A Gahadavala period (12th century) copperplate inscription refers to Uttara-samudra and Saumya-sindhu for the Gandaka Depression of the northern part of eastern U.P. and western Bihar. (Verma, 2010: 82).

Thus the collision of the Indian landmass

with that of Asia was a geological phenomenon that caused the eruption of Meru, the Pamir. The Puranic scholars have figuratively described this as the Ark of Manu being tied at the top of Meru. This Ark can be nothing else than the Indian landmass. This was accompanied by deluge that may be explained in terms of modern geologists' perception of glaciers melting down and a rise in the sea level. Since this incident is associated with the emergence of humanity many ancient civilizations remembered and narrated this in different versions.

Dr. Valdiya has rightly pointed out the geological precedence of Pamir (Meru) to that of the Himalaya and observes (16) "To the north is the Kārākoram that ends up in the Pamir massif, a mountain knot of sorts. These belts belong to an orogenic province older and quite different from the Himalaya." In an attempt to correlate with the Puranic history he notes (105) "Around the Meru Parvat, presently known as Pamir, it may be recapitulated, the semicircular territory was Ilāvrittavarṣa in Puran times." But in the map on p. 84 he places 'Sumeru' area around Kailāsa in the Himalaya.

Here not only the earliest episodes of human history were enacted but also 'Dānavas' and the 'Ailas' (descendents of Ila, the eldest daughter of Manu) were living together and had marital relations. Pūru, the youngest son of Yayāti, who inherited the mighty Aila kingdom, was the son of Śarmishṭhā, the daughter of the 'Dānava' king. These 'Dānavas' can be regarded as the predecessors of later Iranians who remember to have come from Airyanem Vaejah which I am inclined to identify with Ilāvarta or Ailanām Vartaḥ. Interestingly the Celts also claim to be the progeny of Danu (Verma, 2011. 163 ff.).

We have another incident to claim the geological precedence of Meru or Ilāvartavarṣaa. Meru was the earlier abode of Śiva when Satī, the daughter of Dakṣa Prajāpatī, was his consort. The Matsyapurāṇa (11. 44-45) calls this region as Śaravaṇa which I have

identified with the river and valley of Zeravshan in Central Asia. In the Ṛgveda this region is called Śāryaṇāvat where Soma used to grow. (Verma, 2012: 182) The Himalaya started emerging after Meru.

The identification of present Sri Lanka by Prof. Valdiya (61-61, 194, 207 etc) with that of the *Rāmāyaṇa* period is not tenable on geological norms. Geologically this island was a part of the main Indian landmass (Fig.2). The Sangam literature repeatedly mentions submergence of land into the sea. The *Mahābhārata* also mentions such an event about Dvārakā, as noted above. The submergence of the southern part of Dhanushkodi township in 1948-48 along a WNW-ESE trending fault is an event of our life time. Besides, there is no literary or historical tradition linking this island with the *Rāmāyaṇa* episode. The present Sri Lanka is called Tambapanni in Aśokan edicts, so also in the Greek literature of the first century BCE. This name can be derived from its shape that resembles a betel leaf (*tāmbūla+parṇa*). No one knows at which time it assumed this name. It is to be noted that in Telugu dictionaries 'lanka' means an island.

The learned professor claims (61) that “The Prasravan Giri appears to be the Purāṇic name of the 1525-1647-m Nallamalai-Velikonda Hills ... The *Vālmiki Rāmāyaṇ* mentions the name of *Vindhyagiri* in connection with the Āndhra Pradeśa mountains. The geologists know that in terms of the age as well as in rock formations, the mountains of the Cuddapah Basin of Āndhra Pradesh, including the Nallamalai, are correlated closely with those of the Vindhya Basin. This possibly explains the inadvertent naming of the Āndhra mountains. May be Vālmiki was aware of the rock types and of the contemporaneity of the Vindhya and Nallamalai.”

Then ignoring the great distance between Vindhya and southern part of Kerala the author notes (62) “Evidently, from Āndhra Pradeśa they (the Vanara party) went to the *Malaya Giri*-- the present Cardamom Hills

through the Anaimalai Hills, forming the southern Sahyādri Range. The *Mahendra Parvat* lay at the southern extremity of the Malaya, overlooking the Tāmraparni River on the one side and the sea on the other.” To press his point the author links together three verses from two different *kandas* of the *Rāmāyaṇa* that are unconnected to each other. This is a most difficult postulation for the Vanara search party to travel thousands of kilometers from coastal Andhra to the southern tip of the Sahya Mountain in Kerala; and though even this also is called Mahendra Parvata it is neither the convenient point nor the nearest one to go to Sri Lanka. Instead the Ramesvaram could have been better option for the party to cross the sea.

On the other hand the Mahendragiri of *Rāmāyaṇa* is on the coastal Andhra where the party was in search of Sītā. Vālmiki cannot be blamed for “inadvertent naming of the Andhra mountains” and it is unwarranted to say that “Vālmiki was aware of the rock types and of the contemporaneity of the Vindhya and Nallamalai”. The poet of the *Rāmāyaṇa* has given a minute, detailed and vivid account of the movement of the search party and he describes how they entered the *Rkṣa-bil*, i.e. a cave-hole and with the help of the pious lady, Tapasvinī, came out on the sea coast (IV.52). Here she points that 'this is the Vindhyagiri, that is the Prasravaṇa-śilā and this is the ocean Mahodahi.' (Verma: 2006. 43). This sea was then the South Sea not only in *Rāmāyaṇa* but also in the SkandaPurāṇa as quoted in the work under review (90). This statement shows that at that time all the three were within a visible distance that could be pointed out by index finger. The Mahendragiri is still on the Andhra coast known by this name. A sixth century inscription of the Later Guptas mentions this feat of Hanuman from Kośavardhana, another name of this mountain (Goyal: 1987. 125 and 128). So far as the janapada of Kiṣkindhā is concerned it said in the Brahmapurāṇa (27. 60-63) that it is located in the Vindhya region. This Kiṣkindhā also finds mention in as capital of the seventh century Guhila kings in at least three inscriptions

(Goyal: ibid. 177-83). These traditions should not be ignored while dealing with the geography of *Rāmāyaṇa*.

The geological aspect of this should also be considered. The Mahendragiri must have been on the sea shore during the *Rāmāyaṇa* period but now it is several kilometers away from it. It is now for the geologists to decide how much time will require filling this gap by the loess brought by the rivers. Here it is noteworthy that while there are literary references of submersion of land on the western coast of India the eastern coast is noted for reclaiming land from the sea because majority of rivers of the peninsula flow in the Bay of Bengal.

As discussed above the geological evidence of continental drift theory points out that there was time in antiquity when the present Bay of Bengal was oriented southwards, then it was called the South Sea. Prof. Valdiya has noted this in some quotations but could not understand the real significance of this Puranic knowledge.

Obviously he is guided by the western chronology of history which compresses all historical events within ten centuries and about half of which period is reserved for nothing. Their prehistory now extends in two million years (till sixth decade of the last century this period was only one *lakh* years) and during this prolonged period man struggles for civilization. In fact western of history is based on ignorance, imaginations and speculations by a people who after the tyrannical suppressive rule of the Romans became victim of the ignorant clergy who tried everything to keep their followers away from knowledge. Enlightened after sixteenth century they found within three centuries in commanding position in all the continents through brut power. This behaviour is reflected in the world history written by them. Their treatment with the conquered civilizations became pattern of world history in where every human movement is perceived in terms of invasion only. The Old Testament served as

model for chronology. This faulty chronological scheme has tremendously influenced the minds of Indians also who are unable to comprehend the traditional Puranic chronology supported by the sciences of geology, zoology, astronomy & c.

However, the tradition accepts Rama to have flourished in the Tretāyuga of twenty-fourth Mahāyuga i.e. about 18 million years BP. Al-beruni also reached this date after calculation (Sachau: 4). The map (Fig.1) showing positions of the Indian continent at different periods definitely shows that the present bay of Bengal was earlier the South Sea as recorded in the contemporary work of *Rāmāyaṇa* as well as in the Skandapurāṇa.

There are zoological references also in literature to prove this great antiquity of the age of Rama. Sundarkāṇḍa of the *Rāmāyaṇa* records that while Hanuman was searching Sītā in Lanka he saw four tusk elephants on the gate of Rāvana's palace. Another mention of this animal comes from the chapter 27 (11-12) of the same kāṇḍa. The existence of four tusk elephant cannot be dismissed as a fancy of the poet Vālmīki who was a contemporary of Rama. Paleontological science records the existence of this animal with the name Mastodontidae or Mastodonte about 38 million years ago and extinct by 15 million years ago. According to *Rāmāyaṇa* this animal not only existed but also was tamed and used for riding. The Bhāgavatpurāṇa (8.8.4) also mentions four-tusked elephant, the Airāvata that emerged from the ocean. These are zoological evidences of the antiquity of the age of Rama besides the geological ones cited above.

Now we conclude this discussion after pointing out some anomalies in modern thinking about the River Sarasvatī. Hundreds of articles and several dozens of books have been written during last two centuries but all of them appear to ignore literature and geology. Due to this tremendous interest in the river and ignoring the literary and cultural context we have lost track of broader historical perspective of this river. It needs no emphasis that Sarasvatī was the most

prominent river of cultural importance in the Ṛgvedic Age. It can be compared with the present culture of the Hindus that can be called as the Age of River Ganga. Both the ages are linked together but latter starts after the former gives way to it. Geologically speaking, as specified above, the Ganga civilization begins after the Fore Deep to the south of Himālaya dried and became habitable and the Mahajanapadas of Pancāla, Kosala, Kāśī and Videha were established in the Ganga plain. These regions do not figure the Ṛgveda. There is a sharp contrast between the Sarasvatī civilization and that of the Ganga valley. Geographically the former extends from Shortughai in north Afghanistan to Gujarat in the south and up to the west of Ganga in the east. This is the region that is called the 'Sadana of Vivasvān' in the Nadi-Sūkta of the Ṛgveda (X.75) where three sets of seven rivers (Sapta-Sindhus) used to flow. Sarasvatī is undoubtedly the most praised river in Ṛgveda.

Archaeologically also this civilization is distinct from that of the Ganga valley marked by the NBP ware and Punch Marked coins that geographically cover the whole subcontinent. Linguistically also the Ṛgveda is quite different from the Sanskrit of Puranic period. It cannot just be a fancy of the Puranic people to devise infallible method to preserve every word of the Vedas with original accent in human brain tape-recorders and employ a group of people in the society to devote their life for generations to come. In spite of these differences all efforts were made to keep the current of continuity undisturbed.

The story of Videgha Māthava can be viewed as a connecting event between the two phases of the same culture. Videgha, the son of Mitha (Videha and Mithila are names of the region that were named after these two personalities) starts from the River Sarasvatī and reaches the River Sadānirā beyond which was the marshy land that he selects it for inhabiting his people. Evidently he left his Harappan settlement in the Sarasvatī valley that had become ecologically inhospitable for human

habitat.

While Sarasvatī is a mighty river in the Ṛgveda its image in the Purāṇas and epics is that of a dry river. The *Ṛgveda* (VII.95.2) states that Sarasvatī issues from the mountain and flows into a sea. In the same work (III.33.2) two other rivers, Śutudrī and Vipāśa also are stated to go to the sea. Obviously this sea cannot be the Arabian Sea; was the Rajputana Sea that now has converted into the Thar Desert. It is strange that geologists have avoided referring to this sea although a prominent geologist notes that 'The large tract of low country, forming Rajasthan west of Aravallis' contains 'marine, fossiliferous deposits of Mesozoic and Cainozoic ages' (Wadia: 4). The Rajasthan Sea was a reality and it dried up, not because it was drained into the Arabian Sea but because it dried up of its own during several millennia of its existence. It is now called Thar Desert, i.e. a desert that resembles a plate on account of its being shallow by the debris brought by the mighty Himālayan rivers Sarasvatī, Dr̥ṣadvatī, Śutudrī, Vipāśa, Yamuna and many others. It is still a unexhaustable source of salt for the continent. The tradition relates Sarasvatī was carrying fire (*Vaḍavānala*) with it and deposited it into the sea. (See Skandapurāṇa, Prabhasakhandā). Though it is said to have deposited it in the sea at Prabhasa this narration must be viewed in relation to the Rajasthan Sea which is now the Thar Desert. The course of Sarasvatī, and also of Dr̥ṣadvatī on which the last site is the Kalibangan, end in Rajasthan and there is no trace of it up to Prabhasa in Gujarat. But modern historians have dragged Sarasvatī, through dotted lines, or even continuous line up to the Arabian Sea via Cholistan in Pakistan, i.e. the western borders of the Thar Desert.

This phenomenon of drying of the Thar Desert continued for several millenniums and disturbed the ecological balance of the Harappan (Sārasvata) civilization. Our archaeologist under the influence of Western chronology, are dating this civilization very miserly. It is little more than a joke when they proclaim that Sarasvatī started drying up before

1900 BCE. Valdiya (27) is no exception as he claims 'This river vanished sometime around 3800±100 years ago'. This modern estimation of archaeologists negates literature because it has already dried up during the Mahābhārata war in 3138 BCE.

Balarāma, the elder brother of Kṛṣṇa opted to go on a pilgrimage along the river Sarasvatī instead of fighting for any one group. This episode is related in the Śālyaparva (chapters 34 to 39) of the Mahābhārata. He started his pilgrimage to the source of Sarasvatī from the territories of the Kurus (*Kuruṇām vaiśase*, 35.21), then the verse 37 of the same chapter notes that he reached Kurukṣetra. The following 49 verses relate the story of Candra being removed of his curse after bathing in the Prabhāsa-kṣetra; and from the verse 87 Balrama resumed the pilgrimage from the *tīrtha Camsodbheda* on Sarasvatī. Obviously the story of Candra is a modification in praise of that *tīrtha* and should not be accepted as a part of Balarama's pilgrimage. It is specifically stated that he took bath at *Camsodbheda* because here the Sarasvatī seems to have re-appeared, as the name suggests. Then he proceeds to next *tīrtha* called *Udupāna* (36.2 and 53) where he could not get sufficient water for bathing and satisfied by touch (*upasprśya*) only. Probably this was then only a dry well (36.25 and 33). Next he visits the place known as Vinaśana. Here also, he only touched the water (37.2) and did not bathe. The other *tīrthas* mentioned in the chapter are difficult to trace. The next two chapters eulogize Sarasvatī by connecting with other rivers of the Ganga valley to establish their sanctity. This narration proves that the River Sarasvatī had become dry by 3138 BCE when the Bharta War was fought.

Harappan civilization was dependent on the ecology of the Sārasvata (Rajputana) Sea and it diminished and finally vanished with it. This geological fact was a reality of India's ancient past and all other reasons for its extinction are just guess and speculation. This civilization was dominated by the River Sarasvatī as described in the *Rgveda* and the

Ganga civilization took over after its extinction. This delineation is produced here on the geological history and legends described in the Puranas and the epics. This is also supported by the Vedic literature including Samhitas and Brāhmaṇas.

This geological outline of Puranic history is discussed here because I, as a student of history, feel indebted to this excellent work of Prof. Valdiya. The author is basically a geologist with great experience but little background in history. This attempt by him provides a preliminary survey of the immense Puranic material on geology and opens avenues for future researchers. His pioneer work in the field will prove torchbearer for generations to come. However, the author has shown insight and there are many positive flashes in the book that I could not highlight in this review. Prof. Valdiya has put in immense labour in collecting material from the Puranas and the epics and interpreted them intelligently.

The book is well produced and worth its price. It is printed on art paper and illustrations are of high quality. There are however many proof errors in the Nagari quotations from the Puranas. Use of diacritics in modern geographical names could have been avoided. Let us hope many more articles and works on the subject from the lucid pen of Prof. Valdiya.

Bibliography:

1. David Frawley, *Gods, Sages and Kings: Vedic Secrets of Ancient Civilization*, Motilal Banarasidas Publishers Private Limited, Delhi, 2003 (Reprint).
2. Goyal, S.R. *Maukhari-Puṣybhūti-Chālukya yugina Abhilekh*, 1987, Jodhpur.
3. Sachau, Edward C, *Alberuni's India* (First Indian Reprint 1964), New Delhi, volume II, p. 4.
4. *Ultimate Visual Dictionary*, 21st Century Supplement, London, New York etc. 1999, revised edition. This edition published in

2005.

5. Verma, T.P. (2006) *The Science of Manvantaras*, Bangalore, 2006.
6. Verma, T.P. (2009) 'R̥gveda ke Nadī-sūkta kā Bhaugolika Adhyayan, *Mānavikī*, Vol. I, No. 1 (July-Dec. 2009), pp. 135-145.
7. Verma, T.P. (2010) 'Daradagandakidesha ka Bhugarbhika Ithasa', *Itihas Darpan*, 15 (1), pp. 82 ff.
8. Verma, T.P. (2011) 'The Ethno-linguistic Identity of Celts: the Vedic People' *Itihas Darpan*, 16 (2), pp. 163-178.
9. Verma, T.P. (2012) 'Geography of Soma: the

Cradle of Human Civilization', *Itihas Darpan*, p.177 ff.

10. Wadia, D.N. (1998) *Geology of India*, (eventh reprint, 1975 fourth edition) New Delhi, p. 4.
11. Wilson, H.H. *R̥gveda Samhitā*, Volume I, Sanskrit Texts, English translation and notes according to H.H. Wilson and Bhāṣya of Sāyaṇācārya, edited and revised with an exhaustive introduction and notes by Ravi Prakash Arya and K.L. Joshi, Delhi, 1997.

—T. P. Verma

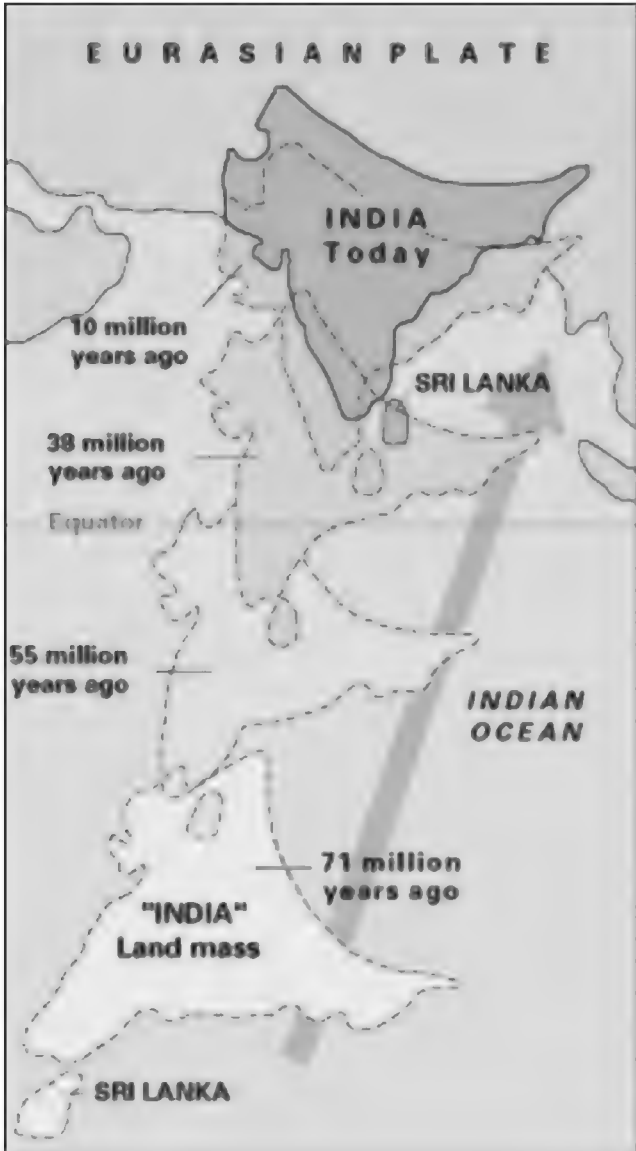


Fig.1 : Northward travel of Indian continent and its anticlockwise rotation at different stages.

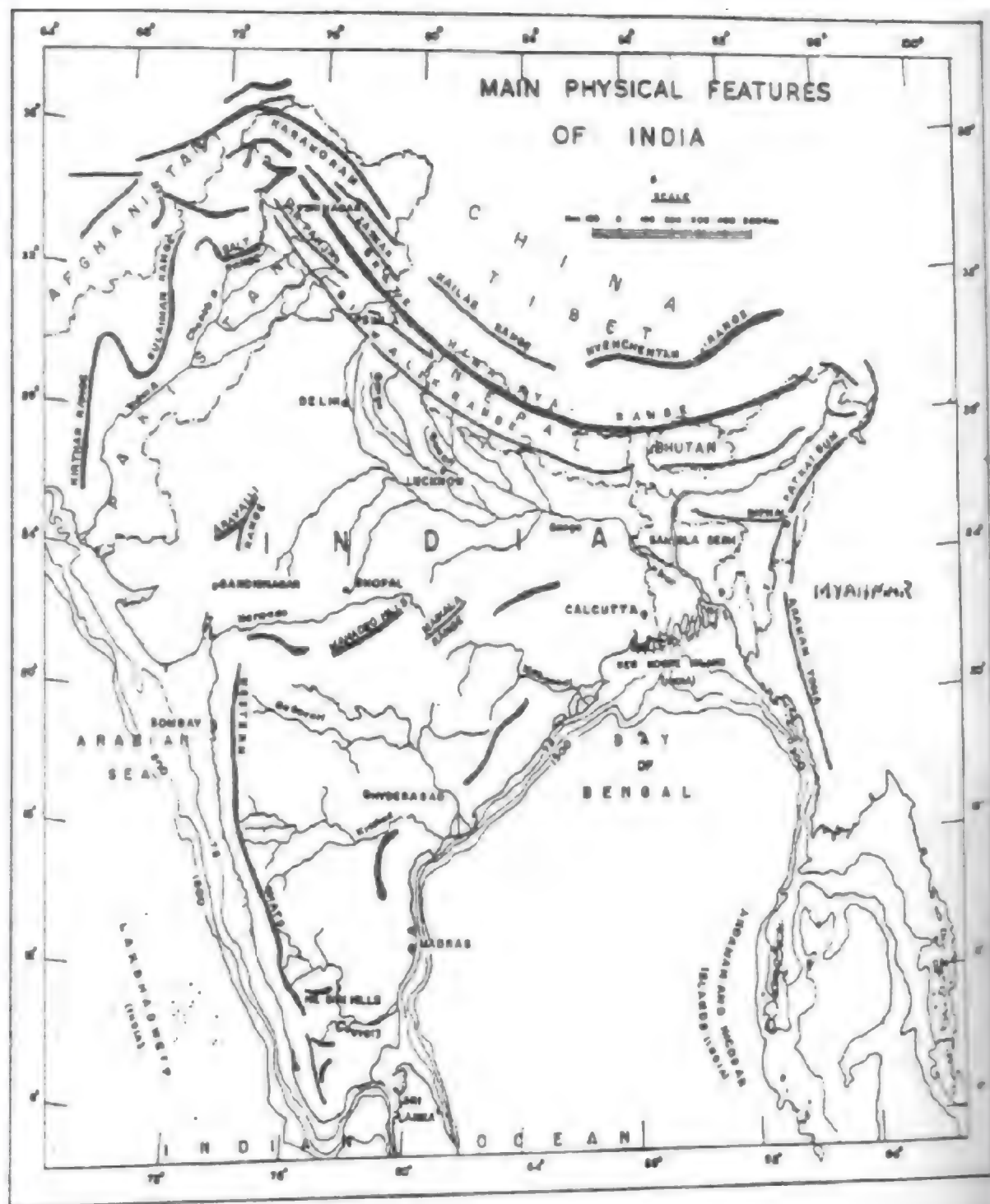


Fig.2 : Map showing shallow water on the west and south coast suggesting Sri Lanka once being part of Indian landmass.

पुस्तक-समीक्षा



पुस्तक-नाम : स्वामी विवेकानन्द की इतिहास-दृष्टि; **लेखक :** डॉ० सतीश चन्द्र मित्तल; **प्रकाशक :** अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना, बाबा साहेब आपटे स्मृति भवन, 'केशव कुञ्ज', झण्डेवालान, नयी दिल्ली-110 055; **प्रकाशन-वर्ष :** 2012; **कुल पृष्ठ :** xiv+46; **आईएसबीएन :**

978-93-82424-02-4; **मूल्य :**

अप्रकाशित (पेपरबैक-संस्करण); **समीक्षक :** डॉ० रत्नेश कुमार त्रिपाठी



सी राष्ट्र की उन्नति में युवाओं का महत्वपूर्ण स्थान होता है और धर्म की उन्नति में विशेषतः बड़ों का, लेकिन स्वामी विवेकानन्द भारत के ऐसे महापुरुष हैं जिन्होंने राष्ट्र की उन्नति का मार्ग धर्म की उन्नति में देखा और धर्म की उन्नति को राष्ट्र की उन्नति का आधार माना। वास्तव में यही मूल भारतीय-चिन्तन है जिसे स्वामी जी ने विश्वस्तर पर लोगों के समक्ष रखा। यह वर्ष स्वामी जी की सार्द्ध-शती (150वीं जयन्ती) का है जिसे विभिन्न संगठनों के साथ-साथ सरकार भी मना रही है। ऐसे में डॉ० सतीश चन्द्र मित्तल जी की पुस्तक 'स्वामी विवेकानन्द की इतिहास-दृष्टि' पथ-प्रदर्शक का कार्य कर सकती है। 64-पृष्ठीय इस पुस्तक के भूमिका की बात की जाए, तो अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना के राष्ट्रीय संगठन-सचिव श्री बालमुकुन्द पाण्डेय जी द्वारा लिखी गई भूमिका इतनी सशक्त लगती है जैसे स्वामी जी के जन्म

से उनके कार्यान्त तक की स्पष्ट झाँकी मात्र 6 पृष्ठों में समेट दी हो। '...भारतीय-इतिहास के इस संकटमय संक्रांतिकाल में, जिस महापुरुष ने धर्म, समाज और राष्ट्र में समष्टि-मुक्ति के महान् आदर्श को प्रतिष्ठित किया, आज उनके आदर्श को घर-घर पहुँचाने की आवश्यकता प्रबल रूप से महसूस हो रही है।' भूमिका की यह पंक्ति पुस्तक के उद्देश्य को स्पष्ट कर देती है। पुस्तक में स्वामी जी के जन्म के लिए प्रयुक्त हिंदू-तिथि, विक्रम संवत् व कलियुगाब्द का प्रयोग इतिहास में चल रही भूल-सुधार की ओर ध्यान दिलाते हैं। भूमिका में स्वामी जी की कही गई कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण बातें उद्धृत हैं, जैसे— पाश्चात्य सभ्यता के गर्व से दिग्भ्रान्त भारतवासियों को सनातन हिंदू-धर्म के पथ पर लौटने का आह्वान करना होगा।... यह कौन-सी शिक्षा है जो आपको पहला पाठ पढ़ाती है कि आपके माता-पिता और पूर्वज मूर्ख हैं और आपके आराध्य देवी-देवता शैतान!' आदि। भूमिका में यह ध्यान दिलाया गया है कि लगभग एक शताब्दी के ब्रिटिश शासन ने वह आघात किया था जिसे अबतक के क्रूर आक्रांता भी नहीं कर पाए थे। भारत के मन को तोड़ने का कार्य ब्रिटिश-लेखकों, इतिहासकारों, शिक्षाविदों, पादरियों, मिशनरियों व शासकों ने सफलतापूर्वक किया था। भूमिका में लिखी ऐसी कितनी ही बातें भारतीय-इतिहास-चिन्तन के प्रति स्वामी जी की दृष्टि का अवलोकन कराती है साथ ही 'हिंदू-राष्ट्र'— इस शब्दावली का प्रथम प्रयोग सम्भवतः स्वामी जी ने किया था, जिज्ञासा उत्पन्न करती है।

डॉ० सतीश चन्द्र मित्तल एक प्रख्यात इतिहासविद् हैं और इसका दर्शन इस पुस्तक में भी सर्वत्र दिखाई पड़ता है। उन्होंने स्वामी जी को इतिहास के एक शिक्षक के रूप में प्रस्तुत करने का अतुलनीय कार्य इस पुस्तक के माध्यम से किया है। भारतीय-इतिहास की अनेक मूल विसंगतियों, जैसे— आर्य-आक्रमण सिद्धान्त, आर्य-द्रविड़ विवाद, भारत प्राचीनतम् राष्ट्र नहीं है, भारत की कोई ऐतिहासिक सामग्री नहीं है आदि जटिल समस्याओं पर, जिनसे आज भी इतिहास के विद्यार्थी के मन में भटकाव है, स्वामी विवेकानन्द के विचार तथ्य और तर्क के आधार पर मार्ग प्रशस्त करते हैं। पुस्तक की ये प्रारम्भिक ऐतिहासिक चर्चा इस छोटी-सी पुस्तक को विस्तार देती है।

1. सेवानिवृत्त प्रोफेसर, इतिहास-विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय; ई-मेल : prof.scmittal@gmail.com
2. शोध-सहायक, भारतीय-पुराण-अध्ययन-संस्थान, अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना, बाबा साहेब आपटे-स्मृति भवन, 'केशव-कुञ्ज', झण्डेवालान, नयी दिल्ली-110 055; सचलभाष : 09210312911, 09999405414; ई-मेल : ratneshgkp@gmail.com

लेखक ने स्वामी जी को मूलतः भारत का एक आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक युगपुरुष माना है, साथ ही पुस्तक में विभिन्न शीर्षकों के माध्यम से स्वामी जी की भारत की प्रति ऐतिहासिक दृष्टि को रेखांकित किया है। इतिहास की व्यापक परिभाषा के माध्यम से लेखक ने स्वामी जी की इतिहास-दृष्टि को स्पष्ट किया है। स्वामी विवेकानन्द कोई (पेशेवर) इतिहासकार नहीं थे, लेकिन उन्होंने उस समय के इतिहास-ग्रन्थों का पैना निरीक्षण किया। वस्तुतः उन्हें 'इतिहास-संशोधक' कहा जा सकता है। उन्होंने पेशेवर इतिहासकारों की धारा के विपरीत वेदादि भारतीय-ग्रन्थों को अपौरुषेय घोषित करते हुए उन्हें विश्व का प्राचीनतम वाङ्मय बताया। यहाँ तक कि विश्व धर्म संसद में भी उन्होंने वेदों की अपौरुषेयता पर विस्तार से प्रकाश डाला।

पाश्चात्य इतिहासकारों, यहाँ तक कि कुछ भारतीय-इतिहासकारों ने भी भारतीय-ग्रन्थों की ऐतिहासिक सामग्री के रूप में अनेदेखी की तथा वेदों और पुराणादि को नकारने का प्रयास किया। इस विषय पर पुस्तक में स्वामी जी तथा भगिनी निवेदिता के विचारों द्वारा ब्रिटिश-इतिहासकारों की कटु अलोचना निश्चित ही यह सोचने पर बाध्य करती है कि जब हमारे ज्ञान और इतिहास के स्रोत वेद, पुराणादि ग्रंथ साक्ष्य के रूप में उपलब्ध हैं तो हम उन्हें कपोल-कल्पित क्यों मानते हैं? विद्वान् लेखक ने स्वामी जी कि विचारों के माध्यम से इस विद्रूप स्थिति को सामने लाने का प्रयास किया है। 'अंग्रेजों द्वारा लिखित विकृत इतिहास से हमारा इतिहास विकृत नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह केवल भारत के पतन की कहानी कहता है'— स्वामी जी के इस वाक्य से इतिहास की वास्तविकता का परिचय लेखक ने बड़े ही सम्पूर्ण तरीके से कराया कराया है।

स्वामी विवेकानन्द भारतवर्ष के सम्भवतः पहले ऐसे विद्वान् थे, जिन्होंने अंग्रेजों की कूटनीति को समझकर उनके 'आर्य-आक्रमण-सिद्धान्त' का प्रबल विरोध किया। उस काल में, जब स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824-1883) एवं लोकमान्य बालगंगाधर तिलक (1856-1920)—जैसे वैदिक विद्वान् भी अंग्रेजों के झाँसे में आ गए थे, स्वामी जी ने बिना भ्रमित हुए भारत से लेकर यूरोप और अमेरिका तक का प्रवासकर इस विचारधारा का खण्डन किया।

'विश्व-राष्ट्रों में भारत' नामक शीर्षक के माध्यम से लेखक ने स्वामी जी के उन विचारों को रेखांकित किया है जिसमें भारत और यूरोप की तुलनात्मक स्थिति सामने आती है। 'जब यूनान का अस्तित्व नहीं था, रोम भविष्य के अन्धकार के गर्भ में छिपा हुआ था, तब आधुनिक यूरोपवासियों के पुरखे जंगलों में

रहते थे और अपने शरीरों को नीले रंग से रंगा करते थे। उस समय भी हर भारतीय सक्रिय था।' ठीक इसी स्थिति का वर्णन श्री सुन्दरलाल की प्रसिद्ध पुस्तक 'भारत में अंग्रेजी-राज' में भी मिलती है, जहाँ 17वीं शती के इंग्लिस्तान के शहरों के हालात को बयान करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार ड्रेपर लिखता है कि शहरवालों का बिछौना भूस का एक थैला होता था, तकिये की जगह लकड़ी का एक टुकड़ा होता था। जो शहरवाले खुशहाल थे, वे चमड़े के कपड़े पहनते थे जो गरीब थे वे अपने हाथ और पैर पर पुवाल की पुलिया लपेटकर अपने को सर्दी से बचाते थे। गरीबों के लिए वैद्य न थे। सफ़ाई का कोई इन्तज़ाम था ही नहीं। जिस तेजी के साथ बीमारी उन दिनों तमाम रूपों में फैली थी, उससे इस बात का साफ़ पता चलता है कि लोगों में दुराचार कितने भयंकर रूपों में फैला था। यदि हम उस समय के अंग्रेजी-लेखकों का विश्वास करें तो विवाहित या अविवाहित, ईसाई-पादरी या मामूली गृहस्थ, पोप लियो X से लेकर के गली के भिखमंगे तक— कोई वर्ग ऐसा नहीं था जो इस रोग से बचा हो। किसान अपनी ज़मीन का मालिक नहीं होता था। सारी कौम इतनी अनपढ़ थी कि पार्लियामेंट के हाउस ऑफ़ लार्ड्स के बहुत-से मेम्बर न पढ़ सकते थे न लिख सकते थे। ईसाई-पादरियों में भयंकर दुराचार फैला हुआ था। खुले तौर पर कहा जाता था कि इंग्लिस्तान में एक लाख ऐसी औरतें हैं जिन्हें पादरियों ने खराब कर रखा है।'

इसके विपरीत भारत के गौरव का सटीक वर्णन स्वामी जी के विचारों के माध्यम से प्रस्तुत करने की लेखक की यह कला इतिहास के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण परिदृश्य में दूरगामी प्रभाव छोड़ती है।

धर्मांतरण और विदेशी-कुसंस्कृतियों के विषय को उठाते हुए पुस्तक में स्वामी जी के विचारों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत किया गया है। 'उन्होंने मुहम्मद साहब को समानता का सन्देशवाहक कहा। परन्तु मुसलमानों को सर्वाधिक साम्प्रदायिक एवं संकीर्ण बतलाया।' ये पंक्तियाँ अत्यन्त ही विचारणीय हैं। साथ-ही-साथ स्वामी जी का प्रचलित वाक्य कि 'जब एक भी व्यक्ति हिंदू-धर्म से बाहर जाता है, तो उससे हमारा एक व्यक्ति ही कम नहीं होता, अपितु एक शत्रु भी बढ़ता है।'— धार्मिक विद्रूपता का दर्शन कराता है। अंग्रेजों के क्रूर अत्याचारों और षड्यन्त्रों का वर्णन भी शीर्षक के माध्यम से किया गया है। धार्मिक व सामाजिक सुधारों के स्वामी जी के प्रयासों को वर्णन, हिंदू धर्म और 'हिंदू' शब्द की परिभाषा इस पुस्तक को सम्पूर्णता प्रदान करनेवाली व हिंदू-समाज को प्राणवायु देनेवाली है।

स्त्रियों के सन्दर्भ में स्वामी जी के चिन्तन का संक्षिप्त विवरण देते हुए लेखक ने उनके विचारों से नारी-शक्ति के प्रबल रूप को स्पष्ट करने का अत्यन्त सफल प्रयास किया है। स्वामी जी ने भारतीय-समाजदर्शन का मूलाधार महिला की प्रतिष्ठा तथा उसे संस्कारों का सर्वोच्च स्थल बतलाया है। 'भारत में स्त्री-जीवन का आरम्भ और अंत मातृत्व में ही होता है, विश्व में 'माँ' नाम से पवित्र और कोई नाम नहीं होता'— इन विचारों के माध्यम से लेखक ने अतीत ही नहीं, बल्कि वर्तमान की दशा और नारी की दिशा को समझाने का सफल प्रयास किया है।

स्वामी जी द्वारा भारत के इतिहास को जानने का आह्वान तथा भारत की आत्मा 'धर्म' का वर्णन वर्तमान को नयी दिशा प्रदान करता है। स्वामी जी ने पाश्चात्य जगत् का उद्देश्य व्यक्तिगत स्वाधीनता, भाषा, अर्थकरी विद्या और आय राजनीति बतलाया। जबकि भारत का उद्देश्य मुक्ति, भाषा, वेद और उच्च त्याग बतलाया।

स्वामीजी की इस इतिहास-यात्रा का अन्तिम शीर्षक है 'राष्ट्र-प्रेरक स्वामी विवेकानन्द'। डॉ० मित्तल जी ने इस शीर्षक के माध्यम से स्वामीजी के जीवन के अल्पकाल की तूफानी कार्यावधि का प्रेरणादायी वर्णन विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से किया है। अन्त में उन्होंने स्वामी जी के बोधवाक्य और कठोपनिषद् का वह श्लोक, जिसे वह प्रायः कहा करते थे— '**उत्तिष्ठत जाग्रत**' लिखकर स्वामी जी के उद्देश्य और आदेश— दोनों का सम्पूर्ण दर्शन दे दिया है।

पुस्तक के एकमात्र परिशिष्ट में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक प०पू० श्री माधवराव सदाशिवराव गोळवळकर उपाख्य श्री गुरुजी का स्वामी जी के प्रति आदराञ्जलि दो युगों के मेल का चित्रण प्रस्तुत करती है।

स्वामी जी की इस इतिहास-दृष्टि के माध्यम से समाज में जनजागरण के उद्देश्य को पूर्ण करती यह पुस्तक कुछ बिन्दुओं से अछूती भी रही, जैसे कतिपय भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने प्राचीन भारत में गोमांस-भक्षण-संबंधी विषय पर स्वामीजी को निशाना बनाते हुए उन्हें गोमांस-भक्षण का समर्थक बताया है। वस्तुतः स्वयं गोमांस खाने-खिलानेवाले तथा इस भावना से प्रेरित तथाकथित विद्वानों ने स्वामी जी पर यह मिथ्या कलंक लगाया है। स्मरण रहे कि हिंदू-संस्कृति के परमोपासक स्वामी जी ने हिंदुत्व के मान-बिन्दुओं पर किसी भी प्रकार के प्रहार का सदैव ही कड़े शब्दों में प्रतिकार किया है। इसके अतिरिक्त विगत चार-पाँच दशकों से स्वामी जी के साहित्य में 'सेक्युलरिज़्म' के नाम पर काफी मिलावट की गई है और यथासम्भव उन्हें समन्वयवादी और

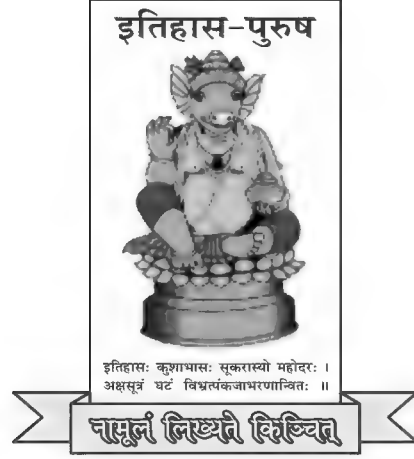
सेक्युलर दिखाया गया है— यह तथ्य भूलना नहीं चाहिये। इस विषय पर भी विद्वानों को अनुसन्धान के लिए आगे आना चाहिये।

चूँकि यह पुस्तक इतिहास पर केन्द्रित है, अतएव स्वामी जी शिकागो धर्म-संसद् में दिए व्याख्यान पुस्तक के परिशिष्ट में पूर्ण रूप से आने चाहिए थे।

अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक अपने लघु कलेवर के बाद भी 'गागर में सागर' वाली कहावत को चरितार्थ करती है। मनमोहक आवरण-पृष्ठ पर स्वामी जी का चित्र और भीतर उसका विस्तृत सन्दर्भ देना इस पुस्तक की प्रामाणिता को दर्शाता है। अन्तिम आवरण-पृष्ठ पर भी स्वामी जी का एक सुन्दर उद्धरण ससन्दर्भ दिया गया है। बहुत प्रयास के बाद भी इस पुस्तक में कमी खोजना वैसा ही है जैसे मोती से भरे सीप से यह शिकायत करना कि एक मोती और होता तो अच्छा होता।

—डॉ० रलेश कुमार त्रिपाठी





अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना नवम राष्ट्रीय अधिवेशन-समाचार



॥ नामूलं लिख्यते किञ्चित् ॥

अखिल भारतीय इतिहास संकलन योजना

नवम राष्ट्रीय अधिवेशन, ग्वालियर

आश्विन शुक्ल द्वादशी-चतुर्दशी, कलियुगाब्द 5114

दिनांक 26-28 अक्टूबर, 2012

‘भारतीय-राष्ट्रीयता : अतीत से वर्तमान तक’



अ

खिल भारतीय इतिहास संकलन योजना का नवम राष्ट्रीय अधिवेशन आश्विन शुक्ल चतुर्दशी, कलियुगाब्द 5114, तदनुसार दिनांक 28 अक्टूबर, 2012, रविवार को महाराणा प्रताप कॉलेज ऑफ

टेक्नोलॉजी, ग्वालियर में संपन्न हुआ। कार्यक्रम का शुभारम्भ दिनांक 26 अक्टूबर, 2012, शुक्रवार को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प०पू० सरसंघचालक डॉ० मोहनराव भागवत, मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री श्री शिवराज सिंह चौहान, योजना के राष्ट्रीय अध्यक्ष डॉ० शिवाजी सिंह, राष्ट्रीय कार्याध्यक्ष डॉ० सतीश चन्द्र मित्तल, राष्ट्रीय संगठन-सचिव श्री बालमुकुन्द पाण्डेय एवं जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर के कुलसचिव-सह-स्थानीय सचिव डॉ० आनन्द मिश्र ने दीप-प्रज्वलित करके किया।

डॉ० संतोष शुक्ल द्वारा संकल्प-वाचन के पश्चात् योजना के राष्ट्रीय संगठन-सचिव श्री बालमुकुन्द पाण्डेय ने मंचस्थ अतिथियों का परिचय एवं कार्यक्रम में देशभर से पधारे

अधिवेशन की प्रमुख झलकियाँ

- ★ 3-दिवसीय राष्ट्रीय अधिवेशन में देशभर के संगठन की दृष्टि से 35 में से 34 प्रान्तों से लगभग 1,200 इतिहासकारों ने भाग लिया। प्रतिनिधियों की संख्या के हिसाब से अबतक का सबसे बड़ा अधिवेशन
- ★ लगभग 700 इतिहासकारों ने शोध-पत्र वाचन हेतु अपने पंजीयन कराये।
- ★ कुल 417 शोध-पत्र आए, जो एक कीर्तिमान है।
- ★ शोध-पत्र वाचन हेतु 41 विषयों पर कुल 18 तकनीकी सत्र आयोजित किए गए, जिसमें 376 शोध-पत्रों का वाचन हुआ। इनमें 118 महिला एवं 258 पुरुष-प्रतिभागियों ने शोध-पत्र पढ़े।
- ★ योजना द्वारा आगामी वर्ष में स्वामी विवेकानन्द की 150वीं जयन्ती के उपलक्ष्य में देशभर में लगभग एक हजार संगोष्ठियाँ करने का निर्णय लिया गया।

प्रतिनिधियों का स्वागत किया।

तत्पश्चात् मंचस्थ अतिथियों द्वारा ‘लोकायतनम्’ (सं० डॉ० ठाकुर प्रसाद वर्मा), 2. ‘राष्ट्रीय चैतन्य के प्रकाश में भारत का स्वाधीनता संघर्ष’ (डॉ० सतीश चन्द्र मित्तल), 3. ‘विभूतिम्’ (सं० डॉ० ठाकुर प्रसाद वर्मा), 4. ‘युगयुगीन रायसेन’ एवं 5. ‘युगयुगीन देवास’ (डॉ० तेजसिंह सैधव) नामक कृतियों का विमोचन किया गया।

लोकार्पण-कार्यक्रम के पश्चात् योजना के राष्ट्रीय कार्याध्यक्ष डॉ० सतीश चन्द्र मित्तल ने अधिवेशन के केन्द्रीय विषय ‘भारतीय-राष्ट्रीयता : अतीत से वर्तमान तक’ का प्रतिपाद



(बीज-वक्तव्य) प्रस्तुत किया। श्री मित्तल ने कहा कि भारतवर्ष जगदातीत, स्वनिर्मित राष्ट्र है, जबकि विश्व के अनेक राष्ट्र बनाए गए हैं। यूरोपीय-चिन्तकों ने कहा कि युद्ध होगा तो राष्ट्र का निर्माण होगा; व्यापार होगा तो राष्ट्र का निर्माण होगा, जबकि भारत-राष्ट्र किसी युद्ध या व्यापार या सन्धि की उपज नहीं है। यह तो विश्व का प्राचीनतम राष्ट्र है। ऋग्वेद विश्व के पुस्तकालय का प्रथम ग्रन्थ है। इतिहास में रोम नगर की स्थापना 753 ई०पू० में हुई, ईसाइयत 23 अक्टूबर, 4004 ई०पू० को विश्वोत्पत्ति मानता है, जबकि भारतवर्ष का इतिहास इससे नितान्त प्राचीन और भिन्न है। भारतवर्ष को इन अर्वाचीन राष्ट्रों के साथ खड़ा करना हास्यास्पद है। उन्होंने ध्यान दिलाया कि स्वामी विवेकानन्द ने अन्य राष्ट्रों के साथ भारत की तुलना करने को ईश-निन्दा के समान पातक बताया है। श्री मित्तल ने बताया कि अंग्रेजों ने प्रचारित किया कि भारत कोई राष्ट्र ही नहीं है। अंग्रेजों ने कभी कहा कि यह तो उपमहाद्वीप है, कभी कहा कि यहाँ अनेक राष्ट्र हैं, कभी कहा कि यह राष्ट्र बन रहा है और कभी कहा कि यह तो 'ज्योग्राफिकल प्रेसर' है। कांग्रेस-संस्थापक ए०ओ० ह्यूम की भाँति कांग्रेस-नेताओं ने भी सुर-में-सुर मिलाकर भारतीय-संविधान के बारे में कहा कि 'इण्डिया डैट इज़ भारत'। पं० नेहरू ने देश का आधा-अधूरा भ्रमणकर 'डिस्कवरी ऑफ़ इण्डिया' लिख मारी। श्री मित्तल ने कहा कि भारतीय-इतिहास-लेखन में दो तत्त्व महत्वपूर्ण हैं- पहला, भौगोलिक एवं दूसरा सांस्कृतिक। 'राष्ट्र' शब्द सर्वप्रथम ऋग्वेद में प्राप्त होता है, जो सनातन काल से चला

आ रहा है। इसके अतिरिक्त पुराणों में, *रामायण*, *महाभारत* एवं कालिदास-वाङ्मय तक में मातृभूमि और मातृभक्ति की उदात्त कल्पना है। संघ के द्वितीय सरसंघचालक प०पू० श्री गुरुजी ने अपनी समूची श्रद्धा का केन्द्र मातृभूमि को बताया है। श्री मित्तल ने कहा कि सनातन धर्म रिलीज़न या मज़हब नहीं है। आज धर्म को राजनीति से अलग किया जा रहा है, जबकि हमारे यहाँ सदैव ही धर्म से राजनीति चली है, राजनीति से धर्म नहीं। धर्म को रिलीज़न मानने पर 'सेक्युलरिज़्म' का झगड़ा उत्पन्न होता है, जबकि धर्म का तात्पर्य है इयूटी (कर्तव्य)। जब हम कहते हैं कि यह मेरा कर्तव्य है, तो उसमें धर्म निहित होता है। उच्चतम न्यायालय ने भी इस परिभाषा को मान्य किया है। श्री मित्तल ने कहा कि आध्यात्मिकता भारतभूमि की संजीवनी-बूटी है। यह हिंदू-धर्म की शक्ति है। इसके बिना भारत प्राणहीन है। उन्होंने कहा कि यह देश ऋषि-मनीषियों का देश है। तुलसीदास, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य, शंकराचार्य, यामुनाचार्य, मध्वाचार्य, माधवाचार्य, नरसी मेहता, एकनाथ, गुरु नानक-जैसे अनेक सन्तों ने मध्यकाल के संकटपूर्ण समय में इस देश में सांस्कृतिक एकता की धारा प्रवाहित की है। इसी प्रकार इस देश में धर्म की रक्षा के लिए राजा दाहिर सेन से लेकर गुरु गोविन्द सिंह तक अनेक राजपुरुष समय-समय पर उत्पन्न हुए हैं, जिन्होंने अपना बलिदान देकर धर्म की रक्षा की है।

योजना के राष्ट्रीय अध्यक्ष प्रो० (डॉ०) शिवाजी सिंह ने अपने उद्बोधन में कहा कि योजना का राष्ट्रीय अधिवेशन प्रत्येक





तीन वर्ष के पश्चात् आयोजित होता है, जिसमें विगत वर्षों की गति-प्रगति पर विचारकर आगामी वर्षों के कार्यक्रमों का नियोजन करते हैं। उन्होंने कहा कि भारतीय-राष्ट्रीयता की भावना हमारे चित्त से संबंधित है, भाव-जगत् की वस्तु है। किसी समाज और किसी राष्ट्र का भी चित्त होता है। उसी चित्त का मूलभूत शब्द है चिति। इस चिति की व्याख्या पं० दीनदयाल उपाध्याय ने सन् 1964 में ग्वालियर में की थी। आज उसे स्मरण करना प्रासंगिक है। चित्त मन से भिन्न होता है। अंग्रेज़ी में उसके निकट 'साइको' शब्द मिलता है। हमारी चिति ही वह केन्द्र है, जहाँ से राष्ट्रीयता की भावना प्रारम्भ होती है। उन्होंने बताया कि इतिहास एक शक्ति भी है और इस शक्ति का प्रयोग हमारे हमारे विरोधियों ने हमपर बुरी तरह किया है। इन्होंने हमारे इतिहास को न केवल नष्ट किया, बल्कि हमारे चित्त को भी बिगाड़ने का यत्न किया। हमें इसी शक्ति का इस्तेमालकर ऐसे विरोधी तत्त्वों से निपटना होगा। उन्होंने ध्यान दिलाया कि सन् 1907 में तंजौर में चाणक्य-विरचित 'अर्थशास्त्र' ग्रन्थ की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई थी। उसके कुछ अंश

जब अंग्रेज़ी में अनुदित होकर प्रकाशित हुए, तो पूरे विश्व में तहलका मच गया था। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही पृथिवी और उसके वासी की सर्वोत्कृष्ट परिभाषा दी हुई है। उन्होंने कहा कि किसी भी देश का इतिहास वहाँ के रहनेवाले इतिहासकारों ने लिखा है। लेकिन भारत एक ऐसा देश है, जिसका इतिहास अंग्रेज़-लेखकों ने लिखा है जिनका भारत से दूर-दूर तक कोई नाता नहीं है।

प्रो० शिवाजी सिंह के उद्बोधन के पश्चात् प्रो० आनन्द मिश्र ने प०पू० सरसंघचालक जी एवं मा० शिवराज सिंह को प्रतीक-चिह्न (ग्वालियर के किले की प्रतिकृति) देकर सम्मानित किया।

उद्घाटन-सत्र की अध्यक्षता कर रहे मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री मा० शिवराज सिंह चौहान ने अपने ओजस्वी उद्बोधन में कहा कि भारत एक अत्यन्त प्राचीन और महान् राष्ट्र है। तथ्य यह बताते हैं कि ऋग्वेद कम-से-कम दस हजार वर्ष प्राचीन है।



परन्तु हम कौन थे, यह हम अपनी दृष्टि से नहीं, बल्कि अंग्रेजों की दृष्टि से देख रहे हैं। श्री चौहान ने बताया कि जब पाश्चात्य देशों में लोग पेड़ों की छाल लपेटते थे, उस समय हमारे देश में एक अत्यन्त विकसित सभ्यता और संस्कृति विद्यमान थी। जब वे राष्ट्र युद्धों में गुंथे थे, तब भारत ने सभी को 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का पाठ पढ़ाया। उन्होंने कहा कि भारत का इतिहास युद्धों, संघर्षों, राजा-रानियों का इतिहास नहीं है। हमारी संस्कृति ने सभी को एकसाथ मिल-जुलकर जीना सिखाया है। जीवन के लिए भौतिकवादी-चिन्तन से अधिक मानसिक शान्ति के चिन्तन की आवश्यकता है। उन्होंने जापान का उदाहरण देते हुए कहा कि विश्व के सबसे समृद्ध राष्ट्र में शुमार होने के बाद भी वहाँ आत्महत्या की दर सर्वाधिक है। इसलिए विश्व के कल्याण के लिए भारतीय-संस्कृति के प्रसार की महती आवश्यकता है। श्री चौहान ने कहा कि भारत में न केवल महान् ग्रन्थों की रचना हुई, बल्कि प्रकृति के गूढ़ रहस्यों को भी सर्वप्रथम यहीं खोजा गया। वैज्ञानिक-खोजों से भी अब इसकी प्रामाणिकता सिद्ध हो गई है।

गालव ऋषि की तपोभूमि ग्वालियर की धरती पर इतिहास-संकलन योजना के राष्ट्रीय अधिवेशन के रूप में हुई पहल का मुख्यमंत्री ने स्वागत किया। उन्होंने कहा कि मध्यप्रदेश में भारतीय-संस्कृति के उत्थान के लिए कारगर कदम उठाए गए हैं। इस दिशा में निज भाषा की उन्नति के लिए यहाँ हिंदी-विश्वविद्यालय खोला गया है, जिसमें चिकित्सा एवं अभियान्त्रिकी की पढ़ाई हिंदी में होगी। इसी तरह योग-शिक्षा को भी प्रदेश में अपनाया गया है। श्री चौहान ने कहा कि प्रदेश में कर्मप्रधान ग्रन्थ *भगवद्गीता* को भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जायेगा। उन्होंने यह भी कहा कि इस राष्ट्रीय संगोष्ठी में जो भी अच्छे निष्कर्ष निकलेंगे, उन्हें भी पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जायेगा।

उद्घाटन-सत्र के मुख्य अतिथि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के ७००० सरसंघचालक डॉ० मोहनराव भागवत ने कहा कि इतिहास-संकलन योजना के अधिवेशन में जो तथ्य सामने आएँ, उन्हें पत्रों पर संकलितकर जनता के सामने रखने का संकल्प लिया जाए। उन्होंने कहा कि अंग्रेजों ने भारत के इतिहास को अपनी तरह से जो तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत किया, उसी को सभी पढ़ रहे हैं। यह ठीक नहीं है। इसपर गम्भीरता से विचारकर भारत की समृद्धशाली परम्परा को आधार बनाकर इतिहास तैयार किया जाना चाहिए। ईसा पूर्व और इस्लाम के हज़ारों वर्ष पूर्व पूरी दुनिया में एक सुख का वातावरण था। पूरी दुनिया को चलानेवाली जो शक्ति थी, वह और कोई नहीं, बल्कि हमारी सनातन

हिंदू-संस्कृति थी। स्वयं श्रीअरविन्द ने भी लिखा था कि भगवान् भी चाहते हैं कि सनातन धर्म का उत्थान हो। भारत की पहचान हमारा सनातन धर्म है। राष्ट्रीयता के भाव को समझाते हुए उन्होंने कहा कि दुनिया में कोई देश ऐसा नहीं है, जिसकी राष्ट्रीयता को लेकर कोई संकुचित भाव हो। दुनिया में केवल भारत ही ऐसा देश है, जिसकी राष्ट्रीयता को लेकर सवाल किया जाता है। यदि हम संस्कृति को 'कल्चर' कहेंगे, धर्म को 'रिलीज़न' कहेंगे, तो वह भाव नहीं आएगा, जो भाव हमारी संस्कृति हमें बताना चाहती है। हमें अपनी आँखों, अपनी वाणी से भारत को समझना होगा। हमें अपने पुराणों और कथाओं को पढ़कर समझना होगा। उन्होंने कहा कि दुनिया में अन्य देश अपनी भाषा व संस्कृति को मज़बूत करने का सन्देश स्पष्ट रूप से देते हैं। उन्होंने ध्यान दिलाया कि भारत-यात्रा पर आई ऑस्ट्रेलियाई प्रधानमंत्री ने भी साफ़ कहा कि उनका देश ईसाइयत व अंग्रेज़ी-भाषा को माननेवाला है। यदि उनके देश में रहना है, तो ऑस्ट्रेलिया की धार्मिक, सांस्कृतिक व भाषाई परम्परा का सम्मान करना होगा। जो यह नहीं कर सकते, वे ऑस्ट्रेलिया छोड़कर जा सकते हैं। यह उनका अपने देश, संस्कृति व भाषा के प्रति गर्व व स्नेह को प्रदर्शित करता है। उन्होंने कहा कि जन-मन के डी-कालोनाइज़ेशन करने, यानि विदेशियों द्वारा थोपी गई मानसिकता को दूर करने की ज़रूरत है।

भारतीय-परम्परा एवं संस्कृति की विशेषता को उल्लिखित करते हुए उन्होंने कहा कि हमारी परम्परा कहती है कि मानव जीवन एकसाथ दुनिया के अनेक भागों में प्रारम्भ हुआ। उन्होंने कहा कि हमने सारी भूमि को समृद्ध करने का जो बीड़ा उठाया है, उसके लिए हमें किसी के सहारे की आवश्यकता नहीं है, बल्कि यह हमारी संस्कृति ने हमें सिखाया है। उन्होंने कहा कि विश्व में भारत ही एक ऐसा देश है जो अपनी राष्ट्रीयता से परिपूर्ण है। हम अपने इतिहास के भावों को जानें और उन्हें अपने शब्दों में व्यक्त करें, यह राष्ट्र के कल्याण के लिए आवश्यक है। हमारी संस्कृति दुनिया को सत्य के आधार पर जोड़ने की बात कहती है। हमारे महापुरुषों ने पीढ़ियों तक ये विचार बखूबी पहुँचाए हैं। श्री भागवत ने कहा कि सारी दुनिया पूर्णता की प्यासी है और हमारे भावों में इसका हल है। ईसा और मुहम्मद की परम्परा को माननेवाले कई लोग आज समझते हैं कि भारत ही उनके लिए सर्वाधिक सुरक्षित स्थान है। श्री भागवत ने ज़ोर देकर कहा कि सनातन धर्म ही हमारे देश की पहचान है। सुखी, सुन्दर देश बनाने के लिए सनातन धर्म का उत्थान होना चाहिए।

उद्घाटन-सत्र का संचालन प्रो० आनन्द मिश्र ने किया। सत्र का समापन श्री गुंजन अग्रवाल द्वारा राष्ट्रीय गीत वन्देमातरम्

के गायन के साथ हुआ। संगोष्ठी में ग्वालियर ज़िले के प्रभारी एवं लोक-स्वास्थ्य व परिवार-कल्याण मंत्री डॉ० नरोत्तम मिश्र, चिकित्सा-शिक्षामंत्री श्री अनूप मिश्रा, गृह-राज्यमंत्री श्री नारायण सिंह कुशवाहा, सांसद श्री नरेन्द्र सिंह तोमर, भाजपा के प्रदेश-अध्यक्ष श्री प्रभात झा, अखिल भारतीय साहित्य-परिषद् के राष्ट्रीय संगठन-मंत्री श्री श्रीधर पराडकर, 20-सूत्री कार्यक्रम के उपाध्यक्ष श्री जयभान सिंह पवैया, महापौर श्रीमती समीक्षा गुप्ता, श्रीमती यशोधरा राजे सिंधिया, श्रीमती माया सिंह, श्री कप्तान सिंह सोलंकी तथा बालेन्दु शुक्ल, आनन्द मेनन सहित अन्य जनप्रतिनिधिगण तथा देशभर से आए एक हजार से अधिक इतिहासकार उपस्थित थे।

अधिवेशन का दूसरा दिन तकनीकी सत्रों का रहा, जिसमें देशभर से आए प्रतिनिधियों द्वारा शोध-पत्रों का वाचन किया गया। अकादमिक सत्र 10 (श्रीअरविन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, लोकमान्य तिलक, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय आदि की दृष्टि में भारतीय-राष्ट्रवाद) के अंतर्गत कुल 26 शोध-पत्रों का वाचन हुआ। इस सत्र की अध्यक्षता डॉ० रेखा चतुर्वेदी ने की। मुख्य वक्ता डॉ० बी०डी० मिश्र और विषय-प्रवर्तक डॉ० अशोक कुमार पण्डा थे। सत्र 11 (विविध साहित्यों एवं हिंदी-साहित्य में राष्ट्रीय चेतना एवं राष्ट्रवादी दृष्टिकोण) के अंतर्गत 11 शोध-पत्रों का वाचन हुआ। इस सत्र की अध्यक्षता जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के डॉ० संतोष शुक्ल ने की। मुख्य वक्ता डॉ० रवीन्द्र श्रीवास्तव और विषय-प्रवर्तक डॉ० प्रज्ञा मिश्र थीं। सत्र 12 एवं 13 (राष्ट्र के प्रति कांग्रेस का दृष्टिकोण एवं महात्मा गाँधी का राष्ट्रीय आकलन) के अंतर्गत 21 शोध-पत्रों का वाचन हुआ। इस सत्र की अध्यक्षता डॉ० आनन्द शंकर सिंह ने की। मुख्य वक्ता डॉ० दिग्विजय सिंह मौर्य एवं विषय-प्रवर्तक डॉ० अलकेश चतुर्वेदी थे। मुक्त सत्र में कुल 42 शोध-पत्रों का वाचन हुआ। इस सत्र की अध्यक्षता डॉ० ईश्वरशरण विश्वकर्मा ने की। सात शोध-पत्रों का पावर-प्वाइंट पर प्रस्तुतिकरण हुआ। इस विशेष सत्र की अध्यक्षता प्रो० शिवाजी सिंह ने और विषय-प्रवर्तन डॉ० मिथिलेश श्रीवास्तव ने किया। अधिवेशन के तीसरे दिन भी कुछ शोध-पत्रों का वाचन हुआ।

शोध-पत्रों के वाचन के दौरान कई महत्वपूर्ण तथ्य उभरकर सामने आये। इतिहासकारों ने बताया कि अंग्रेजों ने भारतीय-साम्राज्य मुस्लिम-शासकों से नहीं, अपितु मराठा-पेशवाओं से हस्तगत किया था। इसी तरह बाबर और औरंगज़ेब राष्ट्रीय शासक नहीं थे, क्योंकि इन्होंने पूरे देश पर शासन नहीं किया था। तकनीकी सत्रों के दौरान योजना के राष्ट्रीय अध्यक्ष प्रो० शिवाजी सिंह ने बताया कि हमारा दुर्भाग्य है कि देश पर आक्रमण

करनेवालों के नामों का उल्लेख हमारे इतिहास में बढ़ा-चढ़ाकर किया गया, किन्तु इनका प्रतिकार करनेवाले और राष्ट्र की अस्मिता की रक्षा करनेवालों के नाम इतिहास के पन्नों से गायब हैं।

विभिन्न अकादमिक और तकनीकी सत्रों की संरचना में माखनलाल चतुर्वेदी पत्रकारिता विश्वविद्यालय के कुलाधिसचिव प्रो० रामदेव भारद्वाज, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉ० संतोष शुक्ल, प्रो० कुमार रत्नम्, महाराणा प्रताप महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ० प्रदीप कुमार राव, डॉ० रत्नेश त्रिपाठी एवं श्री गुंजन अग्रवाल की प्रमुख भूमिका रही।

राष्ट्रीय अधिवेशन के दूसरे दिन योजना की वार्षिक साधारण सभा की बैठक संपन्न हुई जिसमें योजना के महासचिव डॉ० शरद हेबाळकर ने पूर्व-कार्यवाही पढ़कर सदस्यों से पुष्टि प्राप्त की। तत्पश्चात् सभी क्षेत्रीय संगठन-सचिवों ने अपने-अपने क्षेत्रों का संक्षिप्त कार्य-वृत्त प्रस्तुत किया। योजना के राष्ट्रीय सह-कोषाध्यक्ष श्री अमित खरखड़ी ने गत वर्ष 2011-'12 का आर्थिक वृत्त प्रस्तुत किया। अन्त में योजना के अध्यक्ष प्रो० शिवाजी सिंह के आशीर्वाचन से साधारण सभा संपन्न हुई।

अधिवेशन के दूसरे दिन ही एक सामूहिक सत्र में इतिहास-संकलन योजना के मार्गदर्शक और 'सरस्वती मार्गदर्शक-मण्डल' के सदस्य मा० हरिभाऊ वझे ने 'सरस्वती' के 14 भाषाओं में चार स्तर की पुस्तकों के प्रकाशन तथा पूरे देश में वितरण की योजना पर चर्चा की। साथ ही, सरस्वती शोध-संस्थानों के द्वारा ओ०एन०जी०सी० के सहयोग से सैनिकों के लिए सरस्वती का जल कुओं के माध्यम से उपलब्ध कराने की योजना पर प्रकाश डाला। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के अखिल भारतीय कार्यकारिणी-सदस्य एवं योजना के मार्गदर्शक मा० मधुभाई कुलकर्णी ने स्वामी विवेकानन्द सार्द्ध-शती (150वीं जयन्ती) समारोह की योजनाओं पर विशद प्रकाश डाला तथा इस वर्ष देशभर के विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और स्कूलों में स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर केन्द्रित एक हजार संगोष्ठियाँ आयोजित करने के लिए मार्गदर्शन दिया। योजना के महासचिव डॉ० शरद हेबाळकर ने अबतक किए गए योजना के कार्य तथा राष्ट्रीय अधिवेशन के उद्देश्य और अनुवर्ती कार्यक्रमों पर विशेष चर्चा की तथा देशभर से आए हुए इतिहासकारों को वैचारिक संघर्ष में इतिहास-संकलन योजना के साथ अधिक शक्ति के साथ लगकर परिणामकारक कार्य करने का आह्वान किया तथा अतिथियों के प्रति आभार व्यक्त किया।

अधिवेशन के तीसरे दिन समापन-सत्र के मुख्य अतिथि



राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सह-संस्थापक मा० सुरेश सोनी ने कहा कि भारतीय-राष्ट्रीयता का अपना इतिहास है। उसका प्रभाव कम-ज्यादा हो सकता है, लेकिन उसकी धारा नहीं टूटी है। अतीत का अपना महत्त्व है। आज की जड़ें बीते हुए कल में हैं और वर्तमान समस्याओं का हल अतीत की जड़ों में है। अपने अतीत को जानना आज की और आनेवाली पीढ़ी के लिए आवश्यक है। श्री सोनी ने कहा कि अतीत से कटकर जीवन का प्रवाह नहीं होता है। जिस प्रकार नदी के मूल प्रवाह से छेड़-छाड़ करने पर नदी का अस्तित्व ही खत्म हो जाएगा, उसी तरह भारत के इतिहास में बदलाव भारत को भारत नहीं रहने देगा। भारत को भारत बनाना है तो भारत को समझना होगा। भारत का अपना अलग इतिहास है। हर भारतवासी को अपने चित्त में भारत के प्रति मान-सम्मान रखना होगा। उन्होंने कहा कि ज्ञानी लोग व्यर्थ में भी अर्थ निकाल लेते हैं। भारत के अतीत को समझे बिना भारत के निर्माण की कल्पना नहीं की जा सकती। इतिहास-संकलन योजना को इसके लिए बड़ी भूमिका निभानी है। वर्तमान समय में देश में जो प्रश्न चल रहे हैं, उसके सही उत्तर भी इतिहास-संकलन योजना को शोध को माध्यम से देने होंगे।

समापन-सत्र की अध्यक्षता कर रहे 'चाणक्य' व

‘उपनिषद् गंगा’ धारावाहिक के निर्देशक और प्रसिद्ध अभिनेता डॉ० चन्द्रप्रकाश द्विवेदी ने अपने उद्बोधन में कहा कि आज भारत का जितना भी इतिहास है, जो किताबों में शब्दों के रूप में दिखाई देता है, क्या उसे हम शिल्प में रूप में स्थापित कर सकते हैं? यदि ऐसा हुआ, तो हम अपनी आनेवाली पीढ़ी को प्रतिबिम्ब के रूप में अपनी कथाओं, युद्धों, रामायण और महाभारत के बारे में बहुत कुछ दे सकते हैं। उन्होंने कहा कि विदेशी-फिल्मों में अपनी सभ्यता के बारे में बहुत ही आकर्षक ढंग से दर्शाया जाता है, जबकि भारत में ऐसा नहीं होता, जबकि हमारे पास शब्दों में लिखे, पत्थरों पर उकेरे एवं भव्य वास्तुकला के नमूनों के रूप में इतिहास की बड़ी सामग्री है। उन्होंने कहा कि मन्दिरों, प्रासादों आदि के रूप में भारत के वैभवशाली इतिहास का दर्शन होता है। किन्तु अभी तक इतिहास का बिम्ब या चित्रों के रूप में समग्र संकलन नहीं हुआ है। यही कारण है कि इतिहास में तमाम ‘मिसिंग लिंक्स’ हैं। उन्होंने बताया कि भारत में कलाकारों से जब ऐतिहासिक फिल्मों में काम करने के लिए कहा जाता है, तो कई कलाकार ऐसी फिल्में करने से मना कर देते हैं।

इस अवसर पर मा० मधुभाई कुलकर्णी की भी गरिमामयी उपस्थिति रही।





अखिल भारतीय इतिहास-संकलन योजना के प्रत्येक राष्ट्रीय अधिवेशन में दिया जानेवाला 'राष्ट्रीय रातीघाटी पुरस्कार' वर्ष 2012 के लिए योजना के पूर्व राष्ट्रीय अध्यक्ष एवं विश्व-प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता और इतिहासकार प्रो० (डॉ०) ठाकुर प्रसाद जी वर्मा (पूर्व प्राध्यापक, प्राचीन भारतीय-इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग, काशी हिंदू-विश्वविद्यालय; पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार) को इतिहास एवं पुरातत्त्व के क्षेत्र में उनके उल्लेखनीय अवदान के लिए प्रदान किया गया। सम्मानस्वरूप उन्हें 5,100 रुपये, प्रशस्ति-पत्र एवं अंगवस्त्र भेंट किया गया। इस प्रतिष्ठित पुरस्कार का संबंध राजस्थान के रातीघाटी युद्ध से है।

समापन-समारोह में कार्यक्रम की 'स्मारिका' का विमोचन किया गया। इसके अतिरिक्त डॉ० भरत कालिता द्वारा लिखित 'मिलिट्री एक्टीविटीज़ इन मेडिएवल असम', सुरेश पाल शर्मा द्वारा लिखित 'महाशिला का कण', माता प्रसाद शुक्ल-विरचित

'ग्वालियर की गली, बाज़ार व मोहल्ले' तथा नरसिंह चारण पण्डा द्वारा लिखित 'पौराणिक इतिहास-विमर्श' नामक पुस्तकों का विमोचन किया गया।

इससे पूर्व प्रो० आनन्द मिश्र ने मंचस्थ अतिथियों का परिचय कराया। तत्पश्चात् योजना के राष्ट्रीय संगठन-सचिव मा० बालमुकुन्द पाण्डेय ने अखिल भारतीय इतिहास-संकलन योजना के इतिहास और देशभर में चल रही उसकी गतिविधियों पर विस्तार से प्रकाश डाला और अधिवेशन में देशभर से पधारे विद्वानों के प्रति आभार प्रकट किया। कार्यक्रम का समापन श्री गुंजन अग्रवाल द्वारा राष्ट्रीय गीत 'वन्देमातरम्' के गायन के साथ हुआ। कार्यक्रम का संचालन योजना के राष्ट्रीय सह-सचिव प्रो० (डॉ०) ईश्वरशरण विश्वकर्मा ने किया। इस अवसर पर माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं जनसंचार विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ० ब्रजकिशोर कुठियाला, सर्वश्री नरेन्द्र धाकरे, दीपक शर्मा, ओमप्रकाश सिसोदिया, यशवन्त इन्दापुरकर, भाजपा के





राष्ट्रीय महासचिव नरेन्द्र सिंह तोमर, भाजपा के प्रदेश-उपाध्यक्ष वेद प्रकाश शर्मा, चिकित्सा शिक्षा-मंत्री अनूप मिश्र, स्वास्थ्य-मंत्री नरोत्तम मिश्र सहित कई गणमान्य नागरिक उपस्थित थे।

भाव उत्पन्न करते हैं और संघर्षकाल के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

—डॉ० रत्नेश त्रिपाठी
गुंजन अग्रवाल

अधिवेशन के पश्चात् इतिहासकारों का समूह ग्वालियर के ऐतिहासिक स्थलों के भ्रमण पर निकला। घूमने के दौरान इतिहासकारों ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि ग्वालियर अत्यन्त ही समृद्ध विरासत को अपने आञ्चल में समेटे हुए है, लेकिन जिस तरह से संरक्षण के आभाव में प्राचीन स्मारक नष्ट हो रहे हैं, वह बहुत ही चिन्ता का विषय है। शनिचरा मन्दिर, बटेश्वर मन्दिर-समूह, मितावली और ग्वालियर के किले का दर्शनकर प्रो० शिवाजी सिंह ने विचार व्यक्त किया कि हम कितने समृद्ध थे, लेकिन स्वतन्त्रता के बाद राष्ट्रीय विचारों का लोप हो जाने से हम अपनी विरासत को संभाल नहीं सके। आज भी जब हम इन प्रतीकों को देखते हैं, तो गर्व से अभिभूत हो जाते हैं। लेकिन वर्तमान में इनका संरक्षण बहुत आवश्यक है।



इसी क्रम में मा० बालमुकुन्द ने कहा कि आज़ादी के बाद हमारे शासकों ने भारत की अस्मिता के विरासत को संभालने के बजाय उन प्रतीकों को संरक्षण प्रदान किया, जिसने निरन्तर हमें नीचा दिखाने का ही प्रयास किया, जबकि हमारी विरासत सबसे समृद्ध है। डॉ० रत्नेश त्रिपाठी ने भ्रमण के दौरान देशभर के विरासतों की तुलना करते हुए बताया कि आज हर उस स्मारक को नये रूप में दुनिया के सामने लाया जा रहा है, जो या तो मुगलकालीन हैं या गुलामी के प्रतीक हैं, लेकिन उन प्रतीकों को अपने हाल पर छोड़ दिया गया है, जो हमारे अन्दर राष्ट्रीयता के